प्रकाशक
रामकृष्ण शर्मा
हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली–६

o

o

प्रथम संस्करण
मार्च १९६१

o

मूल्य
१२.५० (बारह रुपये पचास नये पैसे)

o

आवरण
मलार्ट स्टूडियो

o

मुद्रक
भारत मुद्रणालय
[illegible]

समर्पण

वात्सल्यमयी स्वर्गीया माँ की पवित्र स्मृति में

भूमिका

श्री रामदीन गुप्त को मैं पिछले तीन वर्षों से जानता हूँ। सर्वप्रथम मेरे पास वे एक शोधार्थी के रूप में आए थे। शोधार्थी की सबसे बड़ी विशेषता और सबसे प्राथमिक आवश्यकता होती है—जिज्ञासा-वृत्ति। उसकी दुर्दम जिज्ञासा ही उसे अनुसंधान जैसे श्रम-साध्य विषय में प्रवृत्त करती है, मार्ग का श्रम-परिहार करती है और अथक रूप से गतिशील रहने को अनुप्रेरित करती है। प्रथम दर्शन में ही मैं इस सूक्ष्म काय-बुद्धि वाले नवयुवक से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। पता चला उनके पास 'प्रेमचन्द और गांधीवाद' नामक ग्रन्थ की पांडुलिपि तैयार है और बहुत शीघ्र ही वह पुस्तक रूप में दिल्ली से प्रकाशित होने वाली है। मेरी जिज्ञासा-वृत्ति ने भी जोर मारा और पढ़ने के बाद 'दो शब्द' लिखने के उनके आग्रह को टालने की न मेरी इच्छा हुई और न मैंने इसकी कोई आवश्यकता समझी।

'प्रेमचन्द और गांधीवाद' श्री गुप्त का प्रथम प्रयास है, किन्तु उसे बाल-प्रयास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किसी लेखक की प्रथम रचना पर विचार करते समय आलोचक के सामने उस रचना से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण विषय उस रचना के आधार पर भविष्य की संभावनाएँ होता है। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत ग्रन्थ को देखने पर हमारे सम्मुख गुप्तजी के आलोचक के उज्ज्वल तथा प्रौढ़ भविष्य की संभावनाएँ अत्यन्त स्पष्ट हो जाती हैं। प्रेमचन्द और गांधीवाद अपने आप में पर्याप्त जटिल विषय है। इस प्रकार के अध्ययन के लिए आलोचक को बहुज्ञ होना चाहिए। राजनीति और साहित्य पर समान अधिकार वाला ही इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकता है। मुझे यह देख कर बड़ा संतोष हुआ कि गुप्तजी ने साहित्य और राजनीति से संबद्ध विषयों का बड़ा ही सूक्ष्म एवं तटस्थ विवेचन किया है।

प्रेमचन्दजी अपने आप में एक युग थे। अपने समकालीन समाज के इतने संश्लिष्ट तथा अनाविल चित्र हमें बहुत कम साहित्यकारों ने प्रदान किए हैं। गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से प्रेमचन्द ने खूब (बल्कि बहुत खूब) लिखा है। प्रेमचन्द पर केवल गांधीवाद का ही प्रभाव नहीं पड़ा बल्कि क्रांतिकारी और समाजवादी विचार-धाराओं का भी प्रभाव उन पर पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इस संश्लिष्ट प्रभाव का विश्लेषण करना वास्तव में बड़ा कठिन तथा उत्तरदायित्वपूर्ण काम है। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि गांधीवाद भी अपने आप में एक व्यवस्थित वैज्ञानिक सिद्धान्त कम है, बुझौवल अधिक तो हमें लेखक की कठिनाई का यथार्थ ज्ञान होता है। प्रस्तुत

ग्रन्थ के लेखक की आलोचना बड़ी स्पष्ट तथा व्यवस्थित है। वस्तुतः आलोचना के लिए स्पष्टता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आलोचना मूलतः एक दृष्टिकोण है जो आलोच्य ग्रन्थ के सत्य से परिचित होने के लिए पाठक आलोचक से प्राप्त करता है। गुप्तजी की यह आलोचना प्रेमचन्द पर पड़ने वाले गांधीवाद के प्रभाव को इतना स्पष्ट कर देती है कि सामान्य पाठक भी उसे सरलता से हृदयंगम कर सकता है।

मैं श्री गुप्त का एक आलोचक के रूप में अभिनंदन करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे हिन्दी-आलोचना को अपनी प्रतिभा से लाभान्वित करते रहेंगे।

—डॉ० सरनामसिंह शर्मा

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी-विभाग,
राजस्थान कॉलेज, जयपुर।

प्राक्कथन

प्रेमचन्द के साहित्यकार की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सामाजिक जागरूकता है। इस सामाजिक जागरूकता ने उनके साहित्य को निर्माण का एक अद्भुत बल प्रदान किया है, और यही जागरूकता उन्हें हिंदी के साहित्यिकों में एक अनोखे वैशिष्ट्य से उपेत करती है। प्रेमचन्द की सर्वग्राही दृष्टि ने भारत की अंतरात्मा के रोम-रोम से साक्षात्कार किया था। यही कारण है कि उनके साहित्य का एक-एक शब्द भारत की कोटि-कोटि जनता के आत्म-रस से ओत-प्रोत है। कुछ संकीर्णमना आलोचक उनके साहित्य पर (अपने मन की संकीर्णता का आरोप करके) सामयिकता, देशीयता या सांप्रदायिकता का आरोप लगाते हैं, किन्तु ऐसा करके वस्तुतः वे निज की संकीर्णता और सांप्रदायिकता का ही परिचय देते हैं। इसमें किसी भी उदारचेता आलोचक को संदेह नहीं हो सकता कि भारत प्रेमचन्द की आत्मा में समा गया था। मानव-जीवन से संबद्ध तथाकथित शाश्वत प्रश्नों से जूझने का न उन्हें अवकाश था और न उनकी दृष्टि में इसकी कुछ आवश्यकता थी। देश के प्रत्येक स्पंदन से जब एक नवीन शक्तिशाली अभियान की ध्वनियाँ मुखरित हो रही हों तब देश की मनीषा का पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इन अस्पष्ट-अनिश्चित संकेतों को स्पष्ट-निश्चित दिशा प्रदान करे। इस पवित्र कर्त्तव्य तथा महान् उत्तरदायित्व की उपेक्षा करके जो अकर्मण्य साहित्यकार जीवन के शाश्वत प्रश्नों से उलझकर, अथवा मानव के उपचेतन-अवचेतन मन का पोस्टमार्टम करके, शाश्वत साहित्य रचने का दंभ करता है, उसकी इस आकाश-वृत्ति की निंदा एवं विरोध करना आलोचक का कर्त्तव्य हो जाता है। कोई भी लेखक राष्ट्रीय पहले होता है, अंतर्राष्ट्रीय बाद में; देशीय पहले और अन्तर्देशीय बाद में; सामयिक पहले और शाश्वत बाद में। अराष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय साहित्यकार पुंसत्वहीन तथा भावनाशून्य होता है, ऐसे साहित्यकार से स्वस्थ सृजन की आशा करना दुराशा है। प्रेमचन्द के साहित्य पर सामयिकता, देशीयता और सांप्रदायिकता आदि के आरोप लगा कर उनके साहित्य को अल्पजीवी होने का शुभाशीर्वाद देकर हिंदी के पंडे-पुरोहितों ने प्रेमचन्द के महत्त्व को कम नहीं, वल्कि अपनी बुद्धि के दिवाले का ही परिचय दिया है। प्रेमचन्द-साहित्य की अनुदिन वर्द्धमान माँग और महत्त्व इस तथ्य की प्रत्यायक हैं।

ऐसी बात नहीं है कि प्रेमचन्द के साहित्य में मानव-जीवन के शाश्वत प्रश्नों के विवेचन का अभाव हो। गांधीजी ने अपने दर्शन में मानव-जीवन के शाश्वत प्रश्नों की व्याख्या की है, किन्तु इसके कारण अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमों में कोई अंतर नहीं पड़ने दिया

है। इसी प्रकार प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में मानव-प्रकृति के शाश्वत तत्त्वों को स्थान तो दिया है, परन्तु उन्हीं में खोकर तत्कालीन ज्वलंत प्रश्नों से आँखें नहीं चुराई हैं। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि प्रेमचन्द के साहित्य पर गांधीजी के अध्यात्म-दर्शन की अपेक्षा उनके राष्ट्रीय कार्यक्रमों का ही अधिक प्रभाव पड़ा है। उनका समदिक् चेतना-संपन्न यथार्थवादी साहित्यकार गांधीजी के ऊर्ध्वोन्मुखी आदर्शवाद से विशेष समझौता नहीं कर पाया। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गांधीवाद की भी अपनी सीमाएँ हैं—क्योंकि प्रत्येक वाद की कुछ सीमाएँ होती हैं। इन सीमाओं से सशर्त समझौता संभव नहीं है, और बिना शर्त समझौता करना प्रेमचन्द के तेजस्वी कलाकार को स्वीकार्य नहीं था। केवल गांधीवाद ही नहीं, मानव-जीवन के शाश्वत प्रश्नों से संबद्ध समाजवाद, भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति-सभ्यता तथा अन्य इस प्रकार की विचार-धाराओं का प्रभाव भी प्रेमचन्द-साहित्य पर पड़ा है, जो इस बात का प्रमाण है कि प्रेमचन्द जीवन-पद्धति तथा जीवन-विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के प्रति उदासीन नहीं थे।

गांधीजी और प्रेमचन्द में एक भेद बड़ा मुखर और महत्त्वपूर्ण है। गांधीजी 'स्वराज्य' को एक अवस्था-मात्र मानते थे, वह उनका आत्यंतिक उद्देश्य नहीं था। स्वराज्य-प्राप्ति के अनंतर उनके मन में मानव-प्रकृति के शाश्वत विकारों के विरुद्ध एक संघर्ष छेड़ने की निश्चित योजना थी, और यह योजना राष्ट्रीय संघर्ष के दौरान में भी निर्मित तथा पुष्ट होती चल रही थी। इसी योजना के कारण वे हमारे राष्ट्रीय संघर्ष को एक अभूतपूर्व स्वरूप प्रदान करने में समर्थ हो सके थे। प्रेमचन्दजी का अंतिम उद्देश्य भी राष्ट्र-निर्माण ही था। यह नहीं कि वे अपने राष्ट्रवासियों के चरित्र से दुर्वृत्तियों के निरसन और सद्वृत्तियों के समावेश की ओर उदासीन थे अथवा दत्तचित्त नहीं थे, किन्तु प्रेमचन्द के दृष्टि-पथ में भारतवासी एक राष्ट्रवासी बनकर आता था, गांधीजी के दृष्टि-पथ में वह सामान्य मानव का प्रतिनिधि था। गांधीजी अधिक आत्मोन्मुखी और अन्त-र्मुखी थे, प्रेमचन्द अधिक समाजोन्मुखी और बहिर्मुखी थे। यह एक ऐसी सीमा-रेखा है जहाँ हम प्रेमचन्द और गांधीवाद में स्पष्ट रूप से अंतर कर सकते हैं।

प्रेमचन्द और गांधीजी का समकालीन और सहकर्मी होना एक संयोग भी माना जाय तो भी संयोग-संभव परिणामों की अवहेलना-उपेक्षा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। हिंदी-आलोचना कितनी अकिंचन है, इसका परिचय इसी बात से हो जाता है कि प्रेमचन्द पर पड़ने वाले गांधीवाद-सहित विभिन्न प्रभावों के समुचित अनुशीलन का कोई व्यवस्थित प्रयास आज तक हिंदी में नहीं हुआ है। गांधीजी के विराट् व्यक्तित्व ने भारत के किस कोने को प्रभावित नहीं किया? हमारी सभ्यता-संस्कृति, दर्शन-अध्यात्म, साहित्य-कला, समाज-राजनीति—सभी पर गांधीजी जैसे अपनी संकेतात्मक टिप्पणी देते चले गए हैं। अब समय आ गया है कि हम इस संकेतात्मक टिप्पणी को सार्थक व्याख्या प्रदान करें और देखें कि हमारे साहित्य को गांधीजी की क्या देन है? इसी उपेक्षित

दिशा में प्रस्तुत लेखक का यह एक विनम्र प्रयास है। यथासंभव बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रेमचन्द-साहित्य पर गांधीवाद के प्रभाव को रेखांकित करने के अपने उद्देश्य में यह लेखक कहाँ तक सफल हुआ है—यह बताना आलोचकों का काम है, और उनके काम में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का दुःसाहस मैं नहीं करूँगा।

मैं श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक और डॉ० विश्वम्भरनाथ भट्ट के प्रति हार्दिक कृतज्ञता का प्रकाशन अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता हूँ। कृतज्ञता यद्यपि एक सूक्ष्म मानसिक भाव है जो वाणी द्वारा अभिव्यक्त होकर अधिकतर औपचारिक धन्यवाद का स्थूल रूप ग्रहण कर लेता है, किन्तु अन्य किसी माध्यम के अभाव में वाणी का आश्रय आवश्यक हो जाता है। डॉ० नगेन्द्र और डॉ० स्नातक की प्रेरणा से ही पाँच वर्ष पूर्व मैंने 'प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव' विषय पर कार्य करना आरंभ किया था। अपने मूल रूप में यह निबंध डॉ० विश्वम्भरनाथ भट्ट के अधीक्षण में लिखा गया था। डॉ० भट्ट ने इस निबंध का ही नहीं, इसके लेखक के जीवन का भी मार्ग-दर्शन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में लेखक को डॉ० रामविलास शर्मा और बाबू जैनेन्द्र कुमार से भी अमूल्य सहायता और प्रेरणा मिली है। आगरे में डॉ० रामविलास से अपनी प्रथम भेंट को मैं जीवन-भर नहीं भूल सकूँगा। एक सर्वथा अपरिचित विद्यार्थी (जिसके पास कोई सिफारिशी चिट्ठी नहीं थी) से उनका मधुर, स्नेहसिक्त और आत्मीय व्यवहार क्या भुलाने की चीज है? हिंदी के साहित्यकारों में यह एक सर्वथा विरल बात है। बाबू जैनेन्द्र कुमार के पास मैं जब कभी अपनी शंकाएँ लेकर गया, उन्हें सहायता करने को तत्पर पाया है। स्वभाव से संकोचशील होने के कारण भूमिका, सम्मति आदि के लिए किसी के पास जाना मेरे लिए बहुत ही कठिन काम था। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ को देखने-पढ़ने के बाद जब श्रद्धेय डॉ० सरनामसिंह शर्मा ने भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया तो मैंने सचमुच एक राहत की साँस ली। डॉ० सरनामसिंह शर्मा की शिष्य-वत्सलता का मैं एकाधिक रूपों में परिचय पा चुका हूँ। अपने को मैं इस संबंध में बहुत ही भाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे सदैव अपने गुरुजनों की मुक्त कृपा और विश्वास मिला है। गुरुजनों की यह कृपा और विश्वास मुझे जीवन में सदैव आगे बढ़ने को प्रेरित करता रहा है और करता रहेगा।

सुहृद्वर कांतिमोहन शर्मा, रत्नलाल शर्मा और विष्णुचन्द्र शर्मा से मुझे इस ग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन में एकाधिक रूपों में सहायता और प्रेरणा मिली है। उनकी इस सहायता और प्रेरणा का मूल्य आँकना मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है। इन मित्रों के भरोसे और विश्वास के बल पर ही मैं इस कार्य को संपन्न करने में समर्थ हो सका हूँ। अतः उनके प्रति किसी प्रकार का आभार-प्रदर्शन करने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा।

प्रस्तुत पुस्तक की पाद-टिप्पणियों के लिए नोट्स तैयार करने में श्री ओमप्रकाश गुप्त और श्री बालकृष्ण शर्मा ने बहुत परिश्रम किया है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र

है। इसी प्रकार प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में मानव-प्रकृति के शाश्वत तत्त्वों को स्थान तो दिया है, परन्तु उन्हीं में खोकर तत्कालीन ज्वलंत प्रश्नों से आँखें नहीं चुराई हैं। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि प्रेमचन्द के साहित्य पर गांधीजी के अध्यात्म-दर्शन की अपेक्षा उनके राष्ट्रीय कार्यक्रमों का ही अधिक प्रभाव पड़ा है। उनका समदिक् चेतना-संपन्न यथार्थवादी साहित्यकार गांधीजी के ऊर्ध्वोन्मुखी आदर्शवाद से विशेष समझौता नहीं कर पाया। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गांधीवाद की भी अपनी सीमाएँ हैं—क्योंकि प्रत्येक वाद की कुछ सीमाएँ होती हैं। इन सीमाओं से सशर्त समझौता संभव नहीं है, और बिना शर्त समझौता करना प्रेमचन्द के तेजस्वी कलाकार को स्वीकार्य नहीं था। केवल गांधीवाद ही नहीं, मानव-जीवन के शाश्वत प्रश्नों से संबद्ध समाजवाद, भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति-सभ्यता तथा अन्य इस प्रकार की विचार-धाराओं का प्रभाव भी प्रेमचन्द-साहित्य पर पड़ा है, जो इस बात का प्रमाण है कि प्रेमचन्द जीवन-पद्धति तथा जीवन-विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के प्रति उदासीन नहीं थे।

गांधीजी और प्रेमचन्द में एक भेद बड़ा मुखर और महत्त्वपूर्ण है। गांधीजी 'स्वराज्य' को एक अवस्था-मात्र मानते थे, वह उनका आत्यंतिक उद्देश्य नहीं था। स्वराज्य-प्राप्ति के अनंतर उनके मन में मानव-प्रकृति के शाश्वत विकारों के विरुद्ध एक संघर्ष छेड़ने की निश्चित योजना थी, और यह योजना राष्ट्रीय संघर्ष के दौरान में भी निर्मित तथा पुष्ट होती चल रही थी। इसी योजना के कारण वे हमारे राष्ट्रीय संघर्ष को एक अभूतपूर्व स्वरूप प्रदान करने में समर्थ हो सके थे। प्रेमचन्दजी का अंतिम उद्देश्य भी राष्ट्र-निर्माण ही था। यह नहीं कि वे अपने राष्ट्रवासियों के चरित्र से दुर्वृत्तियों के निरसन और सद्वृत्तियों के समावेश की ओर उदासीन थे अथवा दत्तचित्त नहीं थे, किन्तु प्रेमचन्द के दृष्टि-पथ में भारतवासी एक राष्ट्रवासी बनकर आता था, गांधीजी के दृष्टि-पथ में वह सामान्य मानव का प्रतिनिधि था। गांधीजी अधिक आत्मोन्मुखी और अन्तर्मुखी थे, प्रेमचन्द अधिक समाजोन्मुखी और बहिर्मुखी थे। यह एक ऐसी सीमा-रेखा है जहाँ हम प्रेमचन्द और गांधीवाद में स्पष्ट रूप से अंतर कर सकते हैं।

प्रेमचन्द और गांधीजी का समकालीन और सहकर्मी होना एक संयोग भी माना जाय तो भी संयोग-संभव परिणामों की अवहेलना-उपेक्षा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। हिंदी-आलोचना कितनी अकिंचन है, इसका परिचय इसी बात से हो जाता है कि प्रेमचन्द पर पड़ने वाले गांधीवाद-सहित विभिन्न प्रभावों के समुचित अनुशीलन का कोई व्यवस्थित प्रयास आज तक हिंदी में नहीं हुआ है। गांधीजी के विराट् व्यक्तित्व ने भारत के किस कोने को प्रभावित नहीं किया? हमारी सभ्यता-संस्कृति, दर्शन-अध्यात्म, साहित्य-कला, समाज-राजनीति—सभी पर गांधीजी जैसे अपनी संकेतात्मक टिप्पणी देते चले गए हैं। अब समय आ गया है कि हम इस संकेतात्मक टिप्पणी को सार्थक व्याख्या प्रदान करें और देखें कि हमारे साहित्य को गांधीजी की क्या देन है? इसी उपेक्षित

दिशा में प्रस्तुत लेखक का यह एक विनम्र प्रयास है। यथासंभव बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रेमचन्द-साहित्य पर गांधीवाद के प्रभाव को रेखांकित करने के अपने उद्देश्य में यह लेखक कहाँ तक सफल हुआ है—यह बताना आलोचकों का काम है, और उनके काम में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का दुःसाहस मैं नहीं करूँगा।

मैं श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक और डॉ० विश्वम्भरनाथ भट्ट के प्रति हार्दिक कृतज्ञता का प्रकाशन अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता हूँ। कृतज्ञता यद्यपि एक सूक्ष्म मानसिक भाव है जो वाणी द्वारा अभिव्यक्त होकर अधिकतर औपचारिक धन्यवाद का स्थूल रूप ग्रहण कर लेता है, किन्तु अन्य किसी माध्यम के अभाव में वाणी का आश्रय आवश्यक हो जाता है। डॉ० नगेन्द्र और डॉ० स्नातक की प्रेरणा से ही पाँच वर्ष पूर्व मैंने 'प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव' विषय पर कार्य करना आरंभ किया था। अपने मूल रूप में यह निबंध डॉ० विश्वम्भरनाथ भट्ट के अधीक्षण में लिखा गया था। डॉ० भट्ट ने इस निबंध का ही नहीं, इसके लेखक के जीवन का भी मार्ग-दर्शन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में लेखक को डॉ० रामविलास शर्मा और बाबू जैनेन्द्र कुमार से भी अमूल्य सहायता और प्रेरणा मिली है। आगरे में डॉ० रामविलास से अपनी प्रथम भेंट को मैं जीवन-भर नहीं भूल सकूँगा। एक सर्वथा अपरिचित विद्यार्थी (जिसके पास कोई सिफारिशी चिट्ठी नहीं थी) से उनका मधुर, स्नेहसिक्त और आत्मीय व्यवहार क्या भुलाने की चीज है? हिंदी के साहित्यकारों में यह एक सर्वथा विरल बात है। बाबू जैनेन्द्र कुमार के पास मैं जब कभी अपनी शंकाएँ लेकर गया, उन्हें सहायता करने को तत्पर पाया है। स्वभाव से संकोचशील होने के कारण भूमिका, सम्मति आदि के लिए किसी के पास जाना मेरे लिए बहुत ही कठिन काम था। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ को देखने-पढ़ने के बाद जब श्रद्धेय डॉ० सरनामसिंह शर्मा ने भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया तो मैंने सचमुच एक राहत की साँस ली। डॉ० सरनामसिंह शर्मा की शिष्य-वत्सलता का मैं एकाधिक रूपों में परिचय पा चुका हूँ। अपने को मैं इस संबंध में बहुत ही भाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे सदैव अपने गुरुजनों की मुक्त कृपा और विश्वास मिला है। गुरुजनों की यह कृपा और विश्वास मुझे जीवन में सदैव आगे बढ़ने को प्रेरित करता रहा है और करता रहेगा।

सुहृद्वर कांतिमोहन शर्मा, रत्नलाल शर्मा और विष्णुचन्द्र शर्मा से मुझे इस ग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन में एकाधिक रूपों में सहायता और प्रेरणा मिली है। उनकी इस सहायता और प्रेरणा का मूल्य आँकना मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है। इन मित्रों के भरोसे और विश्वास के बल पर ही मैं इस कार्य को संपन्न करने में समर्थ हो सका हूँ। अतः उनके प्रति किसी प्रकार का आभार-प्रदर्शन करने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा।

प्रस्तुत पुस्तक की पाद-टिप्पणियों के लिए नोट्स तैयार करने में श्री ओमप्रकाश गुप्त और श्री बालकृष्ण शर्मा ने बहुत परिश्रम किया है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र

हैं। मारवाड़ी पुस्तकालय के श्री कल्याणसहाय पारीख का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने 'हंस' की पुरानी फाइलें जुटाने में मेरी बहुत सहायता की है। भारत मुद्रणालय के प्रबन्धक और कार्यकर्ता भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक के छापने में बहुत लगन से काम किया है। श्री रामकृष्ण शर्मा, संचालक, हिन्दी साहित्य संसार ने पुस्तक को बहुत ही उत्साह और मनोयोग के साथ प्रकाशित किया है, एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं। इत्यलम्

४०९६ नया बाजार, दिल्ली-६
१५ मार्च, १९६१

—रामदीन गुप्त

विषयानुक्रमणिका

●

: १ :

विषय-प्रवेश

इसे हिन्दी-उपन्यास का सौभाग्य ही कहना चाहिए कि उसे अपने शैशवकाल में ही प्रेमचन्द-जैसा महाप्राण व्यक्तित्व, सामाजिक चेतना-सम्पन्न साहित्यकार और समर्थ लेखक प्राप्त हो गया। प्रेमचन्द के आविर्भाव से पूर्व हिन्दी-उपन्यास अपनी किशोर-सुलभ मनोवृत्ति के अनुकूल ऐयारों और जासूसों के ऐन्द्रजालिक और साहसिक कृत्यों से मन बहलाने एवं अपनी कुतूहलवृत्ति तथा चमत्कार-प्रियता को शान्त करने की चेष्टा में संलग्न था। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' (१८८२ ई०)[1] के प्र .शन-काल से लेकर 'सेवासदन' (१९१४-१८ ई०)[2] के प्रकाशित होने तक हिन्दी-उपन्यास में प्रचुर परिमाण में वृद्धि हुई ; पर उसे एक जीवन्त व्यक्तित्व, साहित्यिक गरिमा और सामाजिक चेतना प्रदान करने तथा ऐयारों के झोले, लखलखे और 'खुल जा सिमसिम' के कल्पना-लोक से निकालकर सामाजिक यथार्थ की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है। तिलस्मी-ऐयारी और जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचन्द से पूर्व जो सामाजिक उपन्यास लिखे भी गए; वे नीति-उपदेश के प्रत्यक्ष चित्रण से बोझिल, अतएव यान्त्रिक तथा रूढ़िग्रस्त थे। शुष्क उपदेशप्रद सूक्तियों और शिक्षाप्रद संवादों की भरमार और पात्रों के अमनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के कारण ये उपन्यास उस युग के पाठकों को भी अधिक आकर्षित नहीं कर सके। सामाजिक समस्याओं का चित्रण भी इन उपन्यासों में अधिकतर परंपराभुक्त और सामाजिक यथार्थ से कोसों दूर है।[3] प्रेमचन्द ने हिन्दी-उपन्यास को नवीन विषय-वस्तु और नवीन पात्र ही नहीं दिए अपितु एक नवीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना और एक नवीन यथार्थवादी शैली भी दी।

---

१. हिन्दी उपन्यास : शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० २७ (वाराणसी, सं० २०१६)

२. वही, पृ० ७९

३. "उस युग में जो सामाजिक उपन्यास लिखे गए उनका उद्देश्य उपदेश देकर समाज-सुधार करना था। ×××××××× प्रारम्भिक युग के लेखकों ने अधिकतर नीति-उपदेश-प्रधान उपन्यास लिखे जिनमें आदर्श विद्यार्थी कैसा हो, आदर्श गृहिणी के क्या गुण हैं, आदर्श मित्र कैसा होना चाहिए, हिन्दुत्व के क्या आदर्श हैं, चरित्र-बल में कितनी शक्ति है, सत्यपालन की क्या महत्ता है, जुआखोरी, मद्यपान एवं कुसंगति से क्या हानियाँ होती हैं—प्रायः इन्हीं के प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया। ×××××× इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के पूर्व तक हिन्दी में जो सामाजिक उपन्यास लिखे गए उनमें समाज के वास्तविक स्वरूप एवं उसकी गंभीर समस्याओं के यथार्थ चित्रण का प्रयास नहीं के बराबर है।"

—वही, पृ० २३-२४

प्रेमचन्द को स्वर्गस्थ हुए आज लगभग चौबीस वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इस बीच हिन्दी-उपन्यास ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। किन्तु क्या हम उसकी इस विकास-यात्रा को सन्तोषप्रद कह सकते हैं ? यह पहला प्रश्न है ! क्या वह प्रेमचन्द की सीमारेखा को लाँघकर उसके आगे चला गया है ? यह दूसरा प्रश्न है ! क्या उसने प्रेमचन्द की मानववादी परंपरा को आगे बढ़ाया है ? यह तीसरा बड़ा प्रश्न है ! 'टेकनीक' की दृष्टि से प्रेमचन्दोत्तर-उपन्यास में वे सब खूबियां हैं जो किसी प्रथम कोटि के उपन्यास-साहित्य में अनिवार्यतः होनी चाहिए। पर शिल्पगत विविध प्रयोग प्रेमचन्दोत्तर-उपन्यासकार की जहाँ सबसे बड़ी विशेषता है वहाँ उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी है। दुर्बलता इसलिए कि शिल्पगत नवीन प्रयोगों को उसने मानवीय संवेदना, सामाजिक यथार्थ और जीवन का स्थानापन्न मान लिया है—जो स्पष्टतः किसी भी साहित्य के लिए घातक है। केवल शिल्प को किसी साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी नहीं माना जा सकता। जीवन के प्रति विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण, तथाकथित गहन दार्शनिक सत्यों की छानबीन, मन के अज्ञात रहःप्रदेशों में निरन्तर उठनेवाले आँधी-तूफानों का विशद अभिव्यंजन, राजनीति से दूर तथा तटस्थ रहकर तथाकथित शाश्वत और चिरन्तन सत्यों का चित्रण, वैविध्यपूर्ण 'टेकनीक' जैसी विशेषताओं का धनी होते हुए भी प्रेमचन्दोत्तर-उपन्यास प्रेमचन्द की गौरवपूर्ण महान् परंपरा को आगे विकसित नहीं कर सका है। **'स्वस्थ सामाजिक चेतना की कमी और कला के क्षेत्र में अतिरिक्त बौद्धिकता और विज्ञान का आगमन'** ही इसका एकमात्र कारण है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि **'इन कमियों और ज्यादतियों'** को दूर करके ही **'हम हिन्दी उपन्यासों को प्रेमचन्द की गौरवपूर्ण परंपरा का सच्चा उत्तराधिकारी बना सकेंगे'**।[1]

'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'शेखर: एक जीवनी', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'गिरती दीवारें', 'बलचनमा', 'मैला आँचल', 'परती:परिकथा', 'बूंद और समुद्र', 'सागर लहरें और मनुष्य', 'जहाज का पंछी', 'दिव्या', 'वैशाली की नगरवधू', 'चित्रलेखा', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा,' 'बहती गंगा', 'चांदनी के खंडहर', 'उखड़े हुए लोग', 'कब तक पुकारूँ', 'झूठा सच' इत्यादि प्रेमचन्दोत्तर-उपन्यास की विकास-यात्रा की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं, जिन पर किसी भी साहित्य को गौरव तथा सन्तोष हो सकता है। किन्तु फिर भी स्यात् यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेमचन्दोत्तर-उपन्यास प्रेमचन्द की सीमारेखा को लाँघकर उसके आगे चला गया है।[2] हम श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के इस मत से पूरी तरह

---

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १७६

२. (क) "............ नये साहित्य में प्रेमचन्द की श्रेणी का उपन्यासकार अब तक उत्पन्न नहीं हुआ।" —नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १८०

× × ×

(ख) "The novel as an artistic form has made great strides since Premchand, but for their wide humanity and appeal his novels

सहमत हैं कि जिस प्रकार डी० एच० लारेंस या मार्सेल प्रूस्ट जैसे पश्चिम के विशिष्ट औपन्यासिकों को टालसटाय या गोर्की के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, उसी प्रकार जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और अश्क जैसे प्रेमचन्दोत्तर काल के विभूतिमान उपन्यासकारों और प्रथम श्रेणी के कलाकारों को भी प्रेमचन्द की जनवादी अतः मानवतावादी (आचार्य वाजपेयी का यह मत बहुत महत्त्वपूर्ण है कि आज की स्थिति में जो लेखक जनवादी नहीं है, वह मानवतावादी भी नहीं है!) महान् परंपरा में नहीं रखा जा सकता; क्योंकि इनकी रचनाएँ 'जनजीवन के महान् स्रोतों से अभिषिक्त और परिप्लावित' नहीं हैं।[१]

प्रेमचन्द-आलोचना : संक्षिप्त परिचय और पर्यालोचन

प्रेमचन्द हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार और कहानीकार रहे हैं और संभवतः आज भी उनकी लोकप्रियता की सीमा को अन्य कोई कथाकार नहीं लाँघ सका है। स्वभावतः उन पर बहुत बड़ी संख्या में आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी गई और प्रकाशित हुई हैं। आधुनिक युग के किसी भी साहित्यकार पर संभवतः इतना नहीं लिखा गया है जितना प्रेमचन्द पर। सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में भी केवल तुलसी, सूर और कबीर ही इस विषय में प्रेमचन्द के प्रतिद्वन्द्वी होने का दावा कर सकते हैं। हम समझते हैं कि इसका एक कारण विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रेमचन्द के उपन्यासों का बहुत बड़ी संख्या में पढ़ाया जाना है। (हिन्दी-आलोचना का यह दुर्भाग्य है कि यहाँ पर केवल उन्हीं साहित्यकारों या कवियों की समालोचना लिखी जाती है जो स्कूल-कॉलेजों में पढ़ाए जाते हैं!) हिन्दी का एक-आध आलोचक ही ऐसा होगा जिसने प्रेमचन्द पर कुछ-न-कुछ न लिखा हो। अब तक कम-से-कम तीन-चार विद्वान् तो प्रेमचन्द पर शोध-प्रबन्ध लिखकर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। लेकिन क्या यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द पर अभी तक जो कुछ लिखा गया है वह सन्तोषप्रद और उनके महत्त्व के अनुरूप है? शायद नहीं; क्योंकि उसमें से अधिकांश परीक्षार्थियों के लिए ही लिखा गया है।

प्रेमचन्द-संबन्धी आलोचनात्मक सामग्री को अध्ययन की सुविधा के लिए साधारणतया ग्यारह वर्गों में विभक्त किया जा सकता है:

१. प्रेमचन्द के जीवन पर लिखित ग्रन्थ—

(क) 'प्रेमचन्द : घर में': शिवरानी देवी प्रेमचन्द

२. प्रेमचन्द के साहित्य पर लिखित आलोचनात्मक ग्रन्थ—

(क) 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन': डॉ० राजेश्वर गुरु

(ख) 'प्रेमचन्द : एक विवेचन': डॉ० इन्द्रनाथ मदान

---

still have to be surpassed." (S.H. Vatsyayan)

—Contemporary Indian Literature, P. 87 (Second Edition, 1959)

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २१८–२१९

(ग) 'प्रेमचन्द: जीवन और कृतित्व': हंसराज 'रहबर'
(घ) 'प्रेमचन्द: आलोचनात्मक परिचय' : डॉ० रामविलास शर्मा
(ङ) 'प्रेमचन्द और उनका युग' : डॉ० रामविलास शर्मा
(च) 'कथाकार प्रेमचन्द' : मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्मा
(छ) 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' : नन्ददुलारे वाजपेयी
(ज) 'प्रेमचन्द' : डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित
(झ) 'प्रेमचन्द और उनकी साहित्य-साधना' . डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
(ञ) 'प्रेमचन्द' : डॉ० रामरतन भटनागर
(ट) 'कलाकार प्रेमचन्द' : डॉ० रामरतन भटनागर
(ठ) 'प्रेमचन्द' : मदनगोपाल (अंग्रेजी में)

३. उपन्यासकार प्रेमचन्द पर लिखित ग्रन्थ—

(क) 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' : प्रो० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'
(ख) 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द' : डॉ० महेन्द्र भटनागर
(ग) 'प्रेमचन्द : उपन्यास और शिल्प' : हरस्वरूप माथुर

४. कहानीकार प्रेमचन्द पर लिखित ग्रन्थ—

(क) 'कहानी-कला और प्रेमचन्द' : श्रीपति शर्मा
(ख) 'प्रेमचन्द : उनकी कहानी-कला' : डॉ० सत्येन्द्र

५. प्रेमचन्द के विशिष्ट उपन्यासों के परीक्षोपयोगी अध्ययन—

(क) 'प्रेमचन्द और कर्मभूमि' : रामवशिष्ट
(ख) 'प्रेमचन्द और गोदान' : रामवशिष्ट
(ग) 'कर्मभूमि : एक अध्ययन' : प्रतापनारायण टंडन
(घ) 'कर्मभूमि समीक्षा' : हरस्वरूप माथुर
(ङ) 'गबन : एक अध्ययन' : प्रेमनारायण टंडन
(च) 'गोदान : एक अध्ययन' : प्रेमनारायण टंडन
(छ) 'निर्मला : एक अध्ययन' : प्रेमनारायण टंडन
(ज) 'प्रेमाश्रम : एक अध्ययन' : प्रेमनारायण टंडन
(झ) 'प्रेमचन्द और उनका गोदान' : बल्देव कृष्ण
(ञ) 'सेवासदन : एक अध्ययन' : रामखिलावन पाण्डेय
(ट) 'प्रेमचन्द : गबन' : नारायणदास खन्ना

विशेष:—कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सूची केवल उदाहरणात्मक ही है, सम्पूर्ण नहीं।

६. प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य पर विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गए स्वतन्त्र

लेखों के संग्रह—

(क) 'प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला' : सं० प्रेमनारायण टंडन

(ख) 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' : सं० डॉ० इन्द्रनाथ मदान

(ग) 'प्रेमचन्द और गोर्की' : सं० शचीरानी गुर्टू

(घ) 'प्रेमचन्द स्मृति' : चयन—अमृतराय

७. प्रेमचन्द की विचारधारा के किसी एक पक्ष पर लिखित ग्रन्थ—

(क) 'शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द' : अमृतराय

(ख) 'प्रेमचन्द और ग्राम-समस्या' : प्रेमनारायण टंडन

८. हिन्दी-उपन्यास और कहानियों पर लिखित ग्रन्थों में प्रेमचन्द की आलोचना—

(क) 'हिन्दी-उपन्यास' : शिवनारायण श्रीवास्तव

(ख) 'हिन्दी-उपन्यास और यथार्थवाद' : त्रिभुवनसिंह

(ग) 'आधुनिक कथा-साहित्य तथा मनोविज्ञान' : डॉ० देवराज उपाध्याय

(घ) 'हिन्दी-उपन्यास-साहित्य' : ब्रजरत्नदास

(ङ) 'हिन्दी-उपन्यास में वर्ग-भावना' : प्रतापनारायण टंडन

(च) 'हिन्दी-उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास' : डॉ० प्रेमनारायण टंडन

(छ) 'हिन्दी कथा-साहित्य' : पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(ज) 'हिन्दी-कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

(झ) 'हिन्दी कथा-साहित्य' : गंगाप्रसाद पांडेय

(ञ) 'हिन्दी-कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन' : डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा

९. स्वतन्त्र लेख, रिव्यू, भूमिका आदि—

(क) नन्ददुलारे वाजपेयी : 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी'

(ख) रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' : 'समाज और साहित्य'

(ग) अमृतराय : 'नयी समीक्षा'

(घ) मन्मथनाथ गुप्त : [अ] 'प्रगतिवाद की रूपरेखा'
[आ] 'साहित्यकला-समीक्षा'

(ङ) विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'हिन्दी का सामयिक साहित्य'

(च) पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : 'शिलीमुखी'

(छ) कालिदास कपूर : 'साहित्य-समीक्षा'

(ज) विद्यानिवास मिश्र : 'प्रेमचन्द के 'निर्मला' उपन्यास की भूमिका

(झ) डॉ० रामविलास शर्मा : 'प्रेमचन्द एण्ड गांधीइज़्म' ('इंडियन लिट्रेचर' पत्रिका में)

(ञ) इलाचन्द्र जोशी : [अ] 'विश्लेषण'
[आ] 'विवेचना'

(ट) चन्द्रबलीसिंह : 'लोक-दृष्टि और हिन्दी साहित्य'

(ठ) डॉ० प्रेमनारायण टंडन : 'हिन्दी साहित्य : कुछ विचार'

(ड) डॉ० इन्द्रनाथ मदान : 'हिन्दी कलाकार'

(ढ) प्रकाशचन्द्र गुप्त : [अ] 'नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका'
[आ] 'आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि'
[इ] 'साहित्य-धारा'

(ण) हंसकुमार तिवारी : 'साहित्यिका'

(त) डॉ० नगेन्द्र : [अ] 'विचार और अनुभूति'
[आ] 'विचार और विवेचन'

(थ) प्रो० श्रीमती गीतालाल : 'प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी भ्रान्तियां' ("साहित्य") पत्रिका में

विशेष :—उक्त लेखों के अतिरिक्त भी प्रेमचन्द पर अनेक स्थायी या अस्थायी महत्त्व के लेख, रिव्यू आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे हुए हैं। यहाँ पर उनका उल्लेख संभव नहीं है।

१०. विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के प्रेमचन्द-विशेषांक—

(क) 'हंस' : प्रेमचन्द-स्मृति अंक, मई १९३७

(ख) 'आजकल' : प्रेमचन्द अंक, अक्टूबर १९५२

(ग) 'जमाना' : प्रेमचन्द नम्बर, १९३७

विशेष :—डॉ० राजेश्वर गुरु ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन' में 'विश्वमित्र' के प्रेमचन्द अंक का भी उल्लेख किया है, यद्यपि उन्होंने यह सूचित नहीं किया है कि यह अंक कब निकला था।—('प्रेमचन्द : एक अध्ययन', पृष्ठ २८२)

११. विविध इतिहास ग्रन्थों में—

प्रेमचन्द पर हिन्दी और अंग्रेजी में उपलब्ध आलोचनात्मक सामग्री का यह वर्गीकरण सम्पूर्ण तो है ही नहीं, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से मुक्त भी नहीं है। हिन्दी-आलोचना के लिए यह गर्व का विषय नहीं हो सकता कि प्रेमचन्द पर अब तक प्रकाशित आलोचनात्मक पुस्तकों और लेखों में से लगभग तीन चौथाई का स्तर अत्यन्त साधारण कोटि का है। यहां इस सामग्री का संक्षिप्त समीक्षात्मक परिचय दिया जाता है।

१. प्रेमचन्द के जीवन पर लिखित ग्रन्थ—

(क) 'प्रेमचन्द घर में' : शिवरानी देवी प्रेमचन्द—प्रेमचन्द की मृत्यु को आज लगभग चौथाई शताब्दी होने को आ रही है, पर अभी तक उनकी एक भी प्रामाणिक और वैज्ञानिक जीवनी नहीं लिखी जा सकी है। प्रेमचन्द-आलोचना का यह एक बहुत बड़ा अभाव है—इसमें सन्देह नहीं। श्रीमती शिवरानी देवी की यह पुस्तक यद्यपि एक

हद तक इस अभाव की पूर्ति करती है, लेकिन उसे प्रेमचन्द की प्रामाणिक और वैज्ञानिक जीवनी का स्थानापन्न नहीं माना जा सकता। यद्यपि श्रीमती प्रेमचन्द की इस पुस्तक का अपना महत्त्व है, लेकिन अभी इस दिशा में वैज्ञानिक और योजनाबद्ध कार्य की पर्याप्त गुंजाइश और आवश्यकता है।

२. **प्रेमचन्द के साहित्य पर लिखित ग्रन्थ—**

(क) 'प्रेमचन्द एक अध्ययन' : डॉ० राजेश्वर गुरु—डॉ० गुरु के इस शोध-प्रबन्ध में क्रमशः जीवन-सार, प्रेमचन्द के कुछ विचार, प्रेमचन्द-साहित्य की भूमिका और प्रेमचन्द-साहित्य का विश्लेषण तथा विकास-क्रम शीर्षकों के अन्तर्गत प्रमचन्द के जीवन, चिन्तन और कला का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आरंभ में प्रेमचन्द के आलोचकों का एक क्रमागत संक्षिप्त विवरण भी है। पुस्तक पर सर्वत्र लेखक के अध्ययन और अध्यवसाय की स्पष्ट छाप है। यद्यपि प्रेमचन्द-विषयक आलोचनात्मक कृतियों में इस का महत्त्व निर्विवाद है, किन्तु उसके लेखक डॉ० गुरु का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह प्रेमचन्द को 'एकदम नवीन दृष्टिकोण' से देखने का प्रयास है।[1] 'प्रवेश : अपना दृष्टिकोण' में डॉ० गुरु ने स्थान-स्थान पर अपनी मौलिकता का जो उद्घोष किया है वह परीक्षको को प्रभावित करने के लिए आवश्यक हो सकता है, पर कुल मिला कर इस तरह के दावे पुस्तक के गांभीर्य में कमी ही करते हैं, वृद्धि नहीं। इसी तरह लेखक का यह दावा कि अपनी इस रचना के द्वारा वह रूसी समालोचक वेस्कोवनी के इस दावे को झुठला देना चाहता है कि इस देश में प्रेमचन्द का सही अध्ययन नहीं किया जा सकता[2]—प्रेमचन्द के गंभीर अध्येताओं में हास्य का उद्रेक ही करता है। वेस्कोवनी की इस बात में काफी से ज्यादा तथ्य है कि इस देश में प्रेमचन्द को बहुत दिनों तक अपना प्राप्य नहीं मिलेगा, जो उन्हें अपनी महान् साहित्यिक परंपरा के लिए मिलना चाहिए।[3]

यदि हम ईमानदारी से देखें तो मानना पड़ेगा कि कम से-कम अभी तक तो प्रेमचन्द को अपना प्राप्य, अपना दाय प्राप्त नहीं हुआ है। केवल दो-चार अथवा दस-पन्द्रह आलोचनात्मक पुस्तकें लिख देने के अतिरिक्त अभी तक हमने प्रेमचन्द के सही और गंभीर अध्ययन की दिशा में क्या किया है? क्या हमारे पास उनकी रचनाओं का कोई वैज्ञानिक और सम्पूर्ण संस्करण है? क्या हम 'हंस', 'जागरण', 'माधुरी', 'जमाना' तथा दूसरी पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी हुई उनकी संपादकीय टिप्पणियों और स्फुट लेखों को संगृहीत कर चुके हैं? क्या हमने प्रेमचन्द की रचनाओं का—विशेषतः कहानियों और नाटकों का—काल-क्रम स्थिर कर लिया है? क्या हम उनके पत्रों का संकलन कर चुके हैं? क्या प्रेमचन्द का त्यागपत्र जो उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ते समय लिखा था, हमारे पास सुर-

१. प्रेमचन्द एक अध्ययन, पृ० १६ (प्रथम संस्करण)
२. वही, पृ० १६
३. प्रेमचन्द और उनका युग : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० ५ (भूमिका) (द्वितीय संस्करण)

क्षित है ? क्या प्रेमचन्द की वैज्ञानिक और प्रामाणिक जीवनी लिखी जा चुकी है?[1] यदि नहीं, तो फिर हमें वेस्कोवनी के दावे को झुठलाने की गर्वपूर्ण घोषणा करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।

एक बात और, डॉ० गुरु की पुस्तक में कुछ स्थानों पर पाद-टिप्पणियां देने में भी गलती रह गई है जो एक शोध-प्रबन्ध के लिए किसी भी अवस्था में शोभनीय नहीं कही जा सकती। उदाहरण के लिए पृष्ठ १२ और १३ पर उद्धृत नंददुलारे वाजपेयी के कतिपय उद्धरणों के लिए फुटनोट में डॉ० रामविलास शर्मा की पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनका युग' का लगातार ६ स्थानों पर गलत निर्देश किया गया है। इसी तरह प्रेमचन्द द्वारा डॉ० इन्द्रनाथ मदान को लिखे गए एक पत्र के कुछ अंशों को उद्धृत करते हुए पृ० ३६ पर फुटनोट में लेखक ने डॉ० मदान की पुस्तक 'प्रेमचन्द: एक विवेचन' की पृष्ठ संख्या १७७ का उल्लेख किया है जबकि उक्त पुस्तक की कुल पृष्ठ संख्या १६४ है। हो सकता है कि उक्त संख्या पुस्तक के प्रथम संस्करण के आधार पर दी गई हो, किन्तु उस अवस्था में संस्करण का उल्लेख किया जाना चाहिए था।

इन कतिपय खामियों के बावजूद डॉ० गुरु की यह पुस्तक प्रेमचन्द-आलोचना की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—इसमें सन्देह नहीं।

(ख) 'प्रेमचन्द: एक विवेचन' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान—स्वयं लेखक के ही शब्दों में **"जिस वर्ग-संघर्ष को उन्होंने (प्रेमचन्द ने) अपने उपन्यासों और कहानियों में इतनी स्पष्टता से चित्रित किया है, उसी वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक में उनकी कला का विवेचन और उनके मस्तिष्क का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।"**[2] डॉ० मदान की इस आलोचना-कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका लेखक प्रेमचन्द के क्रान्तिकारी और प्रगतिशील स्वरूप को अंकित करने में सफल होकर भी कतिपय प्रगतिवादी आलोचकों की भांति एकपक्षीय नहीं हुआ है और आद्योपांत अपने दृष्टिकोण को संयत, उदार एवं वैज्ञानिक बनाए रखने में सफल हो सका है। हिन्दी-आलोचना की वर्त्तमान स्थिति में यह छोटी उपलब्धि नहीं है। प्रारम्भिक दो अध्यायों में प्रेमचन्द-युग की परिस्थितियों और प्रेमचन्द के जीवन का अध्ययन प्रस्तुत करने के पश्चात् विद्वान् लेखक ने क्रमशः मध्य-वर्ग, भूमिपति, उद्योगपति, किसान और अछूत आदि सामाजिक-आर्थिक (Socio-economic) वर्गों के माध्यम से प्रेमचन्द के उपन्यासों को समझने-समझाने का एक विचारोत्तेजक प्रयास किया है। परिशिष्ट में प्रेमचन्द के दो महत्त्वपूर्ण पत्र दिए गए हैं।

---

१. सरस्वती प्रेस की दिल्ली शाखा के व्यवस्थापक श्री...ने इन पंक्तियों के लेखक को एक बार बताया था कि किस प्रकार कुछ रूसी यात्रियों द्वारा उनसे यह पूछे जाने पर कि उनके पास प्रेमचन्द की Bibliography, प्रेमचन्द का कोई Delux edition और कोई प्रेमचन्द-कोश है ? —उन्हें हर बार 'नहीं' कहना पड़ा था।

२. प्रेमचन्द : एक विवेचन, पृ० ६ (आमुख) (दूसरा संशोधित संस्करण)

'प्रेमचन्द : एक विवेचन' में कतिपय भूलें रह गई हैं, जिनका निवारण अत्यावश्यक है। उदाहरणार्थ पृ० ४० पर हमें सूचित किया जाता है कि 'सेवासदन' की नायिका सुमन का विवाह एक क्रूर, संकीर्ण, कृपण और ईर्ष्यालु युवक (?) से हुआ था, कि सुमन का पिता एक क्लर्क (?) था। कहने की आवश्यकता नहीं कि सुमन का पिता कृष्णचन्द्र क्लर्क नहीं पुलिस में दारोगा था और उसका पति गजाधर युवक नहीं ३०-३५ साल का दुहाजू प्रौढ़ था। इसी तरह पृ० ११३ पर प्रेमशंकर को 'रंगभूमि' के किसानों का अगुआ और आदर्शवादी पात्रों के दल का प्रतिनिधि कहा गया है, जो स्पष्टतः गलत है। कहना न होगा कि इस प्रकार की भूलें—जो दुर्भाग्यवश हिन्दी के आलोचकों में बहुतायत से पाई जाती हैं—दिखाती हैं कि आलोचक ने अपने दायित्व को पूरी ईमानदारी से नहीं निभाया है।

(ग) **'प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व' : हंसराज 'रहबर'**—श्री रहबर' की यह पुस्तक प्रेमचन्द के जीवन की घटनाओं के साथ उनके साहित्य का सामंजस्य स्थापित करने का अपनी तरह का पहला प्रयास है। बचपन, स्कूल, विद्यालय, स्कूल-मास्टर, कानपुर में, नया विवाह, इस्तीफा, घर में, प्रकाशक, प्रेस, फिल्म आदि शीर्षकों से पहली दृष्टि में भ्रम हो सकता है कि यह प्रेमचन्द की शुद्ध जीवन-गाथा मात्र है। पर वास्तव में यह जीवन के माध्यम से साहित्य तक और साहित्य के माध्यम से जीवन तक पहुँचने का प्रेमचन्द-आलोचना में एक सर्वथा नवीन प्रयोग है, जो निश्चय ही प्रेमचन्द और उनके साहित्यिक कृतित्व को और अधिक गहराई से समझने-समझाने में हमारी सहायता करता है। जनवादी दृष्टिकोण से लिखी जाकर भी पुस्तक संकीर्ण मतवादी आग्रहों से मुक्त है। हम डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के इस मत से सहमत हैं कि **"प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व' प्रेमचन्द पर प्रकाशित होने वाली आज तक की सभी पुस्तकों से भिन्न प्रकार की है।"**[1] स्वभावतः 'रहबर' की इस पुस्तक में हम एक ऐसी ताज़गी पाते हैं जो प्रेमचन्द-आलोचना में मुश्किल से ही मिलती है।

(घ) **'प्रेमचन्द : आलोचनात्मक परिचय' तथा (ङ) 'प्रेमचन्द और उनका युग': डॉ० रामविलास शर्मा**—प्रेमचन्द पर डॉ० रामविलास की दो पुस्तकें हैं। पहली पुस्तक में जहां विभिन्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों के माध्यम से प्रेमचन्द के कृतित्व को आँकने का प्रयास किया गया है, वहाँ ग्यारह वर्ष के अन्तर से सन् '५२ में प्रकाशित दूसरी पुस्तक में प्रेमचन्द के उपन्यास, कहानियों और निबन्धों पर अलग-अलग विचार किया गया है। मूल दृष्टिकोण एक होते हुए भी दोनों पुस्तकों के विषय-विवेचन के स्तर में स्वभावतः अन्तर है।

डॉ० रामविलास के 'आलोचक' का वैशिष्ट्य अपनी बात कहने की अपेक्षा दूसरे का खण्डन करने में अधिक निहित है। अतः उनकी शैली व्यंग्य और कटाक्षपूर्ण है। लेकिन हमारा विश्वास है कि आलोचक रामविलास की वास्तविक महत्ता उनके मर्मभेदी व्यंग्यों और तीखे कटाक्षों में नहीं अपितु बड़ी-से-बड़ी और उलझनपूर्ण बात को सीधे-सादे शब्दों

---

१. आलोचना : वर्ष १ अङ्क ३, अप्रैल १९५२, पृ० १२०

में कह देने की उनकी क्षमता में है। 'प्रेमचन्द और उनका युग' में डॉ० रामविलास की यह क्षमता विशेष रूप से लक्षित की जा सकती है।

डॉ० रामविलास की दूसरी पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनका युग' की सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमें दिए गए अधिकांश-उद्धरणों का संदर्भ-निर्देश नहीं किया गया है।

'प्रेमचन्द और उनका युग' में एक-दो स्थानों पर कुछ भयंकर भूलें भी रह गई हैं। 'कायाकल्प' का विवेचन करते हुए पृ० ८२ पर डॉ० शर्मा ने लिखा है : "विशालसिंह ने तीन ब्याह किए; लेकिन पुत्र का मुंह देखने से वंचित रहे। चौथी बार ब्याह किया तो ऐसी लड़की से, जो बाद में खुद उनकी लड़की साबित हुई।" अगले पृष्ठ पर ही वे फिर कहते हैं : "उसकी (लौंगी की) उक्ति में अज्ञात व्यंग्य है। जिससे मनोरमा का ब्याह होता है, वह आगे चलकर उसका पिता ही साबित होता है।" 'कायाकल्प' के पाठकों के लिए यह एक नई खोज है। शायद हमें यह बताने की जरूरत नहीं कि बाद में चलकर राजा विशालसिंह की पुत्री साबित होने वाली लड़की का नाम मनोरमा नहीं बल्कि अहल्या है। चक्रधर की पत्नी अहल्या को मनोरमा के साथ गड़बड़ा देने में आलोचक की असावधानी ही झलकती है—इसमें सन्देह नहीं !

(च) **'कथाकार प्रेमचन्द' : मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्मा**—साढ़े सात सौ से भी अधिक पृष्ठों के इस विशालकाय 'ग्रन्थ' में लगभग पौने तीन सौ पृष्ठ प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियों की संक्षिप्त कहानी देने में व्यय कर दिए गए हैं। कहना न होगा कि ये पौने तीनसौ पृष्ठ 'ग्रन्थ' के आकार और परिमाण की वृद्धि करने में ही सहायक हुए हैं, महत्त्व की वृद्धि करने में नहीं। पुस्तक में व्यवस्था से अधिक अव्यवस्था और स्पष्टता से अधिक अस्पष्टता है। लगता है उसके लेखक-द्वय अपने विचारों को बिना किसी पूर्व-निर्धारित योजना के यूंही (At random) लिखते चले गए हैं। स्वभावतः 'कथाकार-प्रेमचन्द' एक अजीब Hotchpotch 'पोथा' बन कर रह गया है।

(छ) **'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' : नन्ददुलारे वाजपेयी**—वाजपेयी जी की यह आलोचना-कृति प्रेमचन्द के साहित्य और उनकी विचारधारा को समझने का गंभीर प्रयास नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' की रचना एक विशिष्ट कक्षा के परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए की गई है। पुस्तक की विषय-सूची पर एक सामान्य दृष्टिपात हमारी धारणा की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। प्रेमचन्द के उपन्यासों का विशिष्ट अध्ययन करते हुए लेखक ने जो 'पैटर्न' (Pattern) अपनाया है वह भी हमारी धारणा को बल प्रदान करता है। स्पष्ट है कि विद्यार्थियों की सुविधा के लिए ही—और शायद अपनी सुविधा के लिए भी—लेखक ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के विशिष्ट अध्ययन को कथानक, कथानक-समीक्षा, चरित्र-चित्रण, विचार-विवेचन और कला-विवेचन जैसे उपशीर्षकों में बांटा है। आरम्भ में हिन्दी-उप-

न्यास परंपरा पर एक सामान्य परिचयात्मक अध्याय भी इसी दृष्टिकोण से जोड़ा गया है। किन्तु वाजपेयी जी जैसे पुराने और मँजे हुए आलोचक की लेखनी से प्रणीत होने के कारण पुस्तक शुद्ध छात्रोपयोगी प्रयास बनकर ही नहीं रह गई है; अनेक स्थलों पर उसके प्रणेता के मौलिक चिन्तन की छाप अत्यन्त स्पष्टता से देखी जा सकती है।

प्रेमचन्द पर वाजपेयी जी का एक लेख है (लेख पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे) जिसमें उन्होंने प्रेमचन्द के पाँच-पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यासों को पाँच पृष्ठों में संक्षिप्त करने वाले आलोचकों की कठोर भर्त्सना करते हुए उनकी इस क्रिया या कपाल-क्रिया को उपन्यास और उपन्यासकार दोनों के प्रति मर्मभेदी व्यंग्य कहा है।[1] लगता है 'प्रेमचन्द: साहित्यिक विवेचन' को लिखते हुए श्रीयुत नन्ददुलारे वाजपेयी को अपने इस लेख का स्मरण नहीं रहा (बड़े आदमियों की स्मरण-शक्ति स्वभावत: कुछ कमजोर हो ही जाया करती है !), अन्यथा वे स्वयंकथित 'कपाल-क्रिया' वाली 'टेकनीक' को खुद ही नहीं अपनाते !

(ज) 'प्रेमचन्द' : डॉ त्रिलोकीनारायण दीक्षित— इस पुस्तक में डॉ० दीक्षित का प्रयास प्रेमचन्द को अधिक-से-अधिक मार्क्सवादी सिद्ध करना रहा है,[2] हालाँकि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "**प्रेमचन्द सन् १९३० तक गांधी जी के जीवन-दर्शन से बहुत**

---

१. "पर हम जिस रूप में साहित्य और उसकी समीक्षा को समझते हैं उस रूप में पांच सौ पृष्ठों के उपन्यास को पाँच पृष्ठों में संक्षिप्त करने की क्रिया (या कपाल-क्रिया !) उस उपन्यास और उपन्यासकार के लिए मर्मभेदी व्यंग्य है।"

—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ८३

२. (क) "आज जैसे संघर्ष प्रधान संसार में आध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। इसी कारण प्रेमचन्द मार्क्स के वस्तुवादी दर्शन से बहुत प्रभावित थे। ×××× मार्क्सवाद का भौतिक दर्शन एवं निरीश्वरवाद प्रेमचन्द का परितोष करने में सफल एवं समर्थ है। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व में वही काठिन्य, दृढ़ता और विश्वबंधुत्व की भावना लहर ले रही हैं जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए आवश्यक है।"

—प्रेमचन्द, पृ० २१

(ख) "मार्क्स के भौतिक दर्शन तथा निरीश्वरवाद ने प्रेमचन्द को मानव समाज के अध्ययन के लिए अन्तर्दृष्टि प्रदान की।"

—वही, पृ० २१-२२

(ग) "इसीलिए प्रेमचन्द ने उपन्यासों में धर्म, समाज, सभी दृष्टि से साम्यवादी विचारधारा को जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक माना है।"

—वही, पृ० २३

(घ) "विगत पृष्ठों से स्पष्ट है प्रेमचन्द एक सच्चे जनवादी मार्क्सवादी कलाकार थे।"

—वही पृ० १८५

(ङ) "प्रेमचन्द का साहित्य जनवादी क्रान्तिकारियों के हाथ में जबरदस्त साधन है।"

—वही, पृ० १८८

में कह देने की उनकी क्षमता में है। 'प्रेमचन्द और उनका युग' में डॉ० रामविलास की यह क्षमता विशेष रूप से लक्षित की जा सकती है।

डॉ० रामविलास की दूसरी पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनका युग' की सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमें दिए गए अधिकांश-उद्धरणों का संदर्भ-निर्देश नहीं किया गया है।

'प्रेमचन्द और उनका युग' में एक-दो स्थानों पर कुछ भयंकर भूलें भी रह गई हैं। 'कायाकल्प' का विवेचन करते हुए पृ० ८२ पर डॉ० शर्मा ने लिखा है : "विशालसिंह ने तीन ब्याह किए; लेकिन पुत्र का मुंह देखने से वंचित रहे। चौथी बार ब्याह किया तो ऐसी लड़की से, जो बाद में खुद उनकी लड़की साबित हुई।" अगले पृष्ठ पर ही वे फिर कहते हैं : "उसकी (लौंगी की) उक्ति में अज्ञात व्यंग्य है। जिससे मनोरमा का ब्याह होता है, वह आगे चलकर उसका पिता ही साबित होता है।" 'कायाकल्प' के पाठकों के लिए यह एक नई खोज है। शायद हमें यह बताने की जरूरत नहीं कि बाद में चलकर राजा विशालसिंह की पुत्री साबित होने वाली लड़की का नाम मनोरमा नहीं बल्कि अहल्या है। चक्रधर की पत्नी अहल्या को मनोरमा के साथ गड़बड़ा देने में आलोचक की असावधानी ही झलकती है—इसमें सन्देह नहीं !

(च) 'कथाकार प्रेमचन्द' : मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्मा—साढ़े सात सौ से भी अधिक पृष्ठों के इस विशालकाय 'ग्रन्थ' में लगभग पौने तीन सौ पृष्ठ प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियों की संक्षिप्त कहानी देने में व्यय कर दिए गए हैं। कहना न होगा कि ये पौने तीनसौ पृष्ठ 'ग्रन्थ' के आकार और परिमाण की वृद्धि करने में ही सहायक हुए हैं, महत्त्व की वृद्धि करने में नहीं। पुस्तक में व्यवस्था से अधिक अव्यवस्था और स्पष्टता से अधिक अस्पष्टता है। लगता है उसके लेखक-द्वय अपने विचारों को बिना किसी पूर्व-निर्धारित योजना के यूंही (At random) लिखते चले गए हैं। स्वभावत: 'कथाकार-प्रेमचन्द' एक अजीब Hotchpotch 'पोथा' बन कर रह गया है।

(छ) 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' : नन्ददुलारे वाजपेयी—वाजपेयी जी की यह आलोचना-कृति प्रेमचन्द के साहित्य और उनकी विचारधारा को समझने का गंभीर प्रयास नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' की रचना एक विशिष्ट कक्षा के परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए की गई है। पुस्तक की विषय-सूची पर एक सामान्य दृष्टिपात हमारी धारणा की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। प्रेमचन्द के उपन्यासों का विशिष्ट अध्ययन करते हुए लेखक ने जो 'पैटर्न' (Pattern) अपनाया है वह भी हमारी धारणा को बल प्रदान करता है। स्पष्ट है कि विद्यार्थियों की सुविधा के लिए ही—और शायद अपनी सुविधा के लिए भी—लेखक ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के विशिष्ट अध्ययन को कथानक, कथानक-समीक्षा, चरित्र-चित्रण, विचार-विवेचन और कला-विवेचन जैसे उपशीर्षकों में बांटा है। आरम्भ में हिन्दी-उप-

न्यास परंपरा पर एक सामान्य परिचयात्मक अध्याय भी इसी दृष्टिकोण से जोड़ा गया है। किन्तु वाजपेयी जी जैसे पुराने और मँजे हुए आलोचक की लेखनी से प्रणीत होने के कारण पुस्तक शुद्ध छात्रोपयोगी प्रयास बनकर ही नहीं रह गई है; अनेक स्थलों पर उसके प्रणेता के मौलिक चिन्तन की छाप अत्यन्त स्पष्टता से देखी जा सकती है।

प्रेमचन्द पर वाजपेयी जी का एक लेख है (लेख पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे) जिसमें उन्होंने प्रेमचन्द के पाँच-पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यासों को पाँच पृष्ठों में संक्षिप्त करने वाले आलोचकों की कठोर भर्त्सना करते हुए उनकी इस क्रिया या कपाल-क्रिया को उपन्यास और उपन्यासकार दोनों के प्रति मर्मभेदी व्यंग्य कहा है।[1] लगता है 'प्रेमचन्द: साहित्यिक विवेचन' को लिखते हुए श्रीयुत नन्ददुलारे वाजपेयी को अपने इस लेख का स्मरण नहीं रहा (बड़े आदमियों की स्मरण-शक्ति स्वभावत: कुछ कमजोर हो ही जाया करती है!), अन्यथा वे स्वयंकथित 'कपाल-क्रिया' वाली 'टेकनीक' को खुद ही नहीं अपनाते!

(ज) **'प्रेमचन्द' : डॉ त्रिलोकीनारायण दीक्षित**— इस पुस्तक में डॉ० दीक्षित का प्रयास प्रेमचन्द को अधिक-से-अधिक मार्क्सवादी सिद्ध करना रहा है,[2] हालाँकि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "**प्रेमचन्द सन् १९३० तक गांधी जी के जीवन-दर्शन से बहुत**

---

१. "पर हम जिस रूप में साहित्य और उसकी समीक्षा को समझते हैं उस रूप में पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यास को पाँच पृष्ठों में संक्षिप्त करने की क्रिया (या कपाल-क्रिया!) उस उपन्यास और उपन्यासकार के लिए मर्मभेदी व्यंग्य है।"

—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ८३

२. (क) "आज जैसे संघर्ष प्रधान संसार में आध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। इसी कारण प्रेमचन्द मार्क्स के वस्तुवादी दर्शन से बहुत प्रभावित थे। ×××× मार्क्सवाद का भौतिक दर्शन एवं निरीश्वरवाद प्रेमचन्द का परितोष करने में सफल एवं समर्थ है। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व में वही काठिन्य, दृढ़ता और विश्वबंधुत्व की भावना लहर ले रही हैं जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए आवश्यक है।"

—प्रेमचन्द, पृ० २१

(ख) "मार्क्स के भौतिक दर्शन तथा निरीश्वरवाद ने प्रेमचन्द को मानव समाज के अध्ययन के लिए अन्तर्दृष्टि प्रदान की।"

—वही, पृ० २१–२२

(ग) "इसीलिए प्रेमचन्द ने उपन्यासों में धर्म, समाज, सभी दृष्टि से साम्यवादी विचारधारा को जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक माना है।"

—वही, पृ० २३

(घ) "विगत पृष्ठों से स्पष्ट है प्रेमचन्द एक सच्चे जनवादी मार्क्सवादी कलाकार थे।"

—वही पृ० १८५

(ङ) "प्रेमचन्द का साहित्य जनवादी क्रान्तिकारियों के हाथ में जबरदस्त साधन है।"

—वही, पृ० १८८

अधिक प्रभावित रहे। राजनीति के क्षेत्र में गांधी जी के कदम जिस गति से बढ़े प्रेमचन्द के कदम साहित्य के क्षेत्र में बढ़े। × × × × × साहित्यकार का युग-पुरुष से प्रभावित होना बड़ा स्वाभाविक होता है।"[1]

पुस्तक में अनेक भद्दी भूलें भरी हुई हैं, जो दिखाती हैं कि आलोचक ने अपने कर्त्तव्य को कितनी गैरजिम्मेदारी से निभाया है ! उदाहरण के लिए हम यहां कुछ-एक ऐसी भूलों की ओर संकेत करेंगे। डॉ० दीक्षित के अनुसार प्रेमचन्द का 'प्रथम उपन्यास सेवासदन १९०५ ई० में प्रकाशित हुआ था।'[2] अगले ही पृष्ठ पर डॉ० दीक्षित एक और शोधपूर्ण घोषणा करते हैं : आर्य-समाज के आन्दोलन से प्रभावित होकर प्रेमचन्द ने 'सेवासदन', 'बाजार हुस्न' और 'बेवा' की रचना की।[3] प्रेमचन्द के विद्यार्थी के लिए यह एक सर्वथा नई खोज है कि 'सेवासदन' और 'बाजारेहुस्न' प्रेमचन्द के दो अलग-अलग उपन्यास हैं ! इसी पृष्ठ पर डॉ० दीक्षित लिखते हैं : "प्रेमाश्रम की रचना के दो वर्ष बाद १९२७ ई० में रंगभूमि का प्रकाशन हुआ।"[4] क्या यह बताने की आवश्यकता है कि न तो 'प्रेमाश्रम' की रचना १९२५ ई० में हुई थी और न 'रंगभूमि' का प्रकाशन १९२७ ई० में हुआ था ? पृष्ठ ५१ पर डॉ० दीक्षित ने एक और अभिनव खोजपूर्ण वक्तव्य दिया है : "कर्मभूमि में महन्त रामदास श्री बांकेबिहारी जी के नाम पर सब प्रकार का अधर्म, अनर्थ और अत्याचार करते हैं। × × × × महन्त जी श्री बांकेबिहारी जी के नाम पर चेतू का बध भी कर डालते हैं.........।"[5] पृष्ठ १८० पर भी डॉ० दीक्षित ने अपनी इस 'मान्यता' को दोहराया है।[6] हमारा विश्वास है कि डॉ० दीक्षित का यह वक्तव्य प्रेमचन्द को सरसरी निगाह से पढ़ने वाले पाठक के भी गले के नीचे नहीं उतर सकता, क्योंकि वह जानता है कि बूढ़े किसान चेतू अहीर वाला यह प्रसंग 'कर्मभूमि' में नहीं बल्कि 'सेवासदन' में आया है।[7]

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की गैरजिम्मेदारी से लिखी गई पुस्तक के सहारे किसी भी साहित्यकार का सही और वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकता।

---

१. प्रेमचन्द, पृ० ८५
२. वही, पृ० १६३
३. वही, पृ० १६४
४. वही, पृ० १६४
५. वही, पृ० ५१
६. "कर्मभूमि में भी इस नई चेतना के दर्शन बूढ़े किसान चेतू में होते हैं। चेतू श्री बांकेबिहारी जी के जन्म पर (जन्म पर नहीं यज्ञ पर) गरीबी के कारण नजराना न दे सका। फलतः महन्तजी ने प्रोनोट लिखा लिया। ('सेवासदन' के चेतू ने प्रोनोट या रुक्का लिखने से साफ इंकार कर दिया था। देखिए—सेवा०, पृ० ८) कालान्तर में फिर वही रुपए के लिए तगादा। पर चेतू न दे सका।..............." आदि। (कोष्ठकबद्ध शब्द लेखक के)
—वही, पृ० १८०
७. सेवासदन, पृ० ६ से ८

कुल मिलाकर डॉ० दीक्षित की यह पुस्तक प्रेमचन्द के पाठकों को गुमराह ही करती है, प्रेमचन्द को समझने में उनकी किसी प्रकार की सहायता नहीं।

(झ) **'प्रेमचन्द और उनकी साहित्य-साधना'—डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'**— प्रेमचन्द पर आए दिन प्रकाशित होने वाली आलोचनात्मक-पुस्तकों के समान डॉ० 'कमलेश' की यह पुस्तक भी प्रेमचन्द-आलोचना का परिमाण ही बढ़ाती है, महत्त्व नहीं। सब मिलाकर डॉ० 'कमलेश' की इस पुस्तक में कोई वैशिष्ट्य लक्षित नहीं होता। हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य का यह अध्ययन बहुत ही बचकाना, असंतुलित और सतही है। पुस्तक में कुछ ऐसी भूलें रह गई हैं जो बरबस पाठक का ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं। 'कर्मभूमि' पर विचार करते हुए कमलेश जी कहते हैं: **"कंजर जैसी जरायम पेशा कौम को भी इस कथा में स्थान दिया गया है।"**[1] कहना न होगा कि 'कर्मभूमि' ही नहीं प्रेमचन्द के किसी भी उपन्यास में कंजर जाति का कोई वर्णन नहीं है। कहानियों में भी 'प्रेम का उदय' ही प्रेमचन्द की एक ऐसी कहानी है जिसमें इस अपराधी जाति के जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत की गई है।[2] प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रकाशनकाल देते हुए भी कमलेशजी ने आवश्यक सावधानी नहीं बरती है। पृ० ५२ पर वे प्रेमचन्द के 'निर्मला', 'रंगभूमि' और 'गबन' उपन्यासों का समय क्रमशः सन् १९२३, १९२५ और १९३१ देते हैं; पर दो पृष्ठों के बाद इन्हीं उपन्यासों का समय क्रमशः सन् १९२७, १९२४ और १९३० दिया गया है। इस प्रकार की भूलों को हम मामूली भूलें कहकर नहीं टाल सकते, क्योंकि ये आलोचक की गैरजिम्मेदारी और असावधानी को द्योतित करतीं हैं। हिन्दी-आलोचना में इस प्रकार की भूलें एक आम बात हैं, लेकिन आम बात होने मात्र से ही तो उन्हें नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। हम समझते हैं, अब वह समय आ गया है जब हिन्दी आलोचकों को इस प्रकार की भूलों की अहमियत को समझना और महसूस करना चाहिए।

(ञ) **'प्रेमचन्द' तथा (ट) 'कलाकार प्रेमचन्द' : डाक्टर रामरतन भटनागर**— डॉ० भटनागर की पहली पुस्तक शुद्ध छात्रोपयोगी 'एक अध्ययन' श्रेणी का प्रयास है। स्वभावतः उससे किसी प्रकार की मौलिकता की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। प्रेमचन्द के कतिपय अन्य आलोचकों की भाँति डॉ० भटनागर ने भी प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रकाशनकाल देते हुए आवश्यक सावधानी नहीं बरती है।[3] लाला श्रीनिवासदास

---

१. प्रेमचन्द और उनकी साहित्य-साधना, पृ० १०८

२. मानसरोवर, भाग ४ पृ० १३३ (आठवां संस्करण, १९५८)

३. 'रंगभूमि'—सन् १९२५ (प्रेमचन्द : डॉ० रामरतन भटनागर, पृ० १३)
सन् १९२४ (वही, पृ० ९४)
'निर्मला'—सन् १९२३ (वही, पृ० १४)
सन् १९२७ (वही, पृ० १४१)

कृत 'परीक्षा-गुरु' का समय भी गलत दिया गया है।[1] पुस्तक विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है, पर स्पष्ट है कि इस प्रकार की तथ्यात्मक भूलों के रहते हुए वह उनका हित भी नहीं साध सकती। परीक्षोपयोगी नोट्स के लेखकों से मौलिक चिन्तन की न सही पर कम से कम इतनी अपेक्षा तो की ही जाती है कि वे सही तथ्य दें। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि डॉ० भटनागर की यह पुस्तक प्रेमचन्द-आलोचना को किसी भी दिशा में आगे नहीं बढ़ाती, पीछे भले ही खींचे।

डॉ० भटनागर की दूसरी पुस्तक का स्तर पहली के मुकाबिले काफी सन्तोपजनक है। 'कलाकार प्रेमचन्द' की सबसे बड़ी कमजोरी उसकी भापा है। अस्पष्ट और अव्यवस्थित भाषा उसके लेखक के अस्पष्ट और अव्यवस्थित चिन्तन को सूचित करती है। ऐसा लगता है कि यह पुस्तक बहुत जल्दी और हड़बड़ी में लिखी गई है।

(ठ) **'प्रेमचन्द' : मदनगोपाल**—सन् '४४ में लाहौर से प्रकाशित सवासौ पृष्ठों की इस अँग्रेजी पुस्तिका में प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य के सभी पक्षों पर सूत्र रूप में विचार किया गया है। स्वभावतः उसका विवेचन बहुत अधिक संकेतात्मक हो गया है। कुल मिलाकर यह पुस्तिका इधर हाल के वर्षों में प्रेमचन्द पर लिखी गई अनेक आलोचनात्मक पुस्तकों से कहीं अच्छी है। उसके सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि उसके लेखक का दृष्टिकोण सुलझा हुआ और शैली रोचक है। पुस्तिका का लेखक प्रेमचन्द का जन्म १० अगस्त १८८१ को हुआ मानता है,[2] जबकि प्रेमचन्द की वास्तविक जन्म-तिथि ३१ जुलाई १८८० है। आरम्भ में जाने या अनजाने की गई इस प्रकार की भूलें ही आगे चलकर किसी साहित्यकार के जीवन अथवा कृतित्व के संबंध में गंभीर भूलों का मार्ग प्रशस्त करती हैं। अतः हमें इस विषय में अधिक सचेत और सावधान रहने की आवश्यकता है।

३. उपन्यासकार प्रेमचन्द पर लिखित ग्रन्थ—

(क) **'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' : प्रो० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'**—प्रो० 'द्विज' की इस पुस्तक में औपन्यासिक तत्वों—वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन भापा-शैली, देशकाल और उद्देश्य—के शास्त्रीय आधार पर प्रेमचन्द की उपन्यास-कला को जाँचने-परखने का प्रयास किया गया है। पुस्तक का अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह

'गबन'— सन् १९३१ (वही, पृ० १३)
सन् १९३२ (वही, पृ० १३५)

१. "सबसे पहला उपन्यास सं० १९४३ में लिखा गया। यह श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' है।"
—वही, पृ० २३१

× × ×

"हिन्दी के पहले उपन्यास परीक्षा-गुरु (१८८६) से शुरू कीजिए,........।"
—वही, पृ० २४८

२. Premchand : Madangopal, P. 14

...या है, समीक्षात्मक नहीं। ऐतिहासिक इस अर्थ में कि प्रेमचन्द के जीवन-काल में प्रका-
...र प्रो० 'द्विज' की यह पुस्तक प्रेमचन्द पर संभवतः सबसे पहली आलोचना-पुस्तक थी।
...की मूल भावधारा और उसके विकास-क्रम को समझने में कुल मिलाकर यह
...कोई महत्त्वपूर्ण सहायता नहीं करती। सच तो यह है कि इस प्रकार की यान्त्रिक
...ता प्रेमचन्द जैसे सामाजिक चेतना-सम्पन्न साहित्यकार की आत्मा का अनुसंधान
...न करने में सफल हो ही नहीं सकती।

(ख) 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द' : डॉ० महेन्द्र भटनागर—नागपुर
...ालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध की मूल स्था-
...है कि प्रेमचन्द के सभी उपन्यास मूलतः और प्रथमतः समस्यामूलक हैं। अतः उप-
...र प्रेमचन्द का वैज्ञानिक अध्ययन और मूल्यांकन उनके समस्यामूलक स्वरूप के
...के आधार पर ही किया जा सकता है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि अपनी इस प्रति-
...रा लेखक ने प्रेमचन्द के अध्ययन को एक नवीन दृष्टि प्रदान की है, पर आदि
... प्रेमचन्द के एक ही पक्ष पर आग्रहपूर्वक इतना अधिक बल दिए जाने के
...०महेन्द्र भटनागर का यह अध्ययन स्पष्टतः उपन्यासकार प्रेमचन्द को उसकी
...ग्रहण नहीं कर पाया है। इस पुस्तक की दूसरी बड़ी दुर्बलता यह है कि उसमें
...से कहीं अधिक उद्धरण दिए गए हैं—यहाँ तक कि इस विषय में अनुपात का
...रखा गया है। शोध-प्रबन्ध में उदाहरणों का होना स्वाभाविक है, पर इतनी
...नहीं कि लेखक की 'अपनी बात' गौण बन जाए और 'उद्धरण' प्रमुख। डॉ०
...बन्ध को पढ़ते हुए बार-बार यह भ्रम होता है कि लेखक विषय का स्वतन्त्र
... विभिन्न समस्याओं के प्रति प्रेमचन्द के विचारों को उन्हीं के शब्दों में
...वाक्यों सहित संकलित कर रहा है। सब मिलाकर पुस्तक में शोध-प्रबन्ध
... की गहराई का सर्वथा अभाव है। व्यावहारिक दृष्टि से यदि इस पुस्तक
...हो सकती है तो केवल इतनी कि विद्यार्थी को उपन्यासकार प्रेमचन्द
... एक ही स्थान पर एकत्रित मिल सकते हैं।

समस्या-नाटक की भाँति समस्या-उपन्यास (समस्या-उपन्यास शब्द के लिए ही
डॉ० महेन्द्र भटनागर ने 'समस्यमूलक उपन्यास' शब्द का प्रयोग किया है।) शब्द भी हिन्दी
में पश्चिम से आया है। अ...त. उसका विवेचन भी पश्चिमी साहित्य के परिपार्श्व में ही किया
जाना चाहिए। पर डॉ० ...ने पश्चिम में समस्या-उपन्यासों (Problem nove-
ls) के उद्भव और विका... का कोई विवेचन नहीं किया है। पुस्तक के लेखक ने समस्या-
उपन्यासों के सैद्धान्तिक वि...वेचन की भी नितान्त उपेक्षा की है। अतः सिद्धान्त-विवेचन
की दृष्टि से यह प्रबन्ध बहु... ही लचर है।

(ग) 'प्रेमचन्द: उ... और शिल्प': हरस्वरूप माथुर—प्रस्तुत पुस्तक में श्री

---

१. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रे...

माथुर ने औपन्यासिक तत्त्वों और शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्य
उनकी उपन्यास-कला का क्रमशः विशिष्ट एवं सामान्य अध्ययन प्रस्तुत किया है
किसी प्रकार के वाद-विवाद में पड़े बिना कथावस्तु, पात्र, देशकाल और उद्देश्य
पर 'वरदान' से 'मंगलसूत्र' तक प्रेमचन्द के औपन्यासिक कृतित्व का एक-
विश्लेषण करता चला गया है। श्री माथुर के इस व्याख्यान-विश्लेषण में स्वभ.
ताज़गी अथवा विचारोत्तेजकता नहीं है। पुस्तक का महत्त्व किसी प्रकार की मौ
भावना के कारण नहीं अपितु उसके लेखक की सुलझी हुई शैली और बात को
शब्दों में कह देने की क्षमता के कारण है। पुस्तक प्रेमचन्द के विद्यार्थियों के
योगी है।

४. कहानीकार प्रेमचन्द पर लिखित ग्रन्थ—

(क) 'कहानीकला और प्रेमचन्द' : श्रीपति शर्मा—शर्माजी की
एम० ए० की परीक्षा के लिए प्रस्तुत उनके विशेष निबंध (Dissertati
परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण है, जिसमें उन्होंने प्रेमचन्द की कहानिय
दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श किया है। कहानीकार प्रेमचन्द पर अभी तक व
गया है। इस विषय पर पहली रचना होने के कारण इस पुस्तक का ऐतिह
है ही, साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है।

(ख) 'प्रेमचन्द ; उनकी कहानी कला' : डॉ० सत्येन्द्र—अपनी
सत्येन्द्र ने प्रेमचन्द की कहानियों को विविध आधारों पर वर्गीकृत कर
प्रयास किया है वह सर्वथा अवैज्ञानिक, सदोष और उलझनपूर्ण (C
यह वर्गीकरण कुछ देर के लिए पाठकों को चमत्कृत भले ही कर दे ; प
नियों को समझने में वह उनकी मदद नहीं कर सकता।

प्रेमचन्द का परिचय, प्रेमचन्द-काल का विवेचन तथा कह
विकास—ये आरम्भिक तीन अध्याय पुस्तक के सबसे कमजोर अंग हैं
पर अपनी भाषा को जान-बूझकर काव्यमयी और अस्पष्ट बनाने व
किसी भी अवस्था में स्तुत्य या उचित नहीं माना जा सकता।[1] भा
सत्येन्द्र की शैली में स्पष्टता और ऋजुता नहीं है। आज के यु
बड़ा दायित्व अपनी बात को सुलझे हुए ढँग से स्पष्ट शब्दों में प्र
कोई आलोचक इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो हम सम
मय युग में उसे 'आलोचक' कहलाने का कोई हक़ नहीं है। आ
होता है भूलभुलैयाँ में भटकाना नहीं। स्पष्ट है कि डॉ० स
कसौटी पर खरी नहीं उतरती।

---

१. प्रेमचन्द : उनकी कहानी कला, पृ० २ तथा २४ पर अन्तिम पै

५. प्रेमचन्द के विशिष्ट उपन्यासों पर लिखित परीक्षोपयोगी पुस्तकें—

इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली पुस्तकों पर यहाँ विचार नहीं किया जाएगा, मारी मान्यता है कि इन्हें वस्तुतः आलोचना की कोटि में रखा ही नहीं जाना ह हिन्दी-आलोचना का दुर्भाग्य है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों पर अभी तक जितने अध्ययन प्रकाशित हुए हैं, वे सब-के-सब बाजारू नोट्स की श्रेणी में ही आने । हम समझते हैं कि अब वह समय आगया है जब प्रेमचन्द के उपन्यासों का अलग-भीर अध्ययन किया जाना चाहिए।

चन्द के जीवन और साहित्य पर विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखित स्वतन्त्र लेखों संग्रह—

(क) 'प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला' : सं० प्रेमनारायण टंडन— प्रस्तुत संकलन पर अब तक प्रकाशित इस प्रकार के सभी संकलनों में निम्नतम श्रेणी का है। वादों को छोड़कर अधिकांश लेखों का स्तर बहुत ही असन्तोषजनक (क्षोभजनक है। लेखों का चुनाव बिना किसी सुनिश्चित पूर्व-योजना के यूँ ही कर लिया गया लेख्य लेखों में केवल डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामविलास शर्मा और श्री विष्णु पराड़कर के लेखों का नाम लिया जा सकता है। पुस्तक का संपादन भी भ्रष्ट और अवैज्ञानिक हुआ है।

(ख) 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' : सं० डॉ० इन्द्रनाथ मदान—प्रस्तुत संकलन पर विभिन्न प्रतिष्ठित विद्वानों के उन्नीस लेख हैं; जिनमें से डॉ० मुन्शी-डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री प्रेमनारायण टंडन, श्री विश्वम्भर 'मानव', विष्णु पराड़कर और डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा द्वारा लिखित लेख तियाँ और कला' संग्रह में भी छप चुके हैं। शेष तेरह में से दो स्वयं य के हैं। डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी और श्री के लेख प्रेमचंद पर लिखित उनकी पुस्तकों—क्रमशः 'प्रेमचंद', 'प्रेमचंद : चन' और 'कथाकार प्रेमचंद'—से अविकल उद्धृत किए गए हैं। विशेष-य और महत्त्वपूर्ण लेखों में डॉ० मदान के अतिरिक्त डॉ० रामविलास श्री हंसराज 'रहवर' और श्री गोपालकृष्ण कौल के लेखों का नाम लिया

चिन्तन और कला' में एक लेख—जिसे लेख न कहकर प्रेमचंद पर हना अधिक उपयुक्त होगा—श्री अमृतराय का भी है। यहाँ पर हम एक भ्रांति के निवारणार्थ ही करना चाहते हैं। इस नोट के लेखक ने १८८१ में हुआ माना है,[१] जो स्पष्टतः गलत है। स्वयं प्रेमचंद के के संबंध में इस प्रकार के भ्रामक वक्तव्य की हम अपेक्षा नहीं करते।

ौर कला, पृ० २०१

अमृतराय की यह टिप्पणी उनकी पुस्तक 'नयी समीक्षा' से ली गई है, वहाँ भी यही वर्ष दिया हुआ है।[1] अतः हम इसे प्रूफ की गलती भी नहीं मान सकते। स्पष्ट है कि लेखक ही नहीं संपादक ने भी इस विषय में अपने कर्त्तव्य का पूरा निर्वाह नहीं किया है।

दो-एक अपवादों को छोड़कर संकलित लेखों का स्तर और उनका संपादन संतोषजनक है। डॉ० प्रेमशंकर के शब्दों में **"अपने मिले-जुले रूप में यह संकलन प्रेमचंद के आलोचना-साहित्य की निश्चय ही अभिवृद्धि करता है।"**[2]

(ग) 'प्रेमचंद और गोर्की' : सं० शचीरानी गुर्टू—इसमें दो मत नहीं हो सकते कि प्रेमचंद पर अब तक प्रकाशित संकलनों की तुलना में 'प्रेमचंद और गोर्की' सभी दृष्टिकोणों से प्रेमचंद के जीवन और कृतित्व पर अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक संकलन बन पड़ा है। इसका एक कारण यह है कि लेखों के चुनाव में संपादिका ने अनुपात का पूरा ध्यान रखा है। डॉ० नगेन्द्र और श्री वा० वि० पराड़कर के लेखों को छोड़कर डॉ० मदान अथवा श्री टंडन के संग्रहों से एक भी लेख नहीं दोहराया गया है, जो स्पष्टतः एक स्वस्थ और अनुकरणीय प्रवृत्ति का द्योतक है। आरंभ में प्रेमचंद के जीवन की एक संक्षिप्त रूप-रेखा, उनके कुछ महत्त्वपूर्ण पत्र और प्रेमचद-साहित्य की सूची सम्मिलित करके संपादिका ने निश्चय ही अपना दायित्व निभाने का प्रयास किया है।

सर्वप्रथम हम मुंशी दयानारायण निगम के लेख की चर्चा करना चाहेंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचंद को अत्यन्त निकटता से देखने और समझने का अवसर प्राप्त होने के कारण उनके संबंध में निगम साहब के विचार आवश्यक रूप से प्रामाणिक और विश्वसनीय हैं। लगभग तीस वर्षों तक—प्रेमचंद के साहित्यिक उदयकाल से लेकर उनके देहावसान तक—प्रेमचंद के साथ उनकी मित्रता ही नहीं अपितु सगे भाइयों का-सा संबंध रहा। यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के जीवन और साहित्यिक व्यक्तित्व, उनकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक मान्यताएँ और जीवन-दर्शन को समझने के लिए अकेले इस लेख का जितना महत्त्व है उतना प्रेमचंद पर लिखी गई बड़ी-बड़ी पोथियों का भी नहीं। स्वभावतः मुंशीजी का यह लेख प्रस्तुत संकलन के प्रेमचंद संबंधी भाग की रीढ़ की हड्डी है।

अन्य महत्त्वपूर्ण लेखों में रूसी आलोचक वी० एस० वेसक्रवनी, श्री नरोत्तम नागर, प्रो० चन्द्रबलीसिंह, प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' (अब स्वर्गीय), डॉ० नगेन्द्र, श्री हंसराज 'रहबर', श्री गोपालकृष्ण कौल, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी और श्री नरेश के लेखों का उल्लेख आवश्यक है।

(घ) 'प्रेमचंद के पात्र' : सं० कोमल कोठारी तथा विजयदान देथा—किसी भी महान् साहित्यकार का सही और वैज्ञानिक अध्ययन उसके द्वारा सृजित पात्रों के

---

१. नयी समीक्षा, पृ० २३१ (प्रथम संस्करण)

२. आलोचना : वर्ष ४ अङ्क ३, (अप्रैल १९५५) पृ० ९९

माध्यम से ही किया जा सकता है। पात्रों के द्वारा ही सृष्टा अपने आपको अपनी कृति में व्यक्त करता है। प्रत्येक महान् कलाकार की छोटी-से-छोटी चरित्र-सृष्टि के पीछे कोई-न कोई संकेत, विचार या उद्देश्य अवश्य रहता है; वह यूँ ही निरुद्देश्य किसी पात्र की रचना नहीं करता। निसर्गतः पात्र ही वे जीवित उपकरण हो सकते हैं जिनके माध्यम से उनके निर्माता और रचयिता तक पहुँचा जा सके। एक ही रामकथा कहने वाले वाल्मीकि, भवभूति, तुलसी, केशव, मैथिलीशरण गुप्त, निराला प्रभृति महाकवियों की पारस्परिक भिन्नता और अभिन्नता को उनके राम, सीता, लक्ष्मण, भरत आदि चरित्रों के तुलनात्मक अध्ययन से ही जाना जा सकता है। अस्तु,

प्रस्तुत संकलन में पात्रों के माध्यम से ही प्रेमचन्द के अध्ययन का स्तुत्य प्रयास किया गया है। हिन्दी में इस प्रकार के पात्रपरक अध्ययनों की बहुत कमी है। यह संग्रह हिन्दी-आलोचना के इसी अभाव की पूर्ति का महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इसमें कुल मिलाकर प्रेमचन्द के लगभग पचास पात्रों पर विचार किया गया है, जो सर्वथा मौलिक एवं विचारोत्तेजक है। संग्रह के लेखकों ने पात्रों के 'चरित्र-चित्रण' मात्र से ही सन्तोष नहीं किया है। संग्रह के सभी लेखकों के विषय-प्रतिपादन में एक ताज़गी है, जो हिन्दी के आलोचकों में कम ही पाई जाती है। प्रेमचन्द पर प्रकाशित आलोचना-पुस्तकों में इस संग्रह का स्थान और महत्त्व सबसे अलग और भिन्न प्रकार का है—इसमें सन्देह नहीं। हमारा विश्वास है कि पुस्तक रूप में प्रकाशित 'प्रेरणा' के इस विशेषांक का जितना सम्मान होना चाहिए था उतना अभी नहीं हुआ है। यह हिन्दी का दुर्भाग्य है कि उसमें या तो अच्छी आलोचना-पुस्तकें लिखी नहीं जाती; और यदि लिखी जाती हैं तो उनका यथोचित सम्मान नहीं होता।

(ङ) **'प्रेमचन्द स्मृति' : चयन-अमृतराय**—प्रेमचन्द की तेईसवीं स्मृति-वार्षिकी के अवसर पर हाल ही में प्रकाशित इस संकलन में प्रेमचन्द के अंतिम अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' और संभवतः अंतिम लेख 'महाजनी सभ्यता' के अतिरिक्त 'हंस' और 'जमाना' के स्मृति-अंकों में प्रकाशित तथा समय-समय पर रेडियो से प्रसारित प्रेमचंद के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्मरण संगृहीत किए गए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द के जीवन के इन रोचक संस्मरणों की सहायता से हम उनके कृतित्व के अंतरंग में और अधिक गहराई से झाँक सकते हैं। अतएव 'प्रेमचन्द स्मृति' के प्रकाशन से प्रेमचन्द-विषयक हिंदी-आलोचना के एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। मुंशी दयानारायण निगम, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री वा० वि० पराड़कर के संस्मरण यद्यपि इससे पूर्व भी सुश्री गुर्टू और डॉ० मदान के संकलनों में प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु अन्य सभी संस्मरण पुस्तक रूप में पहली बार हिन्दी जगत् के सम्मुख आए हैं। संकलित संस्मरणों के संदर्भ का भी यदि उल्लेख कर दिया जाता तो निश्चय ही संकलन और भी अधिक वैज्ञानिक और पूर्ण बन जाता। सर्वश्री जैनेन्द्रकुमार, नन्ददुलारे वाजपेयी, मुहम्मद आकिल,

रामवृक्ष बेनीपुरी, सुदर्शन आदि के संस्मरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बाबू जैनेन्द्र कुमार के संस्मरण को सरलता से 'प्रेमचन्द स्मृति' की जान कहा जा सकता है ! संकलन कुल मिलाकर बहुत ही उपयोगी बन पड़ा है—इसमें सन्देह नहीं।

७. प्रेमचन्द की विचारधारा के किसी एक पक्ष पर लिखित पुस्तकें—

(क) **'शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द' : अमृतराय**—इस पुस्तिका के लेखक ने लगभग पचास पृष्ठों में प्रेमचन्द को शान्ति का योद्धा सिद्ध करने का एक जोशीला प्रयास किया है। पुस्तिका का स्वर प्रचारात्मक है, समीक्षात्मक नहीं। उसकी शैली गंभीर समीक्षा-कृतियों के अनुरूप नहीं है; स्थान-स्थान पर वह रिपोर्ताज की शैली के अत्यन्त निकट पहुँच जाती है।[1] 'शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द' के लेखक की आलोचना-शैली में जोश अधिक है, होश कम। कुल मिलाकर इस पुस्तिका को हम एक राजनीतिक 'पैम्फलेट' (Pamphlet) ही कह सकते हैं, समीक्षा-कृति नहीं।

(ख) **'प्रेमचन्द और ग्राम-समस्या' : प्रेमनारायण टंडन**— ग्राम-समस्या के चित्रण में प्रेमचन्द ने सामाजिक यथार्थ को अपने दृष्टिपथ से कभी ओझल नहीं होने दिया। सिद्धान्ततः वे सामाजिक विकास (Social evolution) की शांतिपूर्ण विचारधारा में विश्वास रखते थे, पर सामाजिक यथार्थ के प्रति उनकी इसी ईमानदारी के कारण उनके किसान जाने या अनजाने संघर्ष की क्रांतिकारी डगर पर बढ़ते दिखाई देते हैं। अपने वर्त्तमान के प्रति असंतोष और एक उज्ज्वलतर भविष्य की कामना ही किसी देश अथवा समाज में क्रांति की जनक हुआ करती है। और, इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद के किसानों के हृदय में यह असंतोष और कामना प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। यही कारण है कि प्रेमचंद के किसान अपने शोषकों के हृदय में दया, सहानुभूति और मानवता के भाव जागृत होने की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहते। अपने स्वत्वों की प्राप्ति के हेतु वे संगठित होकर संघर्ष करते हैं। 'प्रेमचंद और ग्राम-समस्या' पुस्तिका का लेखक प्रेमचंद के इस क्रांतिकारी स्वरूप का उद्घाटन करने में नितान्त असफल रहा है। सच तो यह है कि वह इस दिशा में अग्रसर ही नहीं हुआ है। उसका दृष्टिकोण सर्वथा अवैज्ञानिक और अपरिपक्व है। जमींदारों के नाम उसकी निम्नोक्त अपील हमारे मत की पुष्टि करती है:—

"सन्तान का मोह मनुष्य को ही नहीं पशु-पक्षियों तक को होता है। और किसी कारण न सही, तो कम-से-कम यह सोच कर ही कि इन्हीं (किसानों) के कारण हमारे (जमींदार के) पुत्रों को यह सुख मिलता है—न्योछावर करके ही—किसानों के लिए इतना धन-अन्न छोड़ देना चाहिए कि वे फटा-पुराना पहन सकें, मोटा-महीन खा-पी सकें। इतनी सुविधा ही आपसे पाकर ये (किसान) आपके पुत्रों की बढ़ती मनावेंगे।"[2]

---

१. शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द, पृ० ३ (प्रथम संस्करण, १९५०)
२. प्रेमचन्द और ग्राम-समस्या, पृ० ७० (कोष्ठकबद्ध लेखक के) (द्वितीय संस्करण, १९४९)

स्पष्ट है कि इस प्रकार की कच्ची भावुकता के सहारे प्रेमचन्द ग्राम-समस्या का चित्रण करने नहीं चले थे।

प्रस्तुत विषय पर ही एक लेख श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का है, जो 'प्रेमचन्द और देहात' शीर्षक से 'प्रेमचन्द और गोर्की' संकलन में छपा है। श्री टंडन की पुस्तिका और 'अश्क' के लेख में आश्चर्यजनक साम्य है, पर 'अश्क' का लेख अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित है।

८. हिन्दी-उपन्यास और कहानियों पर लिखित ग्रन्थों में प्रेमचन्द की आलोचना—

इस वर्ग के अन्तर्गत उल्लिखित पुस्तकों का यद्यपि प्रेमचन्द-आलोचना में अपना महत्त्व है, पर हम यहाँ उन पर विचार नहीं करेंगे।

९. स्वतन्त्र लेख, रिव्यू, भूमिका आदि—

(क) नन्ददुलारे वाजपेयी : 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी'—इस पुस्तक में प्रेमचन्द पर भी एक लेख है जिसमें वाजपेयीजी ने मुख्य रूप से प्रेमचन्द की साहित्य और कला-संबंधी कतिपय दुर्बलताएँ दिखाई हैं। प्रेमचन्द की सिर्फ तथाकथित दुर्बलताओं पर ही बल दिए जाने के कारण लेख एक हद तक अपूर्ण और एकांगी बन गया है। 'नया साहित्य : नये प्रश्न' की भूमिका में अपनी पहली समीक्षा-कृति 'हिन्दी सहित्य : बीसवीं शताब्दी' पर पुनर्विचार करते हुए स्वयं वाजपेयीजी भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।[1] इस लेख में वाजपेयी जी ने प्रेमचन्द पर कुछ ऐसे आक्षेप किए हैं जो भ्रामक ही नहीं सर्वथा बेबुनियाद भी हैं। उदाहरण के लिए हम उनके इस आक्षेप को ले सकते हैं कि सन् २४-२५-२६ में राष्ट्रीय आन्दोलन के शिथिल पड़ने पर प्रेमचन्द 'कायाकल्प' में हिन्दू संघटन के नेता का रूप धारण कर लेते हैं। इस संबंध में वाजपेयी जी के शब्दों को ज्यों-का-त्यों उद्धृत करना अधिक उचित होगा :—

"ख्वाजा हसन निजामी साहब ने दिल्ली की एक सभा में प्रेमचन्दजी का सत्कार करते हुए कहा था कि जिस जमाने में हिन्दू और मुसलमान गुमराह होकर कट-मर रहे थे और हिन्दू-मुस्लिम नेता वैमनस्य की आग भड़का रहे थे, उस जमाने में प्रेमचन्दजी दर्द भरी कहानियाँ लिखकर राष्ट्रीय प्रीति का सन्देश सुना रहे थे। परन्तु ख्वाजा साहब ने प्रेमचन्दजी का 'कायाकल्प' उपन्यास नहीं पढ़ा होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन के शिथिल पड़ने

---

१. (क) "प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में लिखते हुए मैंने इस पुस्तक में अपनी अभिरुचि को इतनी प्रमुखता दे दी है कि 'सिक्के का एक ही पहलू' प्रकाश में आ पाया है। उनके संपूर्ण स्वरूप को उपस्थित करते हुए मैंने उनपर एक दूसरी पुस्तक लिखी; तब जाकर इसकी क्षति-पूर्ति हुई।"

—नया साहित्य : नये प्रश्न, निकष, पृ० ८

(ख) "प्रेमचन्द के उपन्यासों के इस दुर्बल पक्ष की ओर तो मेरी दृष्टि गई थी, पर उनमें एक सबल पक्ष भी है—अत्यधिक सबल पक्ष—यह मुझे कुछ समय बाद आभासित हुआ।"

—वही, निकष, पृ० १३

पर सन् २४-२५-२६ में प्रेमचन्दजी हिन्दू संघटन के नेता का रूप भी धारण कर चुके हैं। उस समय की वही रवैया थी। प्रेमचन्दजी भी समय के साथ थे।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि वाजपेयीजी का यह 'फैन्टास्टिक' (Fantastic) आक्षेप स्वयं आलोचक की संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधारा का ही परिचायक है। वाजपेयी जी इस आक्षेप के द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रेमचन्द एक बहुत बड़े अवसरवादी थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में उन्होंने राष्ट्रीय प्रीति का सन्देश सुनाया और राष्ट्रीय आन्दोलन के शिथिल पड़ जाने पर वे हिन्दू संघटन के नेता का रूप धारण करके अवतरित हुए। कहना न होगा कि प्रेमचन्द इस प्रकार की दुरंगी चालों से अनभिज्ञ थे।

'हंस' के आत्मकथांक को लेकर प्रेमचन्द और वाजपेयी जी में जो वाद-विवाद हुआ था, वह भी इस पुस्तक में संगृहीत है। यहाँ पर भी वाजपेयी जी ने प्रेमचन्द पर कतिपय आक्षेप लगाए हैं, जिनमें से सर्वप्रमुख यह है :—

"प्रेमचन्द जी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेण्डा-वृत्ति के कारण काफी बदनाम हैं और हिन्दी के बड़े-से-बड़े समीक्षक ने उसकी शिकायत की है। × × × × प्रेमचन्दजी के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष—जो उनकी साहित्य-कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है—यही प्रोपेगेण्डा है।"[2]

वाजपेयी जी के इन लेखों में विवादजन्य आवेश, मानसिक असन्तुलन, बौखलाहट और व्यंग्य अधिक है; तथ्य और सच्चाई कम। हम समझते हैं कि आलोचक की तटस्थता और मानसिक सन्तुलन का अभाव किसी भी बड़े-से-बड़े अथवा छोटे-से-छोटे समीक्षक की कला को कलुषित करने के लिए पर्याप्त है। इन लेखों में आलोचक अपने सन्तुलन को खो बैठा है; और, यही उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है।

(ख) रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' : 'समाज और साहित्य'—'अंचल' के इस संग्रह में प्रेमचन्द पर भी एक लेख है, जिसमें प्रेमचन्द को प्रगतिवादी दृष्टिकोण से समझने-समझाने का निष्फल प्रयास किया गया है। लेख को एकाधिक बार पढ़ लेने पर भी यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि लेखक कहना क्या चाहता है? मार्च १९३४ के 'हंस' में रोमां रोलां पर प्रेमचन्द की एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी। 'अंचल' ने वह पूरी टिप्पणी ज्यों-की-त्यों अपने लेख में फिट कर दी है। हिन्दी-आलोचना में इस प्रकार की हरकतें एक आम बात है, पर उनका विरोध किया जाना जरूरी है। 'अंचल' के इस लेख में मौलिकता का अभाव तो है ही, साथ-साथ उसमें एक अव्यवस्था और बिखरापन भी है। उसके विचारों में इस बिखराव का कारण यह है कि लेखक के पास कहने को कोई नवीन बात नहीं है। इस लेख के लेखक का दृष्टिकोण सर्वथा रूढ़ और एक खूंटे से बँधा हुआ है। इसीलिए वह कहता है कि प्रेमचन्द यदि '**समस्याओं का मार्क्सवादी समाधान देते तो दुनिया के बड़े**

---

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ८८ (इलाहाबाद, १९५८)

२. वही, पृ० ९१

से बड़े लेखक की महानता उन्हें मिलती।'[1] अंचल जी यह भूल जाते हैं कि समस्याओं का मार्क्सवादी समाधान देने मात्र से ही कोई लेखक बड़ा या महान् नहीं बन जाता; अन्यथा वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, रवीन्द्र, शेक्सपियर, गेटे, शेली, टाल्सटाय, गोर्की आदि कभी महान् नहीं कहला सकते थे।

(ग) अमृतराय : 'नयी समीक्षा'—प्रेमचन्द की क्रमशः नवीं और ग्यारहवीं वार्षिकी के अवसर पर लिखी गई दो टिप्पणियाँ इसमें संगृहीत हैं—'प्रेमचन्द और हमारा कथा-साहित्य' तथा 'प्रेमचन्द : एक परिचय'। दूसरी टिप्पणी 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' संग्रह में भी छप चुकी है। दोनों टिप्पणियों का स्वर परिचयात्मक है; स्वभावतः उनमें कोई मौलिकता लक्षित नहीं होती।

(घ) मन्मथनाथ गुप्त : [अ] 'प्रगतिवाद की रूपरेखा'—'प्रेमचन्द की कला पर सरसरी दृष्टि' शीर्षक से गुप्तजी ने अपने 'कथाकार प्रेमचन्द' ग्रन्थ के निष्कर्षों को ही दोहराया है। अपनी उक्त पुस्तक की भाँति प्रस्तुत लेख में भी गुप्तजी की मुख्य प्रतिपत्ति यह है कि प्रेमचन्द जी 'गोदान' में तो आत्म-सचेतन रूप से समाजवाद की ओर झुके हुए हैं ही ; 'सेवासदन' 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' आदि गांधीयुगीन रचनाओं में भी उन्होंने जो गांधीवाद की जय दिखाई है वह वस्तुतः उसकी विजय न होकर पराजय है।[2]

दूसरा लेख प्रेमचन्द के अंतिम अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' पर है। 'मंगलसूत्र' पर प्रेमचन्द के आलोचकों ने अपेक्षाकृत बहुत कम लिखा है। स्वभावतः श्री मन्मथनाथ गुप्त के इस लेख पर विचार करते हुए 'प्रेमचन्द और गोर्की' में संकलित 'मंगलसूत्र' पर ही श्री हंसराज 'रहबर' के लेख का स्मरण हो आता है। दोनों लेखों पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तजी की अपेक्षा 'रहबर' का लेख अधिक संतुलित है। मन्मथनाथ गुप्त के लेख में अनावश्यक विस्तार अधिक है, मतलब की बात कम ! ग्यारह में से लगभग छः पृष्ठ तो उन्होंने 'मंगलसूत्र' की कहानी देने में व्यय कर दिए हैं। अनावश्यक विस्तार गुप्तजी की समीक्षा-शैली का मुख्य लक्षण और पहचान है, जिसे उनके 'कथाकार प्रेमचन्द' ग्रन्थ में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। प्रस्तुतः लेख में भी उनकी इसी प्रवृत्ति का प्रसार मिलता है।

[आ] 'साहित्यकला-समीक्षा'—श्री मन्मथनाथ गुप्त के इस संग्रह में भी प्रेमचन्द पर दो लेख हैं—'प्रेमचन्द का सूरा' तथा 'प्रेमचन्द एक और अविभाज्य'। लेखों में किसी प्रकार की मौलिकता या नवीनता नहीं है, क्योंकि इनमें गुप्त जी ने अपनी 'कथाकार प्रेमचन्द' पुस्तक के विचारों को—यहां तक कि शब्दों को भी—बार-बार दोहराया है। 'प्रेमचन्द एक और अविभाज्य' लेख में स्वयं लेखक इस तथ्य को स्वीकार करता है कि वह इस लेख में कोई ऐसी बात कहने या प्रस्थापनाएँ करने नहीं जा रहा है जिसे वह 'कथा-

---

१. समाज और साहित्य, पृ० १०७

२. प्रगतिवाद की रूपरेखा, पृ० २९ और ३१ (दिल्ली, १९५२)

कार प्रेमचन्द' अथवा प्रेमचन्द-संबंधी अपनी अन्य आलोचनाओं में न कह चुका हो।'[1] पर सवाल यह है कि जब आलोचक को कोई नई बात कहनी ही नहीं है तो फिर एक नया लेख लिखने की आवश्यकता क्या थी ? क्या प्रेमचन्द-आलोचना के परिमाण को बढ़ाना ही आलोचक का उद्देश्य था ? अनावश्यक विस्तार और पुनरावृत्तियों ने गुप्तजी के इन लेखों को सर्वथा अपठनीय (Unreadable) बना दिया है।

(ङ) **विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'हिन्दी का सामयिक साहित्य'**—'प्रेमचन्द जी की प्रवृत्तियां' शीर्षक से लगभग दो पृष्ठों में मिश्रजी ने प्रेमचन्द की तीन-चार मोटी-मोटी विशेषताएं : अतीत की अपेक्षा वर्त्तमान का चित्रण, ग्रामीण जीवन के चित्रण के प्रति अभिरुचि, व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण, असाधारण घटनाओं का अभाव आदि—गिनाने का प्रयास किया है। नोट में कुल मिलाकर कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है।

(च) **पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : 'शिलीमुखी'** (सं० प्रो० विजयेन्द्र स्नातक)–'शिलीमुखी' में प्रेमचन्द संबंधी ६ लेख हैं, जिनमें से 'कायाकल्प' पर एक लेख 'प्रेमचन्द और गोर्की' संकलन में भी छप चुका है। हम उस पर अन्यत्र विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। 'विश्वास' और 'प्रेमचन्द जी का कौशल' लेखों में लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रेमचन्द की 'विश्वास' और 'कौशल' कहानियाँ (दे०—'मानसरोवर', भाग ३) क्रमशः हालकेन के 'इटर्नल सिटी' उपन्यास और मोपासाँ की 'नेकलेस' कहानी की नकल हैं।

पं० 'शिलीमुख' में स्वतन्त्र चिन्तन की पर्याप्त क्षमता है—यह उनके प्रेमचन्द-संबंधी इन लेखों से स्पष्ट हो जाता है। पर हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि प्रेमचन्द को वे एक आलोचक की निष्पक्षता से नहीं परख सके हैं। पं० 'शिलीमुख' के प्रेमचन्द-संबंधी इन लेखों को हिन्दी में पक्षपातपूर्ण आलोचना का ज्वलन्त उदाहरण माना जा सकता है।

प्रेमचन्द के प्रति एक पक्षपातपूर्ण पूर्व-धारणा बनाकर चलने के कारण पं० 'शिलीमुख' को प्रेमचन्द की प्रत्येक बात में ब्राह्मण-विद्वेष और साम्प्रदायिकता की गंध आती है। उनके अनुसार '**ब्राह्मणों को उपहास्य और कुत्सित**' दिखाने के उद्देश्य से ही प्रेमचन्द ने मोपासाँ की 'नेकलेस' (The Diamond Necklace) कहानी (दे०—The Great Short Stories of Guy de Maupassant, Jaico Publishing House) की नायिका (Madame Loisel) के विपरीत अपनी 'कौशल' कहानी की नायिका पंडितानी माया से हार के चोरी चले जाने की झूठ बुलवाई है। मोपासाँ की कहानी में इस जरा-से परिवर्त्तन के द्वारा प्रेमचन्द ने एक ढेले से दो पक्षी मारे हैं—एक तो अपनी चोरी पर पर्दा डाल लिया है और दूसरे ब्राह्मणी नायिका की झूठ और धूर्तता को दिखाया है।[2] इतना ही नहीं, आलोचक का यह दृढ़ विश्वास है कि इसी कहानी

१. साहित्यकला-समीक्षा, पृ० २३२ (दिल्ली, १९५४)
२. शिलीमुखी, पृ० ९५–९६ (प्रथम संस्करण, १९५१)

में नहीं वल्कि "प्रेमचन्दजी के प्रत्येक ग्रन्थ में जहाँ कहीं ब्राह्मणों का जिक्र आया है वहाँ उन्हें उपहास्य और कुत्सित ही दिखाने की चेष्टा की गई है।"[1] 'प्रेमचन्द की कला' शीर्षक लेख में भी आलोचक ने प्रेमचन्द पर अभियोग लगाया है कि 'ब्राह्मणों के सुधार का प्रेमचन्द जी ने ऐसा ठेका लिया है कि एक 'सेवासदन' को छोड़कर सर्वत्र ही ब्राह्मण निन्दनीय और उपहास्य ठहराये गये हैं और उनको जूते लगवाये गये हैं।"[2] इस प्रकार प्रेमचन्द-संबंधी अपनी सभी आलोचनाओं में किसी-न-किसी रूप में प्रेमचन्द के ब्राह्मण-विद्वेष और मुस्लिम-पक्षपात की चर्चा करने के उपरान्त अन्त में पं० 'शिलीमुख' फतवा देते हुए कहते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियाँ "भिन्न-भिन्न समाजों का कोई हित-साधन करने में सफल नहीं हो सकी हैं, हाँ, साम्प्रदायिकता के भावों को वढ़ाने में भले ही उन्होंने सहायता पहुँचाई हो।"[3]

प्रेमचन्द पर आलोचक का दूसरा मुख्य अभियोग यह है कि धनी या विलासी समाज की आलोचना करते हुए वे टालसटॉय की भाँति हृदय की उदारता का निर्वाह नहीं करते—उनमें एक प्रकार का कट्टरपन पाया जाता है।[4] पं० 'शिलीमुख' के अनुसार व्यक्ति और उपसमाज-जन्य भेदों के रहते हुए भी किसी सामान्य सूत्र से आवद्ध एक व्यापक मानवता की भावना तो प्रेमचन्द में मिलती ही नहीं, भारतीय समाज की भी कोई सामान्य भावना उनमें दृष्टिगोचर नहीं होती। समाज के प्रेमचन्द ने दो-दो करके स्पष्ट भेद और वर्ग वना लिए हैं—ग्रामीण और नागरिक, शिक्षित और अशिक्षित, हिन्दू और मुसलमान, किसान और जमींदार, अधिकारी और प्रजा आदि। प्रेमचन्द समाज के इन द्वन्द्वों को परस्पर मिलाने या उनमें सहानुभूति कराने का कोई प्रयत्न नहीं करते, मानों एकमात्र संघर्ष के लिए ही उनकी सृष्टि हुई हो।[5]

हम समझते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द जैसे सहज मानववादी साहित्यकार में साम्प्रदायिक कट्टरता और किसी जाति-विशेष के प्रति पक्षपात अथवा विद्वेष का प्रसार देखना स्वयं अपने दृष्टि-दोष का परिचय देना और हृदयस्थ संकीर्ण साम्प्रदायिक एवं जातीय भावनाओं को ही उजागर करना है। संभवत: आलोचक महोदय यह भूल जाते हैं (अथवा भूलने का स्वाँग करते हैं, क्योंकि इसी में उनका स्वार्थ है) कि वर्ग-संघर्ष या वर्गवाद तो वर्त्तमान समाज-व्यवस्था के मूल में ही निहित है—वह प्रेमचन्द की सृष्टि नहीं है और न ही उनका अभीष्ट। यदि जरा गहराई से देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि वर्गवाद, साम्प्रदायिक विद्वेष और जातीय कट्टरता के प्रचारक प्रेमचन्द नहीं वल्कि

---

१. शिलीमुखी, पृ० ६६
२. वही, पृ० ४२
३. वही, पृ० ११३
४. वही, पृ० १०४
५. वही, पृ० १०१

खुद वे आलोचक हैं जो उन पर इस तरह के आरोप लगाते हैं। प्रेमचन्द और साम्प्रदायिकता में उतना ही अन्तर है जितना कि उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव मे ! प्रेमचन्द का तो उद्देश्य ही एक ऐसे समाज का संगठन है जिसमे साम्प्रदायिकता, जातीयता, वर्ग-संघर्ष, सामाजिक भेदभाव, धार्मिक अत्याचार और आर्थिक शोषण के लिए कोई स्थान नही होगा। प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य में हमे मानवता को विभिन्न वर्गों मे बांटने का प्रयास नही वरन् उसे सुन्दर से सुन्दरतर, मंगल से मंगलतर, पूर्ण से पूर्णतर और अभिन्न से अभिन्नतर भविष्य की ओर ले जाने का सन्देश मिलता है।

पं० 'शिलीमुख' के अतिरिक्त कुछ और व्यक्तियो ने भी (श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', श्री श्रीनाथसिंह आदि) प्रेमचन्द पर यह अभियोग लगाया था कि वे अपने साहित्य मे घृणा का प्रचार करते हैं—ब्राह्मणो के प्रति अब्राह्मण वर्ग की घृणा और जमीदारों के प्रति किसानो की घृणा। इस आरोप का उत्तर देते हुए दिसम्बर '३३ के 'हस' मे प्रेमचन्द ने 'जीवन में घृणा का स्थान' तथा 'साहित्य और कला मे घृणा की उपयोगिता' शीर्षक टिप्पणियो मे घोषणा की थी कि "**पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचण्ड घृणा हो, उतनी ही कल्याणकारी होगी।**"[1] हम समझते हैं कि प्रेमचन्द पर घृणा के प्रचार का आरोप लगाने वाले आलोचको को इससे अधिक स्पष्ट (Positive) और रचनात्मक उत्तर नही दिया जा सकता। हमे यह नही भूलना चाहिए कि प्रेमचन्द की इस तथाकथित घृणा के मूल मे उनका वह प्रेम है जो बहुसख्यक अब्राह्मणो और किसानो से उन्हे था। अर्थात् उनकी घृणा का स्वरूप मूलत. रचनात्मक था, सहारात्मक नही।

हम यहाँ पर यह सकेत कर देना जरूरी समझते हैं कि पं० 'शिलामुख' के इस आक्रोश का वास्तविक कारण यह है कि प्रेमचन्द जमीदारी प्रथा को नष्ट करना और अधिकारियों के अधिकार छीनना चाहते हैं। "**प्रेमचन्द यह नहीं सोचते कि इससे अधिक पुष्ट और वांछनीय अवस्था वह है जिसमें जमींदार और अधिकारी सब सुख के साथ एक दूसरे के सहायक बनकर रह सकें।**"[2] स्पष्ट है कि शिलीमुख जी को वर्त्तमान धर्म, अर्थ और समाज-व्यवस्था पर प्रेमचन्द के निर्मम प्रहार कतई पसन्द नही है। समाज के वर्त्तमान ढाँचे मे किसी प्रकार के क्रातिकारी परिवर्त्तन की तो बात ही क्या, वे उसमे साधारण सुधार की आवश्यकता भी नही समझते। उनके अनुसार '**संसार न कभी एकदम बुरा ही हुआ है और न कभी एकदम अच्छा ही। और न होगा।**'[3] जो आलोचक यह मानकर चले कि "**जितने सुधार की इस संसार में आवश्यकता है वह सब यदि हो**

१. उक्त टिप्पणियों के लिए देखिए—'हंस' दिसम्बर १९३३, पृ० ७३ से ७५

२. शिलीमुखी, पृ० १०३–४

३. वही, पृ० १०५

हो गया तो हमारा भूस्वर्ग निर्जीव, निरुद्योग, आनन्दविहीन हो जायगा"[1]; वह निश्चय ही प्रेमचन्द-साहित्य की मूल आत्मा—जिसे जैनेन्द्र जी 'प्रेमचन्द-तत्त्व' कहते हैं—के अन्वेषण में कृतकार्य नहीं हो सकता। प्रेमचंद अपने जीवन या साहित्य में कभी भी यह आत्म-प्रवंचना स्वीकार नहीं कर सके कि जो कुछ है सब ठीक है, कहीं कोई खराबी नहीं, कहीं कोई कमी नहीं!

पं० 'शिलीमुख' के प्रेमचंद-संबंधी लेखों को प्रेमचंद के विचारों तथा उनकी प्रणाली का स्पष्ट संस्कर्ता मानते हुए 'शिलीमुखी' के संपादक प्रो० विजयेन्द्र स्नातक अपने संपादकीय वक्तव्य में कहते हैं कि इन्हीं लेखों के प्रभावस्वरूप प्रेमचंद के बाद के लेखों में गंभीरता, विवेचनात्मकता और परिष्कृति आई और इन्हीं के कारण वे आदर्शवाद से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर झुके। विद्वान् संपादक का मत है कि इन लेखों में वर्गवाद के विरुद्ध उठाई गई आवाज को भी प्रेमचंद ने अपने बाद के लेखों में प्रकारांतर से स्वीकार कर लिया है। यही कारण है कि उनके बाद के उपन्यासों—'गबन' और 'गोदान'— में वर्गीय कट्टरता का वह रूप नहीं मिलता जो पहले के उपन्यासों में पाया जाता है।[2] यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आलोचक 'शिलीमुख' के प्रेमचंद-संबंधी लेखों का यह विराट् स्तवन शुद्धरूपेण प्रशंसात्मक है, तथ्यात्मक नहीं। पहली बात तो यह है कि प्रेमचंद के बाद के उपन्यासों, कहानियों और लेखों—'कर्मभूमि', 'गोदान', 'मंगल-सूत्र', 'दो बहनें', 'कफन', 'महाजनी सभ्यता'—में तथाकथित वर्गवाद या वर्ग-संघर्ष की भावना उनकी आरम्भिक रचनाओं की तुलना में किसी भी रूप में कम प्रखर नहीं है। प्रेमचंद में वर्ग-संघर्ष की चेतना कम होने के बजाय निरंतर विकसित तथा प्रखर से प्रखर-तर होती गई है और उसका चरमोत्कर्ष उनकी बाद की रचनाओं में देखा जा सकता है। प्रेमचंद के मानसिक विकास की इस मंजिल को झुठलाने का प्रयास सफल नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि प्रेमचंद के साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास के साथ स्वभावतः उनके लेखों एवं अन्य रचनाओं में क्रमशः आने वाली प्रौढ़ता और विवेचनात्मकता तथा स्थूल आदर्शवाद से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद की ओर उनकी क्रमिक विकास-यात्रा का श्रेय पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' अथवा दूसरे किसी आलोचक के दो-चार फुटकर लेखों को नहीं दिया जा सकता। ऐसा करना अवैज्ञानिक ही नहीं असाहित्यिक भी होगा!

(छ) कालिदास कपूर : 'साहित्य-समीक्षा'—श्री कपूर के इस संग्रह में प्रेमचंद के 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' उपन्यासों पर तीन लेख हैं, जो मामूली परि-वर्तित रूप में 'प्रेमचंद : कृतियाँ और कला' संकलन में भी प्रकाशित हो चुके हैं। इन लेखों को हम आरम्भिक प्रेमचंद-आलोचना का नमूना मान सकते हैं। स्वभावतः यदि हिन्दी के

---

१. शिलीमुखी, पृ० ११२
२. वही, संपादकीय पृ० ६–७

'मिल मजदूर' फिल्म काफी लोकप्रिय हुई थी।[1] प्रेमचन्द की यह फिल्म एकदम असफल रही थी और उसके निर्माता को काफी घाटा उठाना पड़ा था।[2] इसी तरह डॉ० मदान का यह वक्तव्य भी चिन्त्य है कि 'जागरण' और 'हंस' में सैकड़ों नहीं हजारों पृष्ठ (?) प्रेमचन्द की संपादकीय टिप्पणियों से भरे हैं।[3]

यहाँ हम प्रेमचन्द की पहली पत्नी की मृत्यु के संबंध में एक उलझनपूर्ण समस्या पर विचार करना चाहते हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के कतिपय प्रश्नों का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने अपने एक पत्र में उन्हें लिखा था: **"मेरी पहली पत्नी १९०४ में मर गई। वह एक अभागी स्त्री थी। वह देखने में तनिक भी अच्छी नहीं थी और मैं उससे सन्तुष्ट नहीं था फिर भी जैसे सभी पति करते हैं, मैं बिना किसी प्रकार के शिकवे-शिकायत के उसका निर्वाह करता रहा। जब वह मर गई तो मैंने एक बाल-विधवा से शादी कर ली और मैं उसके साथ बहुत सुखी हूं।"**[4] डॉ० मदान ने स्वभावत: अपने इस लेख तथा पुस्तक में प्रेमचन्द के इस पत्र को प्रमाण माना है। पर दूसरी ओर श्रीमती शिवरानी देवी का कहना है कि सन् '१४ में भी प्रेमचन्द की पहली पत्नी जीवित थी और उन्हें (शिवरानी देवी को) इस विषय में विवाह के पूरे ९ वर्ष बाद तक धोखे में रखा गया था।[5] जब शिवरानी देवी ने प्रेमचन्द से इस झूठ का कारण पूछा तो उन्होंने कहा बताते हैं कि **'जिसको इंसान समझे कि वह जीवित है, वही जीवित है, जिसे समझे मर गया, वह मर गया।'**[6] संभवत: अपने इसी विश्वास से प्रेरित होकर प्रेमचन्द ने डॉ० मदान को सन् '३५ में उक्त पत्र लिखा होगा। हम इस संबंध में प्रेमचन्द की पत्नी, उनके पुत्रों और अन्य संबंधियों से स्पष्टीकरण के आकांक्षी हैं।

(ढ़) **प्रकाशचन्द्र गुप्त : [अ] 'नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका'**—इस संग्रह में प्रेमचन्द पर तीन लेख हैं जो मामूली परिवर्तित रूप में 'प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला' तथा 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' संकलनों में भी छप चुके हैं। लेखों में कोई मौलिक विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती। 'प्रेमचंद की उपन्यास-कला' शीर्षक लेख में लेखक एक-आध स्थान पर आत्म-विरोधी (Self-contradictory) बातें कह गया है। उदाहरण के लिए पृ० ८० पर वह कहता है **'प्रेमचन्द बुद्धिवादी थे,'** पर आगे चलकर पृ० ८५ पर कहता है **'प्रेमचन्द भावुक थे'**।

[आ] 'आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि'—इस संग्रह में 'प्रेमचन्द की परंपरा' शीर्षक से प्रेमचंद पर एक पाँच-छ: पृष्ठों की टिप्पणी है, जिसमें 'भाषण-तत्त्व' अधिक

---

१. हिन्दी कलाकार, पृ० ३६५
२. प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० २५७, (प्रथम संस्करण, १९५५)
३. हिन्दी कलाकार, पृ० ३६४
४. प्रेमचन्द : एक विवेचन, पृ० १५७–५८
५. प्रेमचन्द : घर में, पृ० २५ से २७ (दिल्ली, १९५६ संस्करण)
६. वही, पृ० २६.

और विवेचनात्मकता कम है। टिप्पणी में प्रेमचन्द पर एक सरसरी दृष्टि डाली गई है, उनके साहित्य या विचारधारा के किसी विशिष्ट पहलू या प्रश्न पर विचार नहीं किया गया है।

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त के दूसरे संग्रहों में भी प्रेमचन्द पर उनके कुछ और लेख उपलब्ध होते हैं, किन्तु हम उन पर यहाँ विचार नहीं करेंगे।

(ण) हंसकुमार तिवारी : 'साहित्यिका'—'साहित्यिका' में 'प्रेमचन्द और उनकी कला' शीर्षक से प्रेमचन्द पर एक बहुत ही सामान्य लेख है। लेख की शैली उच्छवास-पूर्ण है, समीक्षात्मक नहीं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

'प्रेमचन्द ने सैकड़ों कहानियाँ और लगभग एक दर्जन उपन्यासों की रचना की। और सब के सब उत्तम कोटि की रचनाएँ हैं, उनमें मानव-जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का इतना सुन्दर विश्लेषण है कि हृदय बरबस वाह कर उठता है। क्या कथा-वस्तु, क्या पात्र और क्या रचना-कौशल, सब एक से ही सुन्दर हैं।"

—'साहित्यिका' पृ० ११९-२०

× × ×

"भाषा-शैली तो उनकी-सी अन्य ढूंढे नहीं मिलती।"

—वही, पृ० १२०

× × ×

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् हिन्दी साहित्याकाश किसी की निर्मल ज्योति से समुद्भासित हुआ, तो वह चाँद प्रेमचन्द थे।"

—वही, पृ० ११७

× × ×

"अब उनकी अश्रुमय याद ही हमारे लिए सबसे बड़ा सम्बल है।"

—वही, पृ० ११७

स्पष्ट है कि इस प्रकार की शैली का आश्रय लेकर किसी साहित्यकार का गंभीर अध्ययन नहीं किया जा सकता। जब आलोचक के पास कहने को कोई नई बात नहीं होती तभी वह इस प्रकार की 'आह' और 'वाह' वाली शैली ग्रहण करता है।

(त) डॉ० नगेन्द्र : [अ] 'विचार और अनुभूति' तथा [आ] 'विचार और विवेचन'—प्रेमचन्द पर डॉ० नगेन्द्र के दो लेख हैं : 'वाणी के न्याय मन्दिर में' और 'प्रेमचन्द', जो क्रमशः 'विचार और अनुभूति' तथा 'विचार और विवेचन' में संगृहीत हैं। दूसरा लेख 'प्रेमचन्द: चिन्तन और कला' तथा 'प्रेमचन्द और गोर्की' संग्रहों में भी छप चुका है। दोनों ही लेखों में डॉ० नगेन्द्र की मूल स्थापना यह है कि प्रेमचन्द दूसरी श्रेणी के कलाकार हैं, प्रथम श्रेणी के नहीं। डॉ० नगेन्द्र के तर्कों का 'पैटर्न' लगभग वही है जो साहित्य अथवा कला में शाश्वत और चिरन्तन सत्य के चित्रण के पक्षधर आलोचकों तथा विचारकों का सामान्यतः होता है। जिन कारणों से डॉ० नगेन्द्र का मन प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का

स्रष्टा-कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं है, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :—प्रेमचन्द-साहित्य में जीवन की व्यावहारिक समस्याओं का ही प्राधान्य है—अन्तर्जगत की गहनतम समस्याओं को प्रेमचन्द की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया है। अर्थात् प्रेमचन्द में बाह्य जगत् के द्वन्द्वों और भावनाओं का ही वर्णन है, अन्तर्जगत के द्वन्द्वों का नहीं। दूसरी बात यह कि प्रेमचन्द ने अपने युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं को जितना महत्त्व दिया है उतना उस युग की आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं। तीसरी बात यह है कि प्रेमचन्द में सूक्ष्म चिंतन और विश्लेषण-शक्ति का अभाव है। उनका विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता, चिंतन और गम्भीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इस सबका परिणाम डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार यह हुआ है कि प्रेमचन्द की दृष्टि सामयिक प्रश्नों तक ही सीमित रही है, चिरन्तन प्रश्नों तक नहीं पहुंच सकी है।[1]

'वाणी के न्याय-मन्दिर में' भी डॉ० नगेन्द्र ने अपनी इसी मान्यता को एक भिन्न किन्तु रोचक तथा नाटकीय शैली में प्रस्तुत किया है।

दोनों लेखों का आरम्भ दो पृथक् स्थानों व भिन्न रूपों में होता है, पर अन्त तक पहुंचते-पहुंचते उनका मूल स्वर घुल-मिलकर एकाकार हो जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से दोनों में से 'विचार और विवेचन' वाला लेख ही अधिक सन्तुलित अतः महत्त्वपूर्ण है—इसमें दो मत नहीं हो सकते।

(थ) **प्रो० श्रीमती गीतालाल : 'प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ'**—श्रीमती गीतालाल का यह महत्त्वपूर्ण लेख त्रैमासिक 'साहित्य' के जनवरी १९६० के अंक में प्रकाशित हुआ है। हिन्दी-आलोचना का आरम्भ से ही यह दुर्भाग्य रहा है कि उसने अपने कृतिकारों के जीवन और कृतित्व-सम्बन्धी तिथियों के निर्धारण के सम्बन्ध में एक शोचनीय उपेक्षा और उत्तरदायित्वहीनता का भाव ग्रहण किया हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-आलोचना के स्वस्थ और वैज्ञानिक विकास के मार्ग में यह उपेक्षा और उत्तरदायित्वहीनता एक बहुत बड़ी बाधा रही है। प्रेमचन्द-आलोचना भी इस सामान्य तथ्य की अपवाद नहीं रही है। प्रस्तुत लेख एक ओर जहाँ प्रेमचन्द-आलोचना के इस सर्वाधिक दुर्बल पक्ष को अनावृत करके हमारे सामने रखता है वहाँ दूसरी ओर वह प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य सम्बन्धी विभिन्न तिथियों के निर्धारण की दिशा में एक प्रामाणिक तथा महत्त्वपूर्ण प्रयास भी करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह लेख प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियों के निवारण का पहला महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इस लेख के सहारे हम प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य का एक विश्वसनीय (Authentic) काल-क्रम निर्धारित कर सकते हैं। हमें विश्वास है कि श्रीमती लाल का यह शोधपूर्ण लेख प्रेमचन्द-आलोचना और प्रेमचन्द के अध्ययन-अध्यापन को सही अर्थों में एक सर्वथा नई दिशा देने में समर्थ हो सकेगा।

---

१. विचार और विवेचन, पृ० ९९–१०० (द्वितीय संस्करण, १९५३)

प्रेमचन्द-आलोचना पर इस विहंगम दृष्टिपात के पश्चात् अब हम उसकी उपलब्धियों और अभावों पर एक सामान्य दृष्टि डालने की स्थिति में पहुँच गए हैं। प्रेमचन्द-विषयक आलोचनात्मक सामग्री के उक्त पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य पर अभी तक कोई व्यवस्थित एवं योजनाबद्ध कार्य नहीं हो पाया है। इतनी बड़ी संख्या और परिमाण में आलोचनात्मक सामग्री 'उत्पन्न' करके भी हम हिंदी वाले यह दावा करने का साहस (या दुस्साहस ?) नहीं कर सकते कि हमने प्रेमचन्द के सही और गंभीर वैज्ञानिक अध्ययन की नींव डाल दी है। हमारे आलोचक चाहे कितने ही तीव्र स्वर में रूसी समीक्षक 'बेसक्रोवनी के दावे'[1] को झुठलाने की दंभपूर्ण (किन्तु खोखली) घोषणा करें, पर यह स्पष्ट है कि अभी तक वह दावा झुठलाया नहीं जा सका है। बेसक्रोवनी के इस कथन में एक गहरा और मार्मिक सत्य निहित है, अतः उसे प्रचार मात्र कहकर हम उसकी अवज्ञा नहीं कर सकते। सही बात तो यह है कि प्रेमचन्द के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में अभी तक हमने प्राथमिक कार्य भी नहीं किया है। पुनरुक्ति-दोष का खतरा उठा कर भी हम एक बार फिर यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्राथमिक कार्य से हमारा तात्पर्य प्रेमचन्द की रचनाओं के वैज्ञानिक संपादन और प्रकाशन, उनकी कहानियों के रचना अथवा प्रकाशन-काल के निर्धारण, उनके पत्रों तथा संपादकीय लेखों के संकलन एवं एक प्रामाणिक प्रेमचन्द-कोश के निर्माण से है।

प्रेमचन्द-विषयक आलोचनात्मक सामग्री का सामूहिक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उसका एक बहुत बड़ा भाग स्थायी महत्त्व का नहीं है। आरम्भ में प्रेमचन्द पर जो कुछ लिखा गया वह या तो शुद्ध रूप से प्रशंसात्मक था या निंदा-परक। इस आलोचना को हम व्यक्तिगत अथवा जातिगत राग-द्वेष से प्रेरित आलोचना की संज्ञा दे सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस आलोचना में मानसिक सन्तुलन और विचार-गांभीर्य का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार की आलोचना में सर्वश्री रामदास गौड़, अवध उपाध्याय, पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख,' नंददुलारे वाजपेयी, इलाचंद्र जोशी, श्रीनाथ सिंह, ज्योतिप्रसाद 'निर्मल,' जनार्दनप्रसाद झा आदि की आलोचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। उसके बाद अर्थात् प्रेमचन्द की मृत्योपरांत लिखित आलोचना में भी स्थायी महत्त्व की रचनाएँ अधिक नहीं लिखी गईं। परिमाण की दृष्टि से इस काल में ही प्रेमचन्द पर सर्वाधिक पुस्तकें और लेख लिखे गए, किन्तु उनमें से अधिकांश परीक्षोपयोगी

---

१. "यह बात बिल्कुल साफ है और उसका कारण भी सब जानते हैं कि इस भारतीय लेखक को बहुत दिनों तक उसका प्राप्य नहीं मिलेगा, जो कि उसे अपनी महान् साहित्यिक परम्परा के लिए मिलना चाहिए। सिर्फ हमारे देश में, जो कि देशों के बीच सच्चे सहयोग और भाईचारे का देश है, जिसने लेनिन और स्तालिन की जातियों-सम्बन्धी नीति के फलस्वरूप एक खुशहाल ज़िन्दगी को हासिल कर लिया है, प्रेमचन्द का सही गंभीर अध्ययन किया जा सकता है।"

—प्रेमचन्द और उनका युग : डॉ० रामविलास शर्मा, (भूमिका) पृ० ५ पर उद्धृत (द्वितीय संस्करण, १९५५)

रचनाओं की कोटि में आते हैं। दूसरी ओर यदि गंभीर अध्ययन का प्रयास किया भी गया तो वह अपने विशिष्ट पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण के कारण अधिक सफल नहीं हो सका। इधर के कुछ वर्षों में प्रेमचन्द पर कतिपय महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तकें और स्वतन्त्र लेखों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनसे निश्चय ही प्रेमचन्द-आलोचना की गौरव-वृद्धि हुई है, परिमाण-वृद्धि मात्र नहीं। किन्तु अभी प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य के सम्यक् और सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन-अनुशीलन के लिए हमें एक लंबी मंजिल तय करनी है। अतएव हम अभी यह नहीं कह सकते कि हमने इस महान् लेखक को उसका दाय दे दिया है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव

यूं तो आज का युग अनेक परस्पर विरोधी जीवन-दर्शनों को लेकर आगे बढ़ा है, किन्तु युग-चेतना एवं युगाकांक्षाओं का सम्यक् प्रतिफलन समाजवादी[1] विचारधारा में ही हो सका है। भारत के राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक जीवन में समाजवादी विचार-धारा—राजनीति की शब्दावली में वामपक्षीय विचारधारा—का एक निश्चित जीवन-दर्शन के रूप में सूत्रपात सन् १९३५-'३६ के आस-पास से माना जा सकता है। इससे पूर्व यहाँ गांधीवादी तथा अन्य दक्षिणपक्षीय आदर्शवादी विचारधाराओं का बोल-बाला था। वामपक्षीय एवं दक्षिणपक्षीय राजनीति के शब्द हैं, अतः इनमें अपेक्षित साहित्यिक गरिमा का एकान्ततः अभाव है; किन्तु इनके पीछे आधुनिक जीवन की प्रेरक दो निश्चित चिंता-धाराएँ—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) तथा आदर्शवाद (Idealism)—हैं। आदर्शवाद—जिसके लिए अधिक उपयुक्त शब्द भाववाद है—कोई नवीन क्रांतिकारी जीवन-दर्शन नहीं है। यह एक अन्तर्मुखी जीवन-दर्शन है जिसके अनुसार जीवन का अंतिम सत्य विचार अर्थात् आत्मा है, बाह्यजगत् अर्थात् भौतिक शरीर नहीं। इसके अनुसार जीवन की चरम सिद्धि भौतिक जीवन का उत्कर्ष मात्र नहीं है। स्पष्ट है कि आदर्शवाद जीवन के आन्तरिक मूल्यों पर अधिक बल देता है। परंपरा मे परम विश्वास इस विचारधारा की प्रमुख विशेषता है। यह आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में स्थिति को ज्यों-का-त्यों (Status quo) बनाए रखने का प्रयास करता है।[2] इसके

१. यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग हमने समाजवाद, साम्यवाद, कम्युनिज्म के मिले-जुले सामान्य अर्थ में किया है, किसी विशिष्ट अर्थ में नहीं!

२. "*Idealism : The philosophy which asserts the primacy of spirit to* nature; one of the "two main camps" in philosophy, the other being materialism. Idealism (a) regards the world as the embodiment of an "absolute idea," "universal spirit", "elan vital", God, "creative force", etc.; (b) declares the mind to be the basic reality, ×××× Philosophical idealism expresses in the last analysis the tendencies and ideology of the exploiting ruling classes. ××× *Idealism in philosophy* must not be confused

विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बहिर्मुखी दृष्टिकोण-सम्पृक्त क्रांति और विद्रोह के मार्ग पर चलने वाला साम्योन्मुख भौतिक जीवन-दर्शन है जो जीवन के किसी आध्यात्मिक सत्य में विश्वास न करके इसी नाना रूपात्मक पंचभूतमय जगत् को जीवन का अंतिम सत्य उद्घोषित करता है। वह इस विश्व में पदार्थ (Matter) से ऊपर अन्य किसी वस्तु या विचार की सत्ता नहीं मानता। उसके अनुसार इस विश्व में केवल एक ही सत्ता है—आधिभौतिक। आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सत्ताओं का वस्तुत: कोई अस्तित्व नहीं है, वह केवल मन की छलना है।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक युग से पूर्व भी जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों को ही अंतिम सत्य मानने से साहसपूर्वक इंकार करने वाले विचारक-मनीषी समय-समय पर होते रहे हैं, किन्तु प्राधान्य जीवन के आध्यात्मिक उत्कर्ष को ही चरम लक्ष्य मानकर चलने वाले आदर्शवादी जीवन-दर्शन अथवा जीवन-दर्शनों का रहा है। मानव-सभ्यता के इतिहास में संभवतः सबसे पहली बार मार्क्सवाद ने इस आध्यात्मिक विचारधारा को एक निश्चित और वैज्ञानिक चुनौती दी तथा हमारे जीवन, समाज एवं साहित्य का एक क्रांतिकारी और स्वस्थ आदर्श (जो धार्मिक न होते हुए भी सही अर्थों में धर्म के सर्वाधिक निकट है) उपस्थित किया। इसके विपरीत गांधीवाद उसी परंपराभुक्त अध्यात्मवादी चिन्तनधारा की अपेक्षाकृत अधिक व्यापक एवं विस्तृत व्याख्या है। यद्यपि मार्क्सवाद तथा गांधीवाद दोनों ने ही आधुनिक हिंदी साहित्य को प्रभावित किया है, उसे प्रेरणा और दिशा प्रदान की है; किन्तु यह स्पष्ट है कि मार्क्सवाद के समान गांधीवाद हिंदी साहित्य में एक विशिष्ट साहित्यिक आंदोलन का शक्तिशाली माध्यम नहीं प्राप्त कर सका। यह भी स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य पर इन विचारधाराओं का प्रभाव दो भिन्न

---

with idealism in ethical or moral sense of the word. Ethically, idealism denotes devotion to a worthwhile cause, i. e., struggle for an objective which serves humanity".

—Marxist Glossary : L. Harry Gould, P. 26 (Sydney, 1960)

१. "Materialism : The philosophy which asserts that the world exists independently of consciousness, sensation or experience. ××××× "The doctrine of the independence of the outer world from consciousness (sensation, experience) is the fundamental proposition of materialism" (Lenin). Hence, mere consciousness by itself (thoughts, hopes, etc.) cannot change the objective world of nature (e. g. occurrence of floods) and society (e. g. economic crises); only action, practice, can do so."

—Ibid, P. 32.

कारणों से पड़ा। जहाँ मार्क्सवाद का प्रभाव समाज की वर्त्तमान असन्तोपजनक अर्थ-व्यवस्था के कारण उद्बुद्ध सामाजिक तथा ऐतिहासिक चेतना के स्वाभाविक परिणाम के रूप में पड़ा, वहाँ गांधीवाद ने मुख्यतः राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के माध्यम से हिंदी साहित्य को प्रभावित किया। अतः डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल की इस स्थापना के संबंध में दो मत नहीं हो सकते कि गांधीवादी विचारधारा ने हमारे साहित्य को प्रसंग-वशात् ही प्रभावित किया है, साहित्यिक लक्ष्य के रूप में वह कभी भी स्वीकार नहीं की गई।[1]

भारत को ब्रिटिश शासन की एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उसने भारतवासियों के हृदय में सभी प्रकार की दासता—राजनीतिक पराधीनता, सामाजिक रूढ़ियाँ, धार्मिक अंधविश्वास, आर्थिक शोपण—के प्रति एक तीव्र असन्तोप की भावना को जन्म दिया; जिसे उस समय के विभिन्न समाज-सुधार तथा धार्मिक आंदोलनों, आतंकवादी क्रांतिकारियों की गति-विधियों, कांग्रेस के सत्याग्रह आंदोलनों, किसान आंदोलनों तथा ट्रेड यूनियन मूवमेंट (Trade union movement) के अद्‌भुत (Phenomenal) प्रसार में देखा जा सकता है। असंतोप की यह भावना केवल किसी एक क्षेत्र-विशेप तक सीमित न रहकर क्रमशः समाज के सभी अंगों तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में फैलती गई। क्रांतिकारी एवं महान हलचलों के इस युग में स्वभावतः भारतीय साहित्यकार का इनसे प्रभावित न होना संभव नहीं था। भारतीय साहित्य ने सदा से जन-जीवन का सही और यथार्थ प्रतिनिधित्व किया है। इस युग में भी वह इसका अपवाद नहीं हो सकता था। सामूहिक राष्ट्रीय जन-जागृति के इस अभूतपूर्व युग में भारतीय साहित्यकार के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

हिंदी के साहित्यकार ने देश के सम्मुख उपस्थित इस विकट परीक्षा के काल में जो कुछ किया है उस पर विश्व की किसी भी भाषा को गर्व हो सकता है। एक ओर उसने विदेशी साम्राज्यवाद की उस नृशंस नीति का सामना किया जो भारत से अपने फंदे को किसी भी हालत मे ढीला नहीं करना चाहती थी— अतः वह किसी भी रूप में विचार-स्वातंत्र्य और विदेशी शासन के विरोध की भावना को बढ़ावा नहीं देना चाहती थी। दूसरी ओर उसे अपने ही देश के सामाजिक, धार्मिक आदि अंधविश्वासों और रूढ़ियों तथा निहित स्वार्थों से मोर्चा लेना पड़ा जो उसे भारतीय सांस्कृतिक परंपरा से अनभिज्ञ सिद्ध करने पर तुले हुए थे। पर हिंदी का लेखक इस दोहरे विरोध के सामने झुका नहीं। विभिन्न

१. "......किन्तु यहाँ पर यह बात स्मरणीय है कि जिस प्रकार गांधी-विचारधारा राजनीति का प्रधान अङ्ग होकर उपस्थित हुई, उस प्रकार उसका ग्रहण साहित्य में कभी नहीं हुआ। राजनीतिक क्षेत्र में तथा जीवन के वैयक्तिक विकास में तो गांधीवादी विचार अपना विशेप प्रभाव रखते अवश्य रहे हैं, किन्तु साहित्य ने कभी इसे लक्ष्यरूप से स्वीकार नहीं किया है। यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाओं में प्रसंग-वशात् यत्र-तत्र गांधी-विचारधारा का दर्शन भले ही हो जाता है, किन्तु रूप में उसीको मानकर रचनाएँ नहीं की गई हैं।"

—हिन्दी साहित्य में विविध वाद, पृ० २३६ (प्रथम संस्करण)

प्रकार के विरोधों और आक्रमणों का उसने साहसपूर्वक मुकाबला ही नहीं किया बल्कि देश की प्रगतिशील शक्तियों तथा परंपराओं को वह बराबर नैतिक सहायता प्रदान करता रहा। वह आधुनिक भारत की उस सामाजिक, धार्मिक, राजनितिक तथा आर्थिक जन-जागृति—जिसका नेतृत्व राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक और गांधी जी ने किया—का सहायक ही नहीं, एक बहुत बड़ी प्रेरक शक्ति भी रहा है।

गांधी-युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता—भारत का सांस्कृतिक-राष्ट्रीय नवोत्थान—का पूर्वाभास प्राक् गांधी-युग के साहित्य में ही पर्याप्त स्पष्ट रूप से मिलने लगता है। प्राक् गांधी-युग (भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग) के साहित्य का वादी स्वर देश-प्रेम तथा समाज-सुधार से अनुस्यूत नव जागरण है; जो ब्राह्म समाज, आर्य समाज, कांग्रेस प्रभृति संस्थाओं के माध्यम से देश में व्याप्त हो रहा था। यह एक बहुत ही उत्साह-वर्धक तथ्य है कि आधुनिक हिंदी साहित्य का आरंभ ही भारतीय जनता की अधूरी आशाओं और आकांक्षाओं, उसके असंतोष और संघर्षों की अत्यन्त सशक्त तथा सप्राण अभिव्यक्ति के रूप में होता है। जन-जीवन से पूर्णत: विच्छिन्न रीतिकालीन साहित्य के दो सौ वर्षों के बाद भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों की वाणी ने एक बार फिर हिंदी साहित्य का जीवन और समाज से घनिष्ठ संबंध स्थापित किया।[1] आधुनिक काल में बल प्राप्त करने वाले अनेक सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों के अंकुर भारतेन्दु-युग (संवत् १९२५–१९५०) के साहित्य में अत्यन्त प्रखर रूप से देखे जा सकते हैं। यदि हम डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों को उद्धृत करें तो कह सकते हैं कि **"हिन्द प्रदेश में स्वदेशी आंदोलन के जन्मदाता और देश के लिए बलिदान का पाठ पढ़ाने वाले भारतेन्दु ही थे।"**[2] स्यात् हिंदी के पाठकों को यह जानकर आश्चर्य हो कि सन् १८७४ में ही भारतेन्दु ने "कविवचन-सुधा" में स्वदेशी के व्यवहार के लिए एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखा और उस पर

---

१. "इससे भी बड़ा काम उन्होंने (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने) यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य्य में लाए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देश-हित, समाज-हित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति, शृंगार आदि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। ×× देशकाल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। ×× पर हिंदी-साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया।"

—हिंदी-साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४४९–५०
(कोष्ठकबद्ध लेखक के) (सं० २००६ संस्करण)

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० ४६ (दिल्ली, १९५३)

लोगों के हस्ताक्षर करवाए थे।[1] भारतेन्दु-युग के कवियों में यद्यपि राजभक्ति तथा अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा का स्वर भी यत्र-तत्र मिल जाता है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनकी वाणी का सबसे ऊँचा और प्रधान स्वर देश-भक्ति और समाज-सुधार का स्वर था। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन लेखकों की सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना अत्यन्त प्रबुद्ध थी। तभी वे भारतेन्दु के शब्दों में **"पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी"** कहकर भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और विदेशी पूंजी के शोषण के मूल पर प्रहार कर सके। उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी (प्रेमधन) के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निम्नोक्त शब्द उस युग के दूसरे साहित्यिकों के संदर्भ में भी सरलता से उद्धृत किए जा सकते हैं : **"देश की राजनीतिक परिस्थिति पर इनकी दृष्टि बराबर रहती थी। देश की दशा सुधारने के लिये जो राजनीतिक या धर्म-संबंधी आंदोलन चलते रहे, उन्हें ये बड़ी उत्कंठा से परखा करते थे। जब कहीं कुछ सफलता दिखाई पड़ती, तब लेखों और कविताओं द्वारा हर्ष प्रकट करते; और जब बुरे लक्षण दिखाई देते, तब क्षोभ और खिन्नता। कांग्रेस के अधिवेशनों में ये प्राय: जाते थे।"**[2] यहाँ पर इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि भारतेन्दु-मंडल के लेखकों की इस देश-भक्ति का स्रोत हिन्दू राष्ट्रवाद की भावना में नहीं खोजा जाना चाहिए। भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों में अद्भुत धार्मिक उदारता और दृष्टिकोण की व्यापकता मिलती है। संकीर्णता—चाहे वह किसी भी प्रकार की हो—उनमें रत्ती भर भी नहीं थी।[3] इस युग का साहित्यकार निस्सन्देह भारतीय संस्कृति का प्रशंसक था और इसीलिए उसने विदेशी रहन-सहन, आचार-विचार आदि का अंधानुकरण करने वाले देशवासियों को अपने व्यंग्य, उपहास और आलोचना का लक्ष्य बनाया; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसने गतानुगतिकता, रूढ़िवादिता अथवा कूप-मण्डूकता का प्रचार किया हो। इसके विपरीत वह देश में औद्योगीकरण और कला-कौशल की शिक्षा के प्रचार तथा प्रसार के हेतु लोगों का आह्वान करता है।[4]

द्विवेदी-युग (संवत् १९५०–१९७५) के साहित्यकारों ने भारतेन्दु-युग की इस उज्ज्वल और गौरवपूर्ण परंपरा को निभाया ही नहीं बल्कि उसे आगे भी बढ़ाया। उन्होंने

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० ४४

२. हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५९२

३. "धार्मिक विद्वेष के बदले उन्होंने हिन्दुओं मुसलमानों में भाई-चारे, परस्पर सहयोग और मिलकर उन्नति करने की बात कही। जब घर में आग लगी हो, तब उसे मिलकर बुझाने की अपील करके उन्होंने दोनों की देश-भक्ति को जगाया। × × × स्वदेशी के साथ स्वदेश के लोगों की एकता का प्रचार करना उनके लिए स्वाभाविक ही था।"

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० ५६

४. वही, पृ० ४६–५०

अपनी रचनाओं द्वारा भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन तथा कांग्रेस की गति-विधियों को ही प्रोत्साहन नहीं दिया प्रत्युत् देशी और विदेशी पूंजीवाद के शोषण का भी तीव्र विरोध किया। एक ओर यदि उन्होंने जमींदारों द्वारा किसानों के आर्थिक शोषण तथा पुरोहितों-पुजारियों द्वारा धार्मिक शोषण का विरोध किया तो दूसरी ओर वकील, डाक्टर आदि शिक्षित वर्गों की हृदयहीन लूट-खसोट तथा नौकरशाही, पुलिस और सरकारी अमलों की रिश्वतखोरी का विरोध किया। आधुनिक युग का हिंदी-साहित्यकार राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों का अनुसरणकर्त्ता मात्र ही नहीं, उनका अगुआ भी रहा है। हम देख चुके हैं कि राजनीति में स्वदेशी-आंदोलन के जन्म से पूर्व ही सन् १८७४ में भारतेन्दु के नेतृत्व में उस युग का साहित्यकार इस आंदोलन का विधिवत् सूत्रपात कर चुका था। द्विवेदी-युग का साहित्यकार भी इस सामान्य तथ्य का अपवाद नहीं है। वंग-भंग के आंदोलन से पूर्व ही सन् १९०३ में भारतेन्दु के स्वर में स्वर मिलाकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्वदेशी के व्यवहार के लिए देशवासियों से इन शब्दों में निवेदन किया था :—

> **"स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै ; विनय इतना हमारा मान लीजै।**
> **शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो ; न जाओ पास ; उससे दूर भागो।"[1]**

द्विवेदी-युग तक आते-आते भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम में काफी गति एवं तीव्रता आ गई थी। स्वभावतः यह संभव नहीं था कि इस आंदोलन के परिपार्श्व और उसकी छाया में रचित साहित्य में देश-भक्ति तथा दूसरी सम्बद्ध भावनाओं की प्राणवान अभिव्यक्ति न हो। इस युग के साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं पर एक सामान्य दृष्टिपात ही से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के हिंदी के लेखक ने स्वतंत्रता-आंदोलन में कितना महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक योगदान दिया है। उसके लिए 'कला कला के लिए' जैसी उक्तियों का अस्तित्व ही नहीं था। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'[2], पं० रामचरित उपाध्याय, पं० माधवप्रसाद मिश्र, नाथूराम शंकर शर्मा, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० रामनरेश त्रिपाठी, ब्रजनारायण चकवस्त, बालमुकुन्द गुप्त, लक्ष्मणसिंह क्षत्रिय 'मयंक', भगवन्नारायण भार्गव, बदरीनाथ भट्ट, गोपालशरण सिंह तथा दूसरे ज्ञात-अज्ञात अनेक साहित्यकारों की वाणी में तत्कालीन जीवन का राष्ट्रीय ओज और क्षोभ मूर्त्त हो उठा है।

द्विवेदी-युग के समाप्त होने पर सन् १९१८—'१९ से भारतीय राजनीति में गांधी-युग का उदय होता है। स्पष्ट है कि भारतेन्दु या द्विवेदी-युग में रचित साहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव नहीं माना जा सकता, हालांकि उसमें उन सब आंदोलनों और भावनाओं की प्रतिध्वनि मिलती है जिन्हें आगे चलकर महात्मा गांधी ने अपनाया अथवा विकसित किया। कथा-साहित्य में जिसे प्रेमचन्द-युग कहा जाता है और कविता में जिसे छायावाद-

---

१. सरस्वती : जुलाई १९०३, पृ० २३४

२. राष्ट्रीय कविताओं में सनेही जी ने अपना उपनाम 'त्रिशूल' रखा है।

युग अथवा नई धारा का तृतीय उत्थान-काल, राजनीति में उसे ही गांधी-युग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस युग के संबंध में एक विशिष्ट उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय राजनीति के इतिहास में भी इसका उतना ही महत्त्व है जितना हिंदी साहित्य के इतिहास में। भारत की राजनीति ने ही नही हिंदी साहित्य ने भी इस युग में एक नवीन और क्रांतिकारी मोड़ ग्रहण किया। उपलब्धि की दृष्टि से भी यह युग दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। क्रांतिकारी एवं महान् हलचलों के इस युग में स्वभावत: साहित्यकार युग-चेतना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। अत: अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकार के समान हिंदी के लेखक ने भी इन हलचलों का अपनी कृतियों में यथातथ्य अंकन ही नही किया प्रत्युत् उनमें प्रत्यक्ष रूप से भाग भी लिया है।

यूँ तो इस युग का कदाचित् ही कोई कवि या लेखक ऐसा हो जो गांधी के व्यक्तित्व से प्रभावित न हुआ हो अथवा जिसने अपनी रचनाओं में गांधी से प्रभावित युगीन आंदोलनो तथा हलचलों का चित्रण न किया हो, किन्तु गांधी-दर्शन की स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति बहुत ही कम साहित्यकारो मे मिलती है। 'गांधी-युग के प्रभाव' और 'गांधीवाद के प्रभाव' के मध्य किसी प्रकार की व्यावर्तक रेखा खींचना सुसाध्य न होने पर भी अन्तत: दोनों में अंतर निस्सन्देह है। एक विशिष्ट युग की विभिन्न हलचलों से प्रेरित होकर साहित्य-प्रणयन एक बात है और किसी जीवन-दर्शन के सिद्धान्तो तथा निष्कर्षो को आत्मसात् करके उनके अनुसार साहित्य-रचना दूसरी बात ! गांधीजी को अपना एकमात्र नेता और सर्वाधिकार-संपन्न 'डिक्टेटर' (तानाशाह!) मानकर भी जिस तरह कांग्रेस ने उनकी अहिंसा को सिद्धान्त-रूप मे नही, नीति या युद्ध-कौशल (Strategy) के रूप में ही स्वीकार किया; ठीक उसी तरह हिंदी के साहित्यकार ने भी महात्मा जी के मूलभूत सिद्धान्तों को जीवित विश्वास के रूप मे नही अपनाया। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि गांधी-दर्शन के दो पक्ष हैं: चिंतन या विचार-पक्ष तथा कर्म या व्यवहार-पक्ष।[1] राजनीति के समान साहित्य मे भी गांधीवाद का केवल कर्म-पक्ष अथवा व्यावहारिक कार्यक्रम (साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता-निवारण, मद्य-निषेध, खादी, स्त्रियों की उन्नति, राष्ट्रीय स्वाधीनता आदि) ही ग्रहण किया गया। अत: हम देखते हैं कि गांधी-युग अथवा उत्तर गांधी-युग के साहित्य मे गांधी-दर्शन के वैचारिक पक्ष की अभिव्यक्ति अत्यन्त विरल है; और जहाँ है भी, वहाँ अत्यधिक शिथिल तथा शब्दाडंबर के रूप में है—जीवित विश्वास के रूप मे नहीं।

जिन आधुनिक साहित्यकारों पर गांधीजी की विचारधारा का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव माना जा सकता है उनमे मुख्य रूप से सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार, मैथलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सुमित्रानन्दन पंत, सोहनलाल द्विवेदी, विष्णु प्रभाकर, अमृतलाल नागर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि का नामोल्लेख किया

---

१. प्रस्तुत पुस्तक, अध्याय ३

जा सकता है। मैथलीशरण गुप्त ने गांधीवाद को स्वदेशी तथा असहयोग आंदोलन जैसे सामयिक आंदोलनों के माध्यम से अपनाया है। गांधी-दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों के प्रति उनका उतना आग्रह नहीं है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन सिद्धान्तों में गुप्त जी की अनास्था है। अनास्था न होने पर भी आस्था का होना सर्वथा आवश्यक नहीं है। व्यक्तिगत रूप से गांधी जी के भक्त होते हुए भी गुप्त जी उनके सत्य और अहिंसा को सिद्धान्त रूप में नहीं अपना सके हैं। कदाचित् इसका कारण उनका लोकपक्ष में ही अधिक रुचने वाला वहिर्मुखी दृष्टिकोण है। इसके विपरीत सियारामशरण जी ने गांधीवाद के किसी एक खंड-विशेष को नहीं वरन् उसके सम्पूर्ण दर्शन को ग्रहण किया है। गांधी-दर्शन में उन्हें अपने मनोनुकूल जीवन-दर्शन प्राप्त हुआ है। सियारामशरण गुप्त के 'उन्मुक्त', 'वापू', 'नोआखाली', 'मृण्मयी', 'आत्मोत्सर्ग', 'आर्द्रा', 'अनाथ' आदि काव्य-ग्रन्थों तथा 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' उपन्यासों में गांधीवाद के तात्विक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों की अत्यन्त सजीव अभिव्यक्ति हुई है। डॉ० देवराज उपाध्याय के मतानुसार सियारामशरण जी के उपन्यास ही हिंदी के एकमात्र गांधीवादी उपन्यास हैं।[1] डॉ० उपाध्याय ने सियारामशरण जी के उपन्यासों में अनुप्राणित जिस 'सहज भाव' की बात कही है वह उनके समस्त साहित्य में अन्तःसलिला के समान आद्यन्त प्रवाहित है। डॉ० नगेन्द्र ने उनके काव्य के संबंध में जो चार धारणाएँ स्थिर की हैं, उनमें से तीसरी धारणा इसी तथ्य को प्रकट करती है।[2]

सियारामशरण गुप्त के पश्चात् यद्यपि जैनेन्द्र ही गांधी-दर्शन के सर्वाधिक निकट हैं, किंतु उन्होंने गांधीवाद को शुद्ध बौद्धिक माध्यम से ग्रहण किया है। और, क्योंकि स्वयं गांधी-दर्शन में हार्दिकता अधिक एवं बौद्धिकता कम है, अतः अंतिम विश्लेषण में सियाराम

---

१. "ऊपर की बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सियारामशरण जी के कथा-साहित्य पर गाँधीवाद के सत्य और अहिंसा का पूर्ण प्रभाव पड़ा है और इस प्रभाव का दर्शन उसके आन्तरिक और वाह्य अर्थात् विषय-निर्वाचन तथा उसके वाह्य कलेवर दोनों में पाया जा सकता है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में भी सत्य और अहिंसा के प्रति इतनी गहरी आस्था नहीं दिखलाई पड़ती। गाँधी जी के नाम से भारत के राजनीतिक आन्दोलन और उसकी उग्रता कुछ इस तरह संबद्ध हो गयी है कि उन्हें इन हलचलों से अलग देखना कठिन हो जाता है; पर वास्तव में वे संतों की परंपरा में आते हैं। जीवन को सहज भाव से स्वीकार करने वाले—कहीं भी विरोध नहीं, कहीं भी निषेध नहीं, भारी-से-भारी विरोध को भी अपनी सहजता से हल देने वाले। यह सहज भाव उपन्यास में देखना हो और आप मुझ से कहें कि हिन्दी का कोई उपन्यास बतलाइये तो मैं सियारामशरण जी के उपन्यास की ओर संकेत करूँगा, प्रेमचन्द की ओर नहीं, जैनेन्द्र की ओर भी नहीं।" (सियारामशरण के उपन्यास : डॉ० देवराज उपाध्याय)

—सियारामशरण गुप्त : संपादक-डॉ० नगेन्द्र, पृ० १०६ (प्रथम संस्करण, १९५०)

२. "इस कविता का प्रभाव एकान्त सात्विक और शान्तिमय होता है।" (डॉ० नगेन्द्र)

—वही, पृ० ६६

जी ही गांधी-दर्शन के सर्वाधिक निकट ठहरते हैं।[1] जैनेन्द्रजी का व्यक्तिवादी अहं अत्यन्त जागरूक और प्रबुद्ध है। अतः गांधी-दर्शन के साथ वे अभी पूर्ण समझौता नहीं कर पाये हैं। गांधी-दर्शन का मूल ध्येय है—जीव मात्र के साथ आध्यात्मिक एकता की अनुभूति। आत्मा को परात्म में पूर्णतः विलीन किए बिना इस ध्येय को नहीं साधा जा सकता। जैनेन्द्रजी का अहं इस आत्म-निषेध के सर्वथा प्रतिकूल है।

आधुनिक हिंदी साहित्य पर गांधीवाद के प्रभाव की चर्चा करते हुए सुमित्रानंदन पंत और सोहनलाल द्विवेदी को भी नहीं भुलाया जा सकता। पंतजी की 'युगान्त', 'ग्राम्या' प्रभृति काव्य-कृतियों में गांधी-दर्शन के प्रभाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। किन्तु गांधी-दर्शन में स्वप्नदर्शी पंत जी संभवतः वह वस्तु नहीं पा सके जिसकी उन्हें खोज थी, फलतः क्रमशः उनका रुझान अरविन्द की आध्यात्मिक-साधना की ओर होने लगा। सोहनलाल द्विवेदी के काव्य में राष्ट्रीय भावनाओं का स्फुरण अत्यन्त सहज-स्वाभाविक रूप में हुआ है। गांधीवाद इस युग की राष्ट्रीयता के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, अतः उनके काव्य में गांधी के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा-भक्ति की भावना, उनके सत्याग्रहान्दोलन में अटूट विश्वास, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की कामना, खादी का प्रचार, किसानों का संगठन आदि राष्ट्रीय भावनाएँ एवं समस्याएँ बड़ी सजीव और प्राणवान शैली में अंकित हुई हैं। उनकी राष्ट्रीय रचनाओं के संग्रह 'सेवाग्राम' की कई रचनाएँ—उदाहरणार्थ 'खादी गीत', 'हिन्दुस्तान', 'किसान', 'सेगांव का सन्त', 'दांडी यात्रा', 'बेतवा का सत्याग्रह', 'ग्राम का आमन्त्रण', 'सेवाग्राम', 'बापू', 'आजादी के फूलों पर' आदि—महात्मा गांधी के व्यक्तित्व और उनके विचारों से अनुप्राणित हैं। द्विवेदी जी की राष्ट्रीयता की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह मानवता का अपरिहार्य अंग बनकर व्यक्त हुई है, उसमें संकीर्ण राष्ट्र-वादिता का समावेश नहीं है। गांधी-दर्शन की रचना आत्म-बलिदान तथा त्याग की-भावना के आधार पर हुई है। द्विवेदी जी के एक अन्य कविता-संग्रह 'वासवदत्ता' की प्रत्येक रचना में आद्यन्त यही भावना अनुस्यूत है।

हिंदी-कथाकारों पर गांधीवाद के प्रभाव की चर्चा करते हुए आलोचकों ने यद्यपि

---

१. "—हिन्दी में मूलतः दो लेखक ऐसे हैं जिन्होंने गांधी-दर्शन को गंभीरतापूर्वक ग्रहण किया है—जैनेन्द्र और सियारामशरण। इनमें से जैनेन्द्र की स्वीकृति एकान्त बौद्धिक है, उनकी आत्मा गांधी-दर्शन के शम् सात्विक प्रभाव को ग्रहण नहीं कर सकी है। पंत जी को गांधी-दर्शन की शान्ति परिष्कृति पूर्णतः स्वीकार्य है, किन्तु वे कदाचित उसमें अभीष्ट कला का अभाव पाते हैं, इसलिए अरविन्द के प्रति उन्हें अधिक आकर्षण है। परन्तु सियारामशरण ने हृदय और बुद्धि दोनों का गांधी-दर्शन के साथ पूर्ण सामंजस्य कर लिया है, वह उनकी आत्मा में रम गया है।" (डॉ० नगेन्द्र)

—सियारामशरण गुप्त : संपादक—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७५

प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और सियारामशरण गुप्त का ही नामोल्लेख किया है,[1] तथापि इस प्रसंग में भगवतीप्रसाद वाजपेयी को भी नहीं भुलाया जा सकता। सन् १९४२ में प्रकाशित 'निमन्त्रण' तक वाजपेयी जी क्रमशः प्रगतिवाद की दिशा में उन्मुख थे, किन्तु इसके बाद वे प्रगतिवाद से गांधीवाद की ओर मुड़ जाते हैं। उनकी विचारधारा में इस परिवर्तन की सूचक रचनाएँ 'गुप्तधन', 'चलते-चलते', 'पतवार', 'मनुष्य और देवता', 'भूदान' इत्यादि हैं। 'पतवार' में आकर तो वाजपेयी जी स्पष्ट घोषणा कर देते हैं कि **"मेरी यह धारणा धीरे-धीरे अब बिल्कुल दृढ़ हो गई है कि एक स्थायी विश्व-शांति और मनुष्य मात्र का कल्याण सत्य और अहिंसा द्वारा ही संभव है।"**[2] 'पतवार' का नायक दिलीप कर्मयोग में विश्वास रखने वाला तथा लोक-सेवा के उच्चादर्शों से प्रेरित एक गांधीवादी पात्र है, जो बाढ़-पीड़ितों की सेवा में अपना जीवन अर्पण कर देता है। इसमें संदेह नहीं कि वाजपेयी जी के इस उपन्यास की गणना भी असत्य पर सत्य की अंतिम विजय दिखाने वाली प्रेमचन्द की परंपरा में ही की जानी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन की पृष्ठभूमि में यदि हम हिंदी के दूसरे तथाकथित गांधीवादी लेखकों (सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्र, मैथलीशरण गुप्त आदि) से प्रेमचन्द की तुलना करें तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उनकी रचनाओं में गांधी-दर्शन से कुछ अधिक के अंकुर भी मूलतः विद्यमान हैं। यही कारण है कि उनके कुछ समीक्षक उन्हें गांधीवादी सिद्ध करते हैं, दूसरे प्रगतिवादी और कुछ अन्य उन्हें जनवादी मानते हैं। यह मत-वैभिन्य ही इस बात का परिचायक है कि प्रेमचन्द 'केवल गांधीवादी' नहीं थे। उस युग के अन्य साहित्यकारों के समान प्रेमचन्द भी गांधीजी के व्यक्तित्व से प्रभूत मात्रा में प्रभावित हुए थे, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्हें गांधीवादी मान लिया जाए। गांधी जी के प्रशंसक होते हुए भी प्रेमचन्द उनके अंधानुगामी कभी नहीं बन सके। यही कारण है कि गांधीजी के आह्वान पर सरकारी नौकरी पर लात मारकर भी वे 'प्रेमाश्रम' में यह साहसपूर्ण घोषणा कर सके कि **"सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया।"**[3] यही कारण है कि भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए

---

१. "Chhayavada, thus, was a purely literary movement which developed parallel with the patriotic political movement, i.e., the Gandhian movement of Satyagraha and the revival of an agrarian society. The political trend was more strongly reflected in the prose writing of this period, e. g., the novels of Prem Chand, Jainendra Kumar and Siyaram Saran Gupta." (S.H. Vatsyayan)
—"Thought" : 26-1-57, P. 16

२. पतवार : भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'आधार' (भूमिका) पृ० २

३. प्रेमाश्रम, पृ० २२७

गांधीजी के प्रयत्नों को आशा और विश्वास की दृष्टि से देखने पर भी वे उनके ईश्वर, धर्म, अहिंसा, वर्ग-समन्वय, ट्रस्टीशिप, औद्योगीकरण-संबंधी सिद्धान्तों को पूरी तरह स्वीकार नही कर सके। मराठी के साहित्यकार टी० टिकेकर से एक भेंट में प्रेमचन्द ने कहा था : "मैं कम्युनिस्ट हूं ! किन्तु मेरा कम्युनिज्म केवल यह ही है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें।" "मैं महात्माजी के चेंज आफ हार्ट के सिद्धान्त में विश्वास रखता हूं। इसलिए जमींदारी मिटेगी, यह मानता हूं। जमीन किसान की होगी। मैं गांधीवादी नहीं हूं, केवल गांधीजी के चेंज आफ हार्ट में विश्वास करता हूं।"[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द ने अपने और अपने साहित्य को किसी एक सिद्धान्त से बांधा नही।

यहां पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि तो फिर शिवरानी देवी से प्रेमचन्द के इस कथन का क्या तात्पर्य है कि 'मैं महात्मा गांधी का बना-बनाया कुदरती चेला हूँ ?'[2] हम समझते हैं कि प्रेमचन्द की इस स्वीकारोक्ति को उसके पूर्वापर संदर्भ से विच्छिन्न करके नहीं देखा जाना चाहिए। प्रेमचन्द की इस बात को सुनकर उनकी पत्नी ने जब कहा कि 'यह कोई बात नहीं है, न कोई दलील है,' तो उन्होंने अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था : "दलील की यह कोई बात नहीं। इसके माने हैं कि दुनिया में मैं महात्मा गांधी को सबसे बड़ा मानता हूं। उनका भी उद्देश्य यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों, वह इन लोगों को आगे बढ़ाने के लिए आन्दोलन मचा रहे हैं। मैं लिखकर उनको उत्साह दे रहा हूं। महात्मा गांधी हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिला करके हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूं।"[3] स्पष्ट है कि प्रेमचन्द गांधीजी के 'बने-बनाए कुदरती चेले' केवल इस अर्थ में हैं कि महात्मा गांधी के समान वे भी देश के किसान और मजदूरों को सुखी तथा हिन्दू-मुसलमानों को एक देखना चाहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द की इस स्वीकारोक्ति को इससे अधिक अर्थ में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए।

प्रेमचन्द पर यह उक्ति पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है कि एक ओर यदि युग साहित्यकार की चेतना का निर्माण करता है तो दूसरी ओर साहित्यकार युग-चेतना का स्वरूप निर्धारित करता है। प्रथम दृष्टि में आत्म-विरोधी (Self-contradictory) प्रतीत होने वाली इस उक्ति में एक सहज सत्य उपन्यस्त है। जब कोई प्राणवान साहित्यकार अपने युग की सम्पूर्ण चेतना को आत्मसात करके अपनी कला द्वारा युग-प्रवृत्तियों को प्रेरणा भी प्रदान करने लगता है तब वह सहज ही युग-निर्माता और युग-प्रवर्तक के पद का अधिकारी हो जाता है। समृद्धानुभूति से अनुप्राणित साहित्यकार के 'स्व' का जब

---

१. प्रेमचन्द : एक अध्ययन : डॉ० राजेश्वर गुरु, पृ० १०१ पर उद्धृत

२. प्रेमचन्द : घर में, पृ० ९५

३. वही, पृ० ९५

देश और उससे भी आगे विश्व के साथ रागात्मक सामंजस्य हो जाता है तब उसका प्रत्येक कर्म वैयक्तिक न रहकर मानवता के हिताहित का अविच्छिन्न अंग बन जाता है। और, इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द की कला अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर पहुँचकर ऐसी ही हो गई थी। यही कारण है कि उनके साहित्य में विभिन्न युग-प्रेरित प्रभाव और प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। प्रेमचन्द का साहित्य अपने युग के उतार-चढ़ावों और विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक हलचलों का ऐतिहासिक दर्पण है। स्वभावतः उनके संबंध में आलोचक-बुद्धियों में अत्यन्त तीव्र मत-वैभिन्य पाया जाता है। इस मत-वैभिन्य का एक रूप तो यही है कि प्रेमचन्द गांधीवादी थे अथवा प्रगतिवादी ? इस वाद-विवाद के बीज मूल रूप में स्वयं प्रेमचन्द-साहित्य में ही निहित हैं। अपने जीवन और साहित्य की सुदीर्घ यात्रा में प्रेमचन्द कहीं भी एक स्थान पर रुके नहीं, एक विचारधारा से बँधे नहीं। उनके साहित्य के अंतरंग को समझने के लिए उनकी इस विकास-यात्रा को एक क्षण के लिए भी नहीं भुलाया जा सकता; अन्यथा एक स्थान पर हमें वे गांधीवादी प्रतीत होंगे और दूसरे पर प्रगतिवादी, कहीं सुधारवादी लगेंगे और कहीं क्रान्तिकारी और कहीं पर दोनों ! वस्तुतः प्रेमचन्द के साहित्य की आत्मा इतनी व्यापक है कि उसमें गांधीवाद, प्रगतिवाद इत्यादि सभी समसामयिक विचारधाराओं के प्रगतिशील तत्त्वों का सहज समावेश है।

इसमें दो मत नहीं हो सकते कि कोई भी महान् और जीवन्त साहित्यकार समग्रतः किसी विशिष्ट मतवाद की सीमाओं में सीमित नहीं किया जा सकता। किसी विशिष्ट राजनीतिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय में 'दीक्षित' होते हुए भी उसके अन्तस् का 'साहित्यकार' अनजाने ही उन सीमाओं का अतिक्रमण करने को आकुल हो जाता है। अतः उसके कृतित्व की परीक्षा उसे किसी मतवाद के संकीर्ण वृत्त में खड़ा करके नहीं की जानी चाहिए। पर महान् व्यक्तियों को अपना समर्थक सिद्ध करने के लोभ का संवरण सहज ही नहीं किया जा सकता। इसीलिए आज हिंदी में इस प्रकार की वादपरक या दलगत आलोचना धड़ल्ले से चल रही है। पूर्वापर संदर्भ से विच्छिन्न उद्धरणों, दो-चार पंक्तियों या किन्हीं शब्दों के बल पर किसी भी महान् साहित्यकार को 'वाद' विशेष का अनुयायी सिद्ध करने वाली आलोचना सुगम चाहे हो, किन्तु सार्थक नहीं। दुर्भाग्यवश प्रेमचन्द इस आलोचना-पद्धति के सर्वाधिक शिकार हुए हैं। यह ठीक है कि लेखक के साहित्य में प्राप्त विभिन्न विचारधाराओं का विश्लेषण होना ही चाहिए, पर जब परस्पर विरोधी मतों के आलोचक उसे अपने मत का समर्थक सिद्ध करने के लिए तथ्यों की तोड़-मरोड़ और खींच-तान करते हैं तो स्थिति हास्यास्पद हो जाती है।

वस्तुतः किसी राजनीतिक विचारधारा के आधार पर साहित्यकार-विशेष का अध्ययन सर्वथा निरापद नहीं हो सकता, क्योंकि कुछ दूर चलकर उसमें राजनीतिक कट्टरता एवं दुराग्रह के प्रवेश की आशंका सर्वदा बनी रहती है। प्रस्तुत प्रबन्ध में आरम्भ से ही इस आशंका को दृष्टिपथ में रखा गया है।

प्रेमचन्द पर गांधीवाद के प्रभाव से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि प्रेमचन्द गांधीवादी थे। जब किसी साहित्यकार पर किसी विशिष्ट विचारधारा के प्रभाव की चर्चा की जाती है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह उस विचारधारा अथवा जीवन-दर्शन को तत्वतः ग्रहण कर चुका है। हम इस बात को स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्रस्तुत प्रबन्ध में हमारा उद्देश्य प्रेमचन्द को पूर्ण या आंशिक रूप से 'गांधीवादी' अथवा अन्य कोई 'वादी' सिद्ध करना नहीं रहा है, समालोचना का उद्देश्य यह हो भी नहीं सकता। 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग ही यहाँ इस बात का द्योतक है कि प्रेमचन्द गांधीवाद से प्रभावित मात्र थे, गांधीवादी वे कभी नहीं रहे! स्पष्ट है कि गांधीवादी होना और बात है, गांधीवाद से प्रभावित होना और! प्रेमचन्द पर गांधीवाद के प्रभाव की विस्तृत चर्चा करने से पूर्व हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रेमचन्द गांधीवाद के केवल प्रगतिशील विचारों तथा कार्यक्रमों से ही प्रभावित थे, सम्पूर्ण गांधीवादी जीवन-दर्शन से नहीं। प्रस्तुत प्रबन्ध में 'प्रभाव' शब्द से यही अर्थ ग्रहण किया गया है।

दूसरी बात यह कि प्रेमचन्द प्रत्येक विचारधारा को लोक-हित की अचूक कसौटी पर कसने के पश्चात् ही उसे स्वीकार करते थे—और स्वीकार करके भी अपनी कला को उससे बाँधते नहीं थे! यही कारण है कि महात्मा गांधी की देख-रेख में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) द्वारा संचालित राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के प्रबल एवं सक्रिय समर्थक होते हुए भी वे उसके मध्यवर्गीय नेतृत्व की दुर्बलताओं और पाखण्ड (Hypocrisy) का इतना चुभता हुआ यथार्थ वर्णन कर सके।

तीसरी बात यह कि व्यक्तिगत और भावगत रूप से गांधीवाद की अनेक मान्यताओं और विश्वासों को हृदय से स्वीकार करके भी प्रेमचन्द अपनी रचनाओं में कहीं भी सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा नहीं करते। यही कारण है कि औद्योगिक सभ्यता—जिसे वे महाजनी सभ्यता कहते हैं—के अंध-प्रसार के विरुद्ध 'रंगभूमि' में सूरदास जैसे शक्तिशाली और दृढ़प्रतिज्ञ चरित्र की सृष्टि करके तथा औद्योगिकता के दूषणों एवं भयावह परिणामों को पूरी तीव्रता से दिखाकर भी वे सूरदास का विजय नहीं दिखा सके हैं। वस्तुतः सूरदास की पराजय—जिसे उपन्यासकार ने सूरे और विनय (?) के बलिदान की छाया में नैतिक विजय के आकर्षक किन्तु छद्मवेश में उपस्थित किया है—ह्रासशील (Decadent) सामन्तवाद के विरुद्ध उभरते हुए पूंजीवाद की विजय है, जिसे एक सूरदास तो क्या अनेक सूरदास भी नहीं रोक सकते थे। यह प्रेमचन्द के व्यक्तिगत विश्वासों के विपरीत सामाजिक यथार्थ और युग-सत्य की ऐतिहासिक विजय है। और, यही प्रमचन्द की कला की महानता है।

हम समझते हैं कि प्रेमचन्द का अध्ययन इसी स्वस्थ और प्रगतिशील दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। प्रस्तुत प्रबन्ध इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

: २ :

साहित्य और जीवन : कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न

साहित्य और जीवन में क्या संबंध है? क्या साहित्य को सोद्देश्य होना चाहिए? क्या साहित्यकार अपने युग के प्रति तटस्थ रह सकता है? साहित्य में युग-सत्य का चित्रण होना चाहिए या शाश्वत सत्य का? युग-सत्य और शाश्वत सत्य के बीच में क्या कोई स्पष्ट सीमा-रेखा खींची जा सकती है? क्या साहित्यकार का कोई सामाजिक दायित्व नहीं होता? क्या साहित्य स्वान्तःसुखाय होता है? क्या कला अहम् का विस्फोट है? क्या साहित्य-सृजन एक सामाजिक प्रक्रिया नहीं है? क्या कला कला के लिए हो सकती है? साहित्य और राजनीति में क्या संबंध है? क्या समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है? होने को तो प्रश्न और भी हो सकते हैं, पर इन सब प्रश्नों के मूल में प्रश्न एक ही है 'कस्मै देवाय?' अर्थात् किसके लिए? यह एक ऐसा प्रश्न है जो प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश के साहित्य और कलाकार को किसी-न-किसी रूप में परेशान करता आया है। इस प्रश्न अथवा इन प्रश्नों का सामना किए बिना प्रेमचन्द का—विशेषतः प्रेमचन्द पर गांधीवाद के प्रभाव का—सम्यक् अध्ययन नहीं किया जा सकता। इन्हीं सैद्धान्तिक प्रश्नों की ओट में आए दिन प्रेमचन्द और उनकी साहित्य-कला पर तरह-तरह के आरोप-प्रत्यारोप लगाए जाते हैं। अतः प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं प्रश्नों पर विचार करेंगे।

'वाद' से अभिप्राय—

हिंदी में 'वाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है, एक संस्कृत संज्ञा-शब्द 'वाद' के अर्थ में और दूसरे अंग्रेजी परसर्ग (Suffix) 'इज्म' (-ism) के समानार्थ। प्रथम अर्थ में 'वाद' का प्रयोग अपने संस्कृत मूल से बहुत भिन्न नहीं है। 'ए प्रैक्टीकल संस्कृत डिक्शनरी' तथा 'भाषा-शब्द-कोष' में क्रमशः आर्थर एन्थनी मैक्डानल तथा डॉ॰ रामशंकर शुक्ल द्वारा दिए गए अर्थों की पारस्परिक तुलना उपर्युक्त तथ्य की स्पष्ट प्रत्यायक है।[1] हिंदी 'वाद' की भाँति अंग्रेजी में भी 'इज्म' का प्रयोग स्वतंत्र संज्ञा-शब्द और

---

१. (क) "वाद—Speaking of (rare), causing to sound, playing (rare); talk, utterance, statement, ××× counsel, *proposition*, *thesis*, discussion, controversy, disputation, dispute......."

—A Practical Sanskrit Dictionary, P. 276.

(ख) "वाद—संज्ञा, पु॰ (सं॰), किसी बात के निर्णयार्थ बातचीत, शास्त्रार्थ, विवाद, तर्क, दलील, किसी विषय के तत्वज्ञों द्वारा निर्णीत सिद्धान्त, उसूल, बहस, झगड़ा।"

—भाषा-शब्द-कोष, भाग २ पृ॰ १६६८

परसर्ग दोनों रूपों में होता है।[1] परसर्ग के रूप में हिंदी में 'वाद' का प्रयोग गांधीवाद, समाजवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद जैसे अनेक संज्ञा-शब्दों में देखा जा सकता है। किन्तु उक्त दोनों प्रयोगों में वस्तुतः कोई परस्पर विरोध नहीं है। अन्य भाषाओं की भाँति हिंदी में भी आज 'वाद' का प्रयोग सामान्यतः एक विशिष्ट क्रमवद्ध राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, दार्शनिक अथवा साहित्यिक चिन्तनधारा या जीवन-दर्शन के पारिभाषिक अर्थ में होता है। इस अर्थ में भी 'वाद' शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में तथा अनेक प्रकार से होता है। एक ओर जहाँ यह विशिष्ट राजनीतिक चिन्तकों के नाम के साथ जुड़कर उनके जीवन-दर्शन को द्योतित करता है, यथा गांधीवाद, मार्क्सवाद आदि; वहाँ दूसरी ओर साहित्य में विशिष्ट युगीन साहित्य-प्रवृत्तियों के साथ सम्बद्ध होकर उस युग की साहित्य-धारा को सूचित करता है, यथा आधुनिक हिंदी साहित्य में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोग-वाद आदि। यह आवश्यक नहीं है कि हमेशा 'वाद' का प्रयोग किसी क्रमवद्ध जीवन-दर्शन के अर्थ में ही हो। कभी-कभी यह सामान्य संज्ञा-शब्दों के साथ संयुक्त होकर एक विशेष पद्धति का द्योतन भी करता है, यथा साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, सामन्तवाद इत्यादि। अंग्रेजी भाषा के अनुकरण पर हिंदी में भी अब 'वाद' का अतिशय प्रयोग होने लगा है। इसका प्रयोग आज एक प्रकार से 'फैशन' में सम्मिलित हो गया है। प्रयोगाधिक्य के कारण अब धीरे-धीरे 'वाद' शब्द की गरिमा और गांभीर्य नष्ट होता जा रहा है। इस प्रवृत्ति को रोटीवाद, भाई-भतीजावाद, हालावाद, प्यालावाद जैसे अत्यन्त हल्के और बोल-चाल के (Colloquial) प्रयोगों में देखा जा सकता है।

जीवन-प्रवाह की तुलना निर्झरिणी की उस धारा से की जा सकती है जो निरन्तर प्रवहमान अतः परिवर्तनशील रहते हुए भी मूलतः एक रहती है। उसमें क्षण-प्रतिक्षण अबाध गति से उठने वाली तरंगों के समान प्रत्येक युग में नवीन विचारों की संसृति आवश्यक तो है ही, जीवन की द्योतक भी है। परिवर्तन (परिवर्तन का नाम ही विकास है) ही जीवन का नियम है, जीवन का चिन्ह है। मनुष्य स्वभावतः एक सहज गतिशील एवं विचारशील प्राणी है, अतः वह अपने जीवन को अधिकाधिक पूर्ण बनाने के अभिनन्द-नीय प्रयास में नित नूतन आयोजनाएं करता है और जीवन की विभिन्न जटिल समस्याओं के नवीन समाधान खोजता है। विचारों के इसी उद्भव, विकास और परिवर्तन में वादों

---

१. "Ism, n. (Noun use of -ism) A distinctive doctrine, theory, system, or practice : as,......."

× × ×

"—ism...... (forming nouns from verbs with infinitive in......) A suffix of nouns denoting action or practice, state or condition, principles, doctrines, a usage or characteristic, etc., as in baptism, barbarism, × × × realism, socialism × × ×."

—The New Century Dictionary, Vol. 1, P. 862

का मूल खोजा जा सकता है। 'वाद' है क्या ? एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का बौद्धिक एवं क्रमबद्ध निरूपण ही 'वाद' है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विभिन्न वादों—छाया-वाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, आदर्शवाद आदि—के ऐतिहासिक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि एक की प्रतिक्रिया ने दूसरे वाद को जन्म दिया। क्रिया और प्रतिक्रिया का कुछ इसी प्रकार का चक्र साहित्य ही नहीं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—समाज, धर्म, अर्थ, राजनीति आदि—में भी व्याप्त है, कहना चाहिए, बद्धमूल है। वर्तमान के प्रति यदि असन्तोष नहीं है तो जीवन भी नहीं है।[१] हाँ, यह असन्तोष स्वस्थ और सृजनात्मक होना चाहिए। इस प्रकार जीवन में यदि नवीन विचारों की सृष्टि आवश्यक और अनिवार्य है तो फिर वादों से मुक्ति भी संभव नहीं हैं। स्पष्ट है कि अपने व्यापक अर्थ में 'वाद' का सीधा संबंध जीवन की परिवर्तनशीलता और प्रगतिशीलता से है।

जीवन में वादों की इस अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में जिस वेग से नित-नवीन वादों का जन्म और विनाश हो रहा है, वह अपने आप में अनावश्यक तो है ही, हानिप्रद एवं अस्वस्थ भी है। यों तो वादों की सृष्टि प्रत्येक युग में होती आई है, पर इस प्रकार की बाढ़ संभवतः आधुनिक युग की—विशेषतः पूंजीवादी सभ्यता की—ही देन है। वादों की यह अराजकता आधुनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—साहित्य में विशेष रूप से—देखी जा सकती है। स्वभावतः हिंदी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। उसके पिछले चार दशकों का इतिहास छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, हालावाद, निराशावाद, व्यक्ति-वाद, समष्टिवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रकृतवाद, मनोविश्लेषणवाद, मानववाद, नव मानववाद प्रभृति वादों के उद्भव और ह्रास का इतिहास ही है। स्पष्ट है कि नई-नई विचारधाराओं और वादों के द्वारा मरणोन्मुख पूंजीवाद अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए साहित्य एवं कलाकारों को पथभ्रष्ट और गुमराह करने का प्रयास कर रहा है।

अगले कुछ पृष्ठों में हम इस अध्याय के आरंभ में उठाए गए कतिपय प्रश्नों पर साहित्य और वाद, साहित्य और राजनीति, साहित्य में युग-धर्म का चित्रण, साहित्य और प्रॉपैगैण्डा आदि शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करेंगे। यह विभाजन मूलतः अध्ययन की सुविधा के लिए ही किया गया है, अन्यथा, जैसा कि हम देख चुके हैं, इन सब प्रश्नों के मूल में एक ही प्रश्न निहित है—कस्मै देवाय ?

---

१. "And if it is thought necessary to speak of sacred things, then the one sacred thing is the dissatisfaction of man with himself and his striving to be better than he is ; ...."

—Literature and Life : Maxim Gorki, P. 56

साहित्य और 'वाद'—

'वाद' शब्द आज राजनीतिक दलों के साथ इतनी अधिक घनिष्ठता से सम्बद्ध हो गया है कि स्वतंत्र रूप से उसका विवेचन-विश्लेषण तथा जीवन और साहित्य में उसके महत्त्व का प्रतिपादन लगभग नहीं-सा हुआ है। यही कारण है कि साहित्य से उसका किसी प्रकार का संबंध स्वीकार करने में एक हिचकिचाहट, एक संकोच होता है। किन्तु 'वाद' का एक व्यापक अर्थ भी है, और उस अर्थ में ग्रहण कर लिए जाने पर साहित्य से उसका कोई तात्विक विरोध नहीं रह जाता। जैसा कि हम देख चुके हैं 'वाद' का वह व्यापक अर्थ है : एक व्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं सुचिंतित जीवन-दर्शन। और, यह कहना हास्यास्पद होगा कि साहित्यकार को कोई सुस्पष्ट जीवन-दर्शन अपनाकर नहीं चलना चाहिए। जीवन और जीवन की विभिन्न समस्याओं के प्रति प्रत्येक प्राणवान साहित्यकार का विशिष्ट दृष्टिकोण होता है—होना भी चाहिए। हिंदी साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में यदि किसी काल के साहित्य में स्वस्थ जीवन-दर्शन का एकांतत: अभाव मिलता है तो वह है रीतिकालीन साहित्य; और उसका परिणाम भी हमारे सम्मुख है। क्या सूर और तुलसी का कोई जीवन-दर्शन नहीं था ? यदि उसे आधुनिक शब्दावली में 'वाद' के नाम से अभिहित किया जाए तो क्या कुछ मौलिक अन्तर पड़ जाएगा ? हम यह स्वीकार करते हैं कि साहित्य और 'वाद' की प्रकृति में मूलभूत एवं निश्चित अन्तर है, अत: 'वाद' को साहित्य के पोषक तत्त्व के रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। अपने आप में कोई भी 'वाद' चाहे कितना ही महान् तथा युगान्तरकारी क्यों न हो, पर साहित्य में उसका प्रवेश कलाकार की अनुभूति के माध्यम से ही होना चाहिए। मार्क्सवादी समीक्षक भी यह स्वीकार करते हैं कि **"यदि कोरा 'वाद' या कोरी सिद्धान्त-चर्चा (हो) साहित्य में रहेगी तो वह जीवन्त साहित्य न होगा, यानी अगर 'वाद' किसी लेखक पर इतना हावी हो गया है कि उसने स्वतन्त्र चिन्तन की सभी राहें रूँध दी हैं या जीवन की विशाल, फैली हुई भूमि पर एक स्वतन्त्र संवेदनशील मनुष्य की तरह घूमने की सारी स्फूर्ति छीन ली है, तो निश्चय ही उसमें जीवन का स्पन्दन न होगा। ऐसे साहित्य को हम वादाक्रान्त साहित्य कह सकते हैं।"**[1]

इसमें दो मत नहीं हो सकते कि साहित्य को किसी 'वाद' अथवा राजनीतिक दल की विचारधारा से आक्रान्त नहीं होना चाहिए, पर साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि तथाकथित वादमुक्त साहित्य की माँग यथार्थत : स्वयं में एक वादग्रस्त और राजनीतिक माँग है; क्योंकि वह साहित्य तथा कलाकार को जीवन के यथार्थ के प्रति एक निरसंग एवं तटस्थ भाव ('कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' का भाव) धारण करने के के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार वादमुक्त साहित्य की यह माँग अन्तत: समाज के निहित स्वार्थों (Vested interests) को अपनी वर्त्तमान अन्यायपूर्ण सत्ता कायम

१. नयी समीक्षा : अमृतराय, पृ० २२३ (कोष्ठकबद्ध लेखक के)

रखने में ही सहायता करती है। इसमें तो किसी को भी विरोध नहीं हो सकता है कि साहित्य या कला को किसी 'वाद' या दल का अंध अनुचर नहीं होना चाहिए; पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वर्गमुक्त साहित्य के नाम पर साहित्यकार अपने सामाजिक दायित्व को भुलाकर 'साहित्य के लिए साहित्य' अथवा 'कला के लिए कला' की रचना करे। यह ध्यान देने की बात है कि 'कला के लिए कला' की माँग उसी समय उठती है जब कि कलाकार का सामाजिक यथार्थ से कोई संबंध नहीं रह जाता।

हिंदी के भक्तिकालीन साहित्य पर एक सामान्य दृष्टिपात से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि 'वाद' और साहित्य का परस्पर घनिष्ठ संबंध कोई सर्वथा नवीन वस्तु या मार्क्सवाद की देन या प्रगतिवाद की ही विशेषता नहीं हैं। हिंदी का प्रत्येक रूढ़िवादी अथवा प्रगतिवादी आलोचक यह स्वीकार करता है कि भक्तिकालीन काव्य का मूलाधार अद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि विभिन्न दार्शनिक मतवाद ही हैं। और इस तथ्य से भी कोई इंकार नहीं करता कि हिंदी के भक्त-कवियों में उपरोक्त मतवादों का स्वर अत्यन्त प्रखर है, अत्यन्त मुखर है। अब यदि प्रगतिवाद आदर्श और अध्यात्म को त्याग कर सामाजिक यथार्थ और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अपनाता है तो उसे केवल इसीलिए साहित्यिक अस्पृश्य घोषित नहीं किया जा सकता।

साहित्य और राजनीति का प्रश्न भी मूलतः साहित्य और 'वाद' के सवाल के साथ ही जुड़ा हुआ है। भक्तिकाल के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वादमुक्त साहित्य का नारा वस्तुतः साहित्य में सभी प्रकार के 'वादों' के प्रचार-घोष के विरुद्ध इतना नहीं है जितना राजनीतिक मतवादों के! अतः साहित्य और राजनीति के पारस्परिक संबंध-विषयक इस प्रश्न पर भी हमें यहीं विचार करना होगा—तभी हम यह समझ सकेंगे कि साहित्य की पतित पावनी निर्मल गंगा को राजनीति के गदले दुर्गन्धमय नाले से दूर रखने की घोषणा करने वाले आलोचकों तथा विचारकों के सिर पर सवार होकर वस्तुतः राजनीति ही प्रच्छन्न रूप में बोलती है। ऊपर से वदतोव्याघातपूर्ण प्रतीत होने वाले इस वाक्य में एक गहरी सच्चाई छिपी है, क्योंकि साहित्यकारों का राजनीति से दूर रहना वर्तमान शासक-वर्ग के लिए सबसे बड़ी तात्कालिक राजनीतिक आवश्यकता है।[1] स्पष्ट है कि इस तथ्य को हृदयङ्गम किए बिना प्रेमचन्द पर गांधीवाद के प्रभाव को सही रूप में देखा और परखा नहीं जा सकता।

साहित्य और राजनीति की प्रकृति, प्रयोजन एवं प्रेरणा में तत्त्वतः अन्तर है। राजनीति में संकीर्णता है, मानसिक दासता है और है अन्य सभी इतर सिद्धान्तों तथा मत-वादों को अस्वीकार करने का आग्रह, फलतः द्वेष एवं कटुता। इसके विपरीत साहित्य में

---

१. "Advocacy of abstention from politics unwittingly becomes a highly political act favourable to the ruling class."

—Sarvodaya and Communism ; B. T. Ranadive, P. 28.

सार्वभौमिकता है, सार्वजनीनता है। उसकी भावभूमि सम्पूर्ण मानवता है; जहाँ सब समान हैं; जहाँ धनवान और निर्धन, उच्च और नीच, गांधीवादी और साम्यवादी इत्यादि आधारों पर मानव को मानव से पृथक् नहीं किया जाता। व्यापक अर्थ में साहित्य मनुष्य का विश्वात्मा से तादात्म्य स्थापित करने के प्रयास में उसकी एकनिष्ठ साधना का ही एक विशिष्ट रूप है।...इस प्रकार की बातें ऊपर से देखने पर काफी निर्दोष तथा विवादातीत प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु हमें देखना यह है कि आज के युग में जब कि राजनीति हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग बन गई है (यों तो प्रत्येक युग और देश में राजनीति आवश्यक रूप से जीवन की समस्त गति-विधियों को प्रभावित करती रही है), क्या कोई भी साहित्यकार अथवा कलाकार सही अर्थों में—केवल कहने भर को नहीं—अपने को और अपनी कला को राजनीति से सर्वथा अलग रख सकता है? अज्ञेय भी यह स्वीकार करते हैं कि **"साहित्यिक और राजनैतिक को दो पृथक् और विरोधी तत्त्व मान लेना किसी प्राचीन युग में भी उचित न होता, आज के-से संघर्ष-युग में तो वह मूर्खतापूर्ण-सा ही है।"**[1] वे यह भी मानते हैं कि साहित्य और राजनीति का एक दूसरे से प्रभावित होना अनिवार्य है। उनके इस पारस्परिक आदान-प्रदान को रोका नहीं जा सकता।[2]

साहित्य और जीवन का इतना घनिष्ठ संबंध आधुनिक युग से पूर्व कभी स्वीकार नहीं किया गया था। आज कुछ विशिष्ट वर्गों के कतिपय तथाकथित उदात्त चरित्रों का ही जीवन नहीं अपितु कोटि-कोटि साधारण जनता (लेनिन के शब्दों में 'millions upon millions of working people') का हास और रुदन, हर्ष और शोक, विजय और पराजय, संघर्ष और प्रेम, आशा और निराशा भी साहित्य की विषय-वस्तु है। प्रेमचन्द के शब्दों में **"अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूंढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है; किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं।"**[3] साहित्य ही नहीं संगीतादि दूसरी कलाएँ भी अब क्रमशः राजा-महाराजा और अमीर-उमरा के दरबारी वातावरण एवं आश्रय को त्याग

---

१. त्रिशंकु, पृ० ७३ (बनारस, १९४५)

२. "साहित्य और राजनीति का असर एक दूसरे पर होने से रोका भी नहीं जा सकता—चाहे राजनीति का युग हो, चाहे साहित्य का। नीत्शे 'साहित्यिक' था, लेकिन आधुनिक राजनीति पर उसके प्रभाव की उपेक्षा नहीं हो सकती। लेनिन को कोई भी साहित्यिक नहीं कहता, फिर भी आधुनिक साहित्य पर उसकी गहरी छाप है।"

—वही, पृ० ७४

३. साहित्य का उद्देश्य, पृ० ४-५ (प्रथम संस्करण, १९५४)

कर अधिकाधिक जन-जीवन के निकट आती जा रही हैं। साहित्य के इस क्षेत्र-विस्तार तथा भाव-विस्तार के साथ आज के साहित्यकार के दायित्व में भी उसी अनुपात में वृद्धि हुई है। आज के-से संघर्ष-युग का साहित्यकार जीवन के कटु सत्यों से पलायन करके सबसे अलग-थलग आत्मसेवी प्राणी तथा अपने युग की हलचलों का निरपेक्ष दृष्टा मात्र बनकर नहीं रह सकता। सच तो यह है कि वर्त्तमान युग में साहित्यकार ही नहीं कोई भी सोचने-समझनेवाला व्यक्ति जीवन की समस्याओं के प्रति तटस्थ बन कर नहीं रह सकता।[1]

हम समझते हैं आज यह कहने की आवश्यकता नहीं रह गई है कि जीवन ही कला और साहित्य का प्राणदाता तत्त्व है; जिसके अभाव में वह निस्तेज, प्रभावशून्य और निष्प्राण ही नहीं वंध्या भी हो जाता है। आज स्थिति यह है कि साहित्यकार को सभी प्रकार के सामाजिक बंधनों एवं उत्तरदायित्वों से मुक्त और परे मानने वाले आलोचकों एवं विचारकों में भी इस तथ्य को अस्वीकार करने का साहस नहीं है।[2] इसमें सन्देह नहीं कि जन-जीवन ही वह शक्ति है जो साहित्य और कला में प्राणों का स्पन्दन करती है। माओ त्से तुङ्ग के इस कथन में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि जनता का जीवन साहित्य और कला के लिए कच्चे माल (Raw material) का अकूत खजाना है।[3] आधुनिक युग में राजनीति ने कुछ ऐसा सर्वव्यापी रूप धारण कर लिया है कि जीवन के प्रति और स्वयं अपनी कला के प्रति ईमानदार रहने वाला कोई भी साहित्यकार चाहते हुए भी राजनीति के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। आधुनिक मानव के जीवन के विभिन्न रूप—धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति इत्यादि—परस्पर इतने अधिक गुथे हुए हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। आज के युग में कोई व्यक्ति केवल धर्माचार्य, केवल दार्शनिक, केवल वैज्ञानिक, केवल कलाकार, केवल साहित्यकार, केवल राजनीतिज्ञ बनकर नहीं रह सकता।[4] अतः साहित्यिकों और राजनीतिज्ञों की पृथक्-पृथक् श्रेणियां (Watertight compartments) बनाना न तो बुद्धिमानी ही है और न वैज्ञानिक ही। साहित्य और राजनीति दोनों का सीधा संबंध जीवन से है, और जीवन को

---

१. "सत्य और असत्य, जीवन और मृत्यु, आजादी और गुलामी, मानवता और बर्बरता, विज्ञान और अबुद्धिवाद, शान्ति और युद्ध की शक्तियों के इस विश्वव्यापी संग्राम से हमारा देश और हमारी जनता न तटस्थ है, न निस्संग है। वस्तुतः हम सब इसके भँवर में फँसे हुए हैं।"

—साहित्य की समस्याएँ : शिवदानसिंह चौहान, पृ० १७८ (प्रथम संस्करण, १९५९)

२. "जीवन से विच्छिन्न होकर कोई भी भाव-धारा, चाहे वह कैसी ही सुन्दर क्यों न हो, अन्त में कभी कल्याणकारी सिद्ध नहीं हो सकती, और न कभी वास्तविक उच्चकोटि की कला की श्रेणी में स्थान पा सकती है।"

—विवेचना : इलाचन्द्र जोशी, पृ० ४९ (द्वितीय संस्करण)

३. हंस : अक्तूबर १९५०, पृ० २५ (लेखकों के कर्तव्य : अनु० चन्द्रमोहन)

४. मार्क्सवाद और साहित्य : महेन्द्रचन्द्र राय, पृ० २२५ (प्रथम संस्करण, १९५७)

खंड-खंड करके उसका समुचित एवं वस्तुपरक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार किसी युग के धर्म, दर्शन, राजनीति आदि को हम उस युग के समग्र सामाजिक जीवन से पृथक् करके स्वयं-संपूर्ण (Complete in itself) सत्ता (Entity) के रूप में नहीं देखते, उसी प्रकार कला या साहित्य को भी हम सामाजिक यथार्थ से विच्छिन्न करके नहीं देख सकते। और चूंकि राजनीति सामाजिक यथार्थ की सबसे प्रमुख प्रतिनिधि है, अतः साहित्य से उसके संबंध-विच्छेद की बात उतनी ही असंगत है जितनी स्वयं शब्दों से उनके अर्थ के संबंध-विच्छेद की बात।[1]

यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि किसी साहित्य अथवा कलाकृति का राजनीतिक मूल्य इस बात में नहीं होता कि उसका लेखक या रचयिता किस राजनीतिक दल का अनुयायी है; वह किसी पार्टी का सदस्य हो भी सकता है और नहीं भी। किसी भी साहित्य या कलाकृति का राजनीतिक महत्त्व केवल इस बात में होता है कि उसका सृष्टा सामाजिक यथार्थ को अपनी रचना में उतार सका है या नहीं; वास्तविकता उसकी कृति में स्पन्दित है या नहीं? यदि किसी लेखक की रचना इस कसौटी पर खरी उतरती है तो निश्चित रूप से उसका राजनीतिक महत्त्व भी होता है, फिर चाहे उसके रचयिता का राजनीतिक दृष्टिकोण पूर्णतः प्रबुद्ध हो या न हो। अपने समय के अनेक उग्रपंथी साहित्यकारों की तुलना में तालस्ताय को महान् स्वीकार करके लेनिन ने इसी तथ्य को स्वीकृति दी थी। स्वदेश में प्रेमचन्द का उदाहरण हमारे इस मत के पुष्ट्यर्थ प्रस्तुत किया जा सकता है।

हम अपनी बात को जरा और स्पष्ट करें। साहित्य और राजनीति के उक्त पारस्परिक घनिष्ठ संबंध-निरूपण से स्पष्टतः हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्य की सृष्टि राजनीतिक दलों के आदेश पर अथवा सामयिक राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु अथवा तत्कालीन शासक-वर्ग के हितों की रक्षा के लिए होनी चाहिए। हमारा मन्तव्य केवल इतना है कि साहित्यकार जीवन को धर्म, दर्शन, विज्ञान, राजनीति आदि विभिन्न टुकड़ों में खंडित न करके उसके समग्र रूप में ग्रहण करे और वह किसी कल्पना-लोक के वायवी एवं असत्य 'शाश्वत सत्य' के नाम पर सजीव तथा सप्राण सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा न करे। क्रिस्टोफर कॉडवेल के शब्दों में हम केवल इतना चाहते हैं कि कलाकार

---

१. "It would seem quite obvious to any normally thoughtful person that nothing—much less art—can exist in a vacuum; × × ×. Since politics is a most important factor of the social reality, the divorce of art from politics would be as absurd as the divorce of art from words themselves, and this, of course, is quite well understood by the literary touts of monopoly capital—even though they piously intone otherwise."
—Literature and Reality : Howard Fast, P. 88 (New Delhi, 1955)

जीवन और कला में तथा कला और जीवन में परस्पर उचित सामंजस्य स्थापित करे।[1] साहित्य का जीवन से घनिष्ठ संबंध स्थापित करने तथा जीवन का स्वर अपने पूरे ओज, संपूर्ण व्यापकता और वैविध्य के साथ साहित्य में मुखरित होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि लेखक मार्क्सवाद, गांधीवाद अथवा अन्य किसी 'वाद' का आचार्य हो। श्री अमृतराय के शब्दों में इसके लिए आवश्यक केवल इतना है कि साहित्यकार को एक संवेदनशील तथा परदुःखकातर हृदय प्राप्त हो और उसमें सूक्ष्म निरीक्षण की क्षमता हो। "यदि किसी साहित्यिक के पास ये दो चीजें हैं तो यह निर्विवाद है कि उस साहित्यिक के समाज-विषयक निष्कर्ष उत्तरोत्तर क्रान्ति की ओर अभिमुख होंगे और समाज को प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करेंगे।"[2]

जब हम साहित्य और राजनीति के मध्य पारस्परिक एकता की आवश्यकता की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि एक बार पुनः साहित्यकारों और राजनीतिज्ञों में वही संबंध स्थापित होना चाहिए जो वीरगाथा-काल तथा रीतिकाल के हिंदी कवियों का अपने आश्रयदाता एवं अन्नदाता राजा-महाराजाओं के साथ था। इसके विपरीत हम केवल इतना चाहते हैं कि साहित्यकार यह देखें और समझें कि साहित्य का उद्देश्य केवल तथाकथित ब्रह्मसहोदर रस की निष्पत्ति मात्र ही नहीं अपितु 'कुछ और' भी है; कि वह प्रेमचन्द के समान साहित्य के सामाजिक उत्तरदायित्व को स्वीकार करें![3] हम चाहते हैं कि हमारे कलाकार एवं साहित्यकार—जिन्हें श्री शिवदानसिंह चौहान 'मानव-आत्मा के शिल्पी' जैसे सार्थक विशेषण से अभिहित करते हैं[4]—इस तथ्य को अपनी दृष्टि से ओझल न होने दें कि आधुनिक युग वास्तविकता का युग है, यही वह व्यावर्तक तत्त्व है जो उसे पिछले अन्य सभी युगों की तुलना में एक अनोखा वैशिष्ट्य प्रदान करता है। बीसवीं शताब्दी में स्वप्निलता में विश्वास करना कितना हास्यास्पद

---

१. "Ours is simply a demand that you should square life with art and art with life, that you should make art living. Cannot you see that their separation is precisely what is evil and bourgeois?"
—Illusion and Reality, P. 289 (Delhi, 1956)

२. नयी समीक्षा, पृ० ६५.

३. "इसीलिए साहित्य केवल निष्क्रिय मानसिक रसास्वादन की वस्तु नहीं हो सकता; साहित्य का भी सामाजिक उत्तरदायित्व है और वह दायित्व केवल 'श्रुतिस्मृति सदाचार' की रक्षा करने का दायित्व नहीं है, केवल प्रचलित श्रेणी विशेष द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श के अनुगमन का दायित्व नहीं है, समाज के ढाँचे को आमूल बदल देने का दायित्व है। यह उद्देश्यमूलकता केवल मार्क्सवादी साहित्य का ही लक्षण हो ऐसी बात नहीं है; दुनिया के सभी साहित्यों में, सभी श्रेणियों के साहित्यों में उद्देश्यमूलकता मौजूद है।"
—मार्क्सवाद और साहित्य : महेन्द्रचन्द्र राय, पृ० १६७–६८

४. साहित्य की समस्याएँ, पृ० १५०

हो सकता है—यह सहज ही अनुमेय है। वास्तविकता के विरुद्ध अन्य किसी वस्तु विश्वास करना आज सबसे बड़ा पाखण्ड और अधर्म है—ऐसा पाखण्ड जिसका विरो एवं खण्डन प्रत्येक समझदार आदमी को करना चाहिए। अब यह निर्विवाद रूप से स्थ पित हो चुका है कि वास्तविकता कल्पना से अधिक पूर्ण, अधिक जीवन्त, अधिक आश्चय जनक एवं अधिक विचारोत्तेजक होती है।[1] अतः यह निश्चित है कि वास्तविकता व छोड़कर कल्पना का पल्ला थामने वाले लेखक के कृतित्व में कभी स्थायित्व नहीं अ सकता।[2] राजनीति आज के युग की सबसे बड़ी वास्तविकता है, सबसे बड़ी सच्चाई है इसलिए आज राजनीति से दूर रहकर कोई कलाकार अपनी कृति में वास्तविकता को सामाजिक यथार्थ को अंकित नहीं कर सकता।

यथार्थतः आज प्रश्न यह नहीं है कि राजनीतिक हलचलों तथा सामयिक आन्दो लनों से दूर एवं तटस्थ रहकर साहित्यकार को साहित्य-प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहि अथवा नहीं, क्योंकि राजनीति के प्रति तटस्थ वह किसी भी युग में नहीं रह सका है आज प्रश्न यह है कि राजनीति में वह किन शक्तियों का साथ दे—सामन्तवाद, साम्राज्य वाद और पूंजीवाद की मरणोन्मुख शक्तियों का अथवा जनवाद की उभरती हुई प्रगति शील शक्तियों का? आज किसी भी साहित्यकार के लिए केवल तीन मार्ग हैं: सर्वहार वर्ग का विरोध, सर्वहारा वर्ग से समझौता या सर्वहारा वर्ग में सम्मिलित होकर उसे पूर तरह अपनाना। पहला मार्ग पीछे लौटने के समान है और दूसरा साहित्य में सुधारवाद को जन्म देता है। तीसरा मार्ग ही सही अर्थों में उसे प्रगतिशील दिशा की ओर ले जात है। यही आज के युग का सबसे बड़ा सत्य है, और इस सत्य से आँखें चुराकर महान् एव जीवन्त साहित्य का सृजन नहीं किया जा सकता।

साहित्य और राजनीति के पारस्परिक संबंध के प्रश्न पर यद्यपि प्रेमचन्द ने अधिक नहीं लिखा है, किन्तु जितना और जो कुछ लिखा है उससे यह दिन के प्रकाश की

---

१. "वास्तविकता कल्पना से न केवल अधिक जीवनमय होती है, वरन् अधिक पूर्ण भी होती है। कल्पना के छवि-चित्र वास्तविकता की केवल क्षीण और प्रायः असफल अनुकृति मात्र होते हैं।"

(निकोलाई गाव्रिलोविच चर्नीशेव्स्की)

—दर्शन साहित्य और आलोचना : अनु० नरोत्तम नागर, पृ० १७८

(पहला हिंदी संस्करण, १९५८)

२. "Literature is a part of reality! Literature is bound, wedded, and sealed to the reality of life. Literature has no separate existence from life, and the artist can have no separate existence from the citizen. Surrender, of course, is open to him, but it is not open to him to surrender and to remain a creative, living writer."

—Literature and Reality : Howard Fast, P. 105

भाँति स्पष्ट हो जाता है कि वे साहित्य और राजनीति को दो सर्वथा पृथक् एवं विरोधी इकाइयाँ नहीं मानते थे। उनका सम्पूर्ण साहित्य इस तथ्य का शक्तिशाली उद्घोष है कि राजनीतिक दल-विशेष के सिद्धान्तों तथा स्वार्थों का अंधानुयायी और अंध समर्थक बने बिना भी साहित्य राजनीति को प्रचुर मात्रा में प्रभावित कर सकता है। वे यह मानते थे कि समाज में होने वाली क्रान्तियों, आन्दोलनों एवं हलचलों से बेखबर तथा समाज के दुःख-सुख से अप्रभावित रहते हुए अपने ही कल्पना-लोक में विहार करने वाले साहित्य के लिए; अमीरों और सेठ-साहूकारों का याचक बनकर जीवन-यापन करने वाले साहित्यकारों के लिए इस दुनिया में कोई जगह नहीं है।[1] स्पष्ट है कि जिस तरह के साहित्य और साहित्यकारों के लिए प्रेमचन्द इस दुनिया में कोई स्थान नहीं मानते, उस तरह का साहित्य तथा उसके रचयिता ही राजनीति से दूर रहने का दंभपूर्ण दिखावा कर सकते हैं। प्रेमचन्द का यह स्पष्ट मत था कि साहित्य-सृजन के पीछे यदि कोई गंभीर उद्देश्य नहीं है तो वह बाजीगर या मदारी के खेल से अधिक नहीं हो सकता।[2] (हालाँकि बाजीगर भी अपना खेल निरुद्देश्य नहीं दिखाता और मदारी भी अपनी बंदरिया को यों ही नहीं नचाता !) वे केवल उसी साहित्य को सच्चा और खरा साहित्य मानते थे जिसमें "उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[3] प्रेमचन्द साहित्य और कला को शराब-कबाब तथा राग-रंग का मुखापेक्षी न बनाकर उद्योग एवं कर्म का सन्देशवाहक बनाना चाहते थे।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने न केवल अपने रचनात्मक साहित्य द्वारा, बल्कि अपने आलोचनात्मक लेखों द्वारा भी ऐसे साहित्य का घोर विरोध किया है जो हमें

---

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० १५

२. (क) "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।"

—वही, पृ० १५

(ख) "साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।"

—वही, पृ० ५८

३. वही, पृ० १९

४. वही, पृ० १८

अकर्मण्य, आलसी, निराशावादी, भाग्यवादी, विलासी और निठल्ला बनाता है।[1] इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि साहित्य के उद्देश्य के संबंध में प्रेमचन्द के उपरोक्त मत की मार्क्सवादी समीक्षकों के मत मे तुलना करने पर उनमें अद्भुत साम्य दृष्टिगत होता है।[2]

यहाँ यह कहा जा सकता है कि साहित्य का धर्म प्रकाश देना है, गर्मी अर्थात् उत्तेजना देना नहीं। एक राजनीतिज्ञ अपनी बात मनवाने के लिए जनता के आवेश को जगाता है, उसे उत्तेजित करता है और इस प्रकार वह उसे एक विशिष्ट कर्म करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से प्रेरित करता है ; किन्तु साहित्यकार का धर्म यह नहीं हो सकता। जो साहित्य हमें कोई कर्म-विशेष करने के लिए प्रेरित अथवा उत्तेजित करे वह शाश्वत और महान् साहित्य नहीं हो सकता।[3] जैनेन्द्र जी के इन तर्कों पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि वे कितने बेजान और लचर हैं। प्रकाश और गर्मी में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। सूर्य हमें प्रकाश भी देता है और गर्मी भी। गर्मी वास्तव

---

१. (क) "हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाय। ××× इस भावोत्तेजक कला का अब जमाना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का सन्देश हो।"

—साहित्य का उद्देश्य, पृ० १०

(ख) "जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएँ न हों, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए, या भाषा-चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन, प्राणहीन। ××× वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे में डुबा दे, जो हमें वैराग्य, पस्तहिम्मती, निराशावाद की ओर ले जाय, जिसके नजदीक संसार दुःख का घर है और उससे निकल भागने में हमारा कल्याण है, जो केवल लिप्सा और भावुकता में डूबी हुई कथाएँ लिखकर कामुकता को भड़काये, निर्जीव है।"

—वहीं, पृ० १९९

२. "जो कलाकृति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों को थपकियां देकर सुलाती है और उसे अफीम का नशा-सा पिलाकर जीवन के संघर्ष से विरत करती है, वह निश्चय हीनकोटि की है।"

(Marxism and Modern Art : F.D. Klingender, P. 41)

—नयी समीक्षा : अमृतराय, पृ० ३५ पर उद्धृत

३. विशेष : प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली के नवें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर भारतीय साहित्य परिषद् के तत्वावधान में "भारतीय साहित्य की मूल प्रवृत्तियां" विषय पर आयोजित एक विवाद-गोष्ठी में श्री जैनेन्द्रकुमार ने कुछ इसी तरह की बातें कही थीं। यहाँ पर यथाशक्ति उनके मत को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, यद्यपि मौखिक भाषण से स्मृति के बल पर उद्धृत किए जाने के कारण उपर्युक्त पंक्तियों का संपूर्ण दायित्व इन पंक्तियों के लेखक पर ही है।

में प्रकाश का ही धर्म है। अत: न तो गर्मी और प्रकाश में अन्तर करना उचित है और न इस कृत्रिम विभेद के आधार पर साहित्य का श्रेष्ठत्व परखना ही समीचीन तथा वैज्ञानिक है। विश्व-साहित्य के इतिहास पर एक सरसरी दृष्टि डालने से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि श्रेष्ठ साहित्य गर्मी और प्रकाश दोनों ही देता है। कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देने वाला साहित्य महान् भी हो सकता है और शाश्वत भी; बशर्ते कि उसका रचयिता रूसो और वाल्तेयर, तुलसी और प्रेमचन्द, तॉलसताय और गोर्की, टैगोर और काजी नज़रुल इस्लाम, शेक्सपियर, शैली और कीट्स, बालजाक और रोमाँ रोलाँ तथा नाजिम हिकमत जैसी साहित्यिक प्रतिभा एवं मानवीय संवेदना से सम्पन्न हो।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द उद्देश्यमूलक (Tendentious) साहित्य के समर्थक थे, निरुद्देश्य साहित्य के नहीं। उन्हें यह घोषणा करने में कोई हिचक नहीं थी कि वे और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलते हैं।[2] वे मानते थे कि इस संसार में जो कुछ असुन्दर, अभद्र और मनुष्यता से रहित है, उस पर अपने शब्दों एवं भावों की पूरी शक्ति से प्रहार करना तथा दलित, पीड़ित, वंचित और शोषित—चाहे वह व्यक्ति हो अथवा समूह—की हिमायत और वकालत करना साहित्यकार का सबसे पहला कर्त्तव्य है।[3] इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि फ्रेडरिक एंगेल्स भी उद्देश्यमूलक कविता के समर्थक थे; हालाँकि वे यह मानते थे कि साहित्य की यह उद्देश्यमूलकता उसमें वर्णित स्थितियों एवं कार्यों से ध्वनित होनी चाहिये, स्वयं लेखक को उस ओर सीधा संकेत नहीं करना चाहिए।[4]

अक्सर यह कहा जाता है कि साहित्य का कोई उद्देश्य नहीं होता। कारण एवं उद्देश्य 'निर्माण' का होता है, 'सृजन' का नहीं। यह तो बताया जा सकता है कि सीमेंट

---

१. "इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देने वाले साहित्य की उत्तमता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता, यदि उसका रचयिता जीवन और कला दोनों ही की दृष्टि से अधिकारी व्यक्ति हो।"

—नयी समीक्षा, पृ० ३७

२. साहित्य का उद्देश्य, पृ० ११

३. वही, पृ० ६

४. "I am not at all an opponent of tendentious poetry as such."
"But I think that the bias should flow by itself from the situation and action, without particular indications, and that the writer is not obliged to obtrude on the reader the future historical solutions of the social conflicts pictured."

(Frederick Engels, Letter to Minna Kautsky, Nov. 26,1885)
—Literature and Art : Karl Marx and Frederick Engels, P. 39
(Bom., 1956)

का कारखाना क्यों चलता है अथवा ईंट की भट्ठी क्यों जलती है, पर यह नहीं बताया जा सकता कि फूल क्यों खिलता है। अतः सृजन-धर्मी होने के कारण साहित्य ही साहित्य का उद्देश्य होता है।[1] साहित्य का यदि कोई कारण तथा उद्देश्य होता भी है तो वह एकमात्र 'आनन्द' होता है। 'आनन्द' ही उसका आदि, मध्य और अन्त होता है।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में इस तरह के विचार उसके महत्त्व को किसी भी अर्थ में बढ़ाते नहीं, घटाते ही हैं।[3] पहली बात तो यह कि कोई भी सृजन—चाहे वह 'स्वान्त:सुखाय' हो अथवा 'आत्माभिव्यक्ति' मात्र, चाहे वह 'अहम् का विस्फोट' हो अथवा 'सृजन के लिए सृजन'—कभी भी निरुद्देश्य नहीं होता। मनुष्य मूलतः एवं प्रथमतः एक सामाजिक प्राणी है; पर न जाने क्यों अरस्तू का यह बहु-उद्धृत वाक्य 'A man outside society is either a god or a beast' हमारे उन समाज-निरपेक्ष साहित्यकारों-समालोचकों की समझ में नहीं आता जो अपने को और अपने कृतित्व को समाज तथा सामाजिक यथार्थ से ऊपर मानते हैं। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य की प्रत्येक सृष्टि के पीछे कोई-न कोई उद्देश्य आवश्यक रूप से रहता है।[4] मनुष्य की किसी सृष्टि अथवा कर्म को निरुद्देश्य मानना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा करना वस्तुतः मनुष्य के उपचेतन को झुठलाना होगा। श्री बालकृष्ण राव का कहना है कि हिटलर के कान्सेण्ट्रेशन कैम्पों में बंद युद्ध-बंदियों द्वारा छोटे-बड़े लकड़ी, चमड़े और पत्थर के टुकड़ों पर खड़िया, कोयला, ईंट के टुकड़े अथवा किसी नुकीली छड़ से बनाई गई तरह-तरह की आकृतियों को भी हम निरुद्देश्य सृजन का उदाहरण नहीं मान सकते; हालाँकि इन कलाकृतियों को बनाने वाले सर्वथा असहाय, आस्थाहीन और टूटे हुए लोग थे, हालांकि उन्होंने किसी उद्देश्य से अपनी कला के ये नमूने कान्सेण्ट्रेशन कैम्प में नहीं छोड़े थे और हालाँकि अपनी कलाकृतियों के कभी प्रकाश में

---

१. टैगोर का साहित्य-दर्शन : अनुवादक—राधेश्याम पुरोहित, पृ० ५३-५४ (प्रथम संस्करण, १९५६)

२. वही, पृ० ५५

३. "इन कलाकारों और दार्शनिकों के अनुसार कला का महत्त्व उसके ऐहिक उपयोगों पर निर्भर नहीं है, और यह कि 'अपने हितों को छोड़ अन्य किन्हीं हितों को साधना कला के लिए घातक है, उसे नीचे गिराना है,' कि 'कला स्वयं अपने-आप में एक लक्ष्य है,' कि 'कला का एकमात्र उद्देश्य लोकोत्तर आनन्द प्रदान करना है।' कला-संबंधी ये विचार, जो आज भी प्रचलित हैं, कला को उसके समूचे व्यावहारिक महत्त्व से वंचित कर देते हैं, और वह एक खेल की चीज मात्र बनकर रह जाती है।" (नि० गा० चर्नीशेव्स्की)

—दर्शन साहित्य और आलोचना : अनु० नरोत्तम नागर, पृ० १८५

४. "साहित्यकार भी एक सामाजिक प्राणी है और जब वह अपने साहित्य द्वारा पाठकों तक अपनी बात पहुँचाता है तो यह भी एक सामाजिक क्रिया है, अतएव साहित्य का सामाजिक उद्देश्य होना आवश्यक है।"

—चिन्तन और साहित्य : देवेन्द्र इस्सर, पृ० २८ (दिल्ली, १९५८)

आने की उन्हें न तो कोई आशा थी और न इच्छा ही ![1] इतना ही नहीं, पागलों द्वारा खींची गई टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ और उनका अनर्गल प्रलाप भी सर्वथा निरुद्देश्य तथा निष्प्रयोजन नहीं होता। जब अपने जीवन से सर्वथा निराश युद्ध-बंदियों और असामाजिक प्राणी पागलों के विषय में यह नहीं माना जा सकता तो कोई कारण नहीं कि समाज में रहने एवं उससे अपने तथा अपनी कला के लिए जीवन-रस ग्रहण करने वाले एक सर्वथा सामाजिक प्राणी साहित्यकार के कृतित्व को निरुद्देश्य सृजन माना जाए।

दूसरी बात यह कि 'आनन्द' को साहित्य का एकमात्र लक्ष्य, प्रयोजन अथवा उद्देश्य मानना उतना ही गलत और अनुचित है जितना कि भोजन करते समय मिलने वाले आनन्द अथवा स्वाद को ही भोजन का लक्ष्य तथा प्रयोजन मानना। रूस के प्रसिद्ध उपन्यासकार और विचारक-मनीषी ताल्स्ताय का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि **"जिस तरह आनन्द को भोजन का लक्ष्य और प्रयोजन माननेवाले खाने का सही अर्थ नहीं जान सकते उसी तरह आनन्द को कला का लक्ष्य मानने वाले कला के सत्य अर्थ और प्रयोजन को नहीं समझ सकते, क्योंकि वे आनन्द का मिथ्या और अतिरिक्त लक्ष्य एक ऐसे व्यापार पर आरोपित कर देते हैं जिसका अर्थ उस संबंध में प्राप्य है जो उसके और जीवन के अन्य कार्यों के बीच स्थापित है।"**[2] 'साहित्य साहित्य के लिए' और 'साहित्य लोकोत्तर आनन्द प्राप्ति के लिए' जैसे सिद्धान्तों को स्वीकार करने का अर्थ वस्तुतः 'जीवन जीवन के लिए', 'विज्ञान विज्ञान के लिए', 'भोजन भोजन के लिए', 'मैं मेरे लिए' जैसी मूर्खतापूर्ण एवं सामाजिक स्वास्थ्य के लिए अनिष्टकारी उक्तियों को स्वीकार करना होगा। इस तर्कपद्धति का अनुसरण करके स्वभावतः इसी तर्कसंगत परिणाम (Logical conclusion) पर पहुँचा जा सकता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का ही फल है कि साहित्य और कला को अक्सर ईश्वर अथवा सौन्दर्य की किसी अज्ञात तथा रहस्यपूर्ण कल्पना की अभिव्यक्ति मान लिया जाता है। इस प्रकार अन्तिम विश्लेषण में यह सिद्धान्त साहित्य और कला को अमानवीय अथवा अतिमानवीय वस्तुएँ घोषित करके उन्हें रहस्यवाद की भूलभुलैयाँ की दशा में ले जाता है।

साहित्य अथवा कला कोई एकाकी आनन्दोपभोग—उस आनन्द को फिर चाहे 'लोकोत्तर' विशेषण से ही क्यों न विभूषित किया जाए—की वस्तु नहीं है। साहित्य-प्रणयन की प्रक्रिया ही स्वयं इस तथ्य की द्योतक है कि साहित्य एक सामाजिक क्रिया है; और यह स्पष्ट है कि सामाजिक होने के नाते ही उस क्रिया का साहित्य और कला के रूप में महत्त्व है, मूल्य है।[3] हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि कोई भी कलाकृति

---

१. हंस—साहित्य-संकलन १ : सम्पादक—बालकृष्ण राव, अमृतराय; पृ० ७१ (इलाहाबाद, १९५७)
२. कला क्या है : अनु० इन्दुकान्त शुक्ल, पृ० ७६ (प्रथम जन-संस्करण, १९५५)
३. "Art is a social function. This is not a Marxist demand, but arises from the very way in which art forms are defind. Only

अपने प्रणेता की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ एक सामाजिक दस्तावेज (Social document) भी होती है; और हम समझते हैं कि इसी रूप में उसका अधिक महत्त्व, अधिक मूल्य होता है।[1] दूसरे शब्दों में कोई भी साहित्यिक रचना अपने रचयिता की व्यक्तिगत रुचि-अरुचि मात्र की आत्माभिव्यक्ति ही नहीं वरन् पूरे समाज की रुचि-अरुचि की, सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति भी होती है। यही कारण है कि साहित्य लेखक की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होता, उस पर समस्त मानवता का अधिकार होता है। साहित्य विश्व-मानव का है, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं।

अंत में हम अज्ञेय के निम्नोक्त शब्दों के साथ इस प्रसंग को समाप्त करना चाहते हैं: **"इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कला केवल एक निरुद्देश्य उद्गार है, उच्छ्वास है कलाकार के अन्तस् की दलदल से उठा हुआ एक बुलबुला मात्र। साहित्य भी समाज को प्रेरणा दे सकता है, 'आगे' बढ़ने को विवश कर सकता है, किन्तु तभी जब लेखक में स्वभावतः उस प्रेरणा से उत्पन्न हुआ हुआ असन्तोष, अशान्ति, विद्रोह भाव हो... कलाकार की कृतित्वशक्ति किन्हीं बौद्धिक सीमाओं में बँधकर नहीं चलती, वह केवल चलती है।"**[2] अज्ञेय की इन पंक्तियों का महत्त्व इस बात में विशेष रूप से है कि वे एक ऐसे व्यक्तिवादी लेखक एवं विचारक की लेखनी से निकली हैं जो यह मानता है कि लेखक बन्धन से परे है, और रहेगा।[3] इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय भी साहित्य अथवा कला को निरुद्देश्य सृजन का नमूना नहीं मानते।

साहित्य में युग-धर्म का चित्रण—

उक्त सम्पूर्ण विवाद का मुख्य विवादास्पद मुद्दा यह है कि साहित्य में युग-धर्म का चित्रण होना चाहिए अथवा शाश्वत धर्म का? इस विवाद में शाश्वत और सनातन सत्य के चित्रण का पक्ष लेने वाले आलोचकों के सम्पूर्ण तर्कों का सारांश यह है कि कला अथवा साहित्य विशुद्ध रूप से अपने रचयिता की एक आंतरिक और व्यक्तिगत क्रिया—

---

those things are recognised as art forms which have a conscious social function. The phantasies of a dreamer are not art. They only become art when they are given music, forms or words, when they are clothed in socially recognised symbols, and of course in the process there is a modification. × × × No chance sounds constitute music, but sounds selected from a socially recognised scale and played on socially developed instruments."

—Studies in a Dying Culture : Christopher Caudwell, P. 44 (London, 1957)

१. साहित्य की समस्याएँ : शिवदानसिंह चौहान, पृ० १२६
२. त्रिशंकु, पृ० ६९–७०
३. वही, पृ० ७२

जो स्वयं में पूर्ण है—का परिणाम होता है। अतः उसका मूल्यांकन भी स्वयं उसी के आधार पर किया जाना चाहिए, न कि अन्य वाह्य आधारों पर (यथा जीवन में साहित्य की उपयोगिता आदि)। उसकी उत्कृष्टता या निकृष्टता का आधार हमें स्वयं कला या साहित्य में ही खोजना चाहिए; समाज, राजनीति आदि इतर तत्त्वों में नहीं। इन आलोचकों का कहना यह है कि साहित्यकार को युगानुसार परिवर्तित होने वाली युग-वाणी अर्थात् समय की माँग और युग-समस्याओं का चित्रण नहीं करना चाहिए, क्योंकि कालान्तर में उन समस्याओं का समाधान हो जाने पर उनसे संबंधित साहित्य भी विस्मृति के गर्त्त में विलीन हो जाता है। युग-धर्म और युग-सत्य सतत परिवर्तनशील होता है, स्वभावतः उनके आधार पर रचित साहित्य अधिक-से-अधिक युग-साहित्य ही हो सकता है, शाश्वत साहित्य नहीं।[1]

इस विवाद में जाने से पूर्व हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि युग-सत्य और शाश्वत सत्य के मध्य कोई व्यावर्तक रेखा नहीं खींची जा सकती। एक तो 'सत्य' की परिभाषा करना ही अपने आप में काफी गंभीर समस्या है, और यदि उसके साथ शाश्वत जैसा शब्द जोड़ दिया जाए तो वह और भी पेचीदा और उलझनपूर्ण बन जाता है। सत्य का अर्थ है 'अस्ति' अर्थात् जो है; असत्य का अर्थ है 'नास्ति' अर्थात् जो नहीं है। इस अर्थ के आधार पर संभवतः 'सत्य' का 'स्थायी सत्य' तथा 'अस्थायी सत्य' जैसा कृत्रिम विभाजन नहीं किया जा सकता। वस्तुतः युग-सत्य और शाश्वत सत्य में अधिक विभेद नहीं है, यदि है भी तो वह ऊपरी है, आन्तरिक नहीं; शरीर का है, आत्मा का नहीं। समुद्र की विशाल और असीम जल-राशि में उठने वाली लहरें चाहे क्षणिक हों, किन्तु जिस तत्त्व से उनका उद्गम होता है वह निश्चित रूप से स्थायी होता है। क्या लहरों से पृथक् उस तत्त्व के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है? इस दृष्टि से युग-सत्य और शाश्वत सत्य यथार्थ में एक दूसरे के पूरक ही सिद्ध होते हैं।

सच तो यह है कि शाश्वत सत्य जैसी किसी निरपेक्ष वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता, क्योंकि 'सत्य' अपने आप में किसी पूर्ण वस्तु का नाम नहीं है। युगानुसार उसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन होते रहते हैं। एक युग के लिए जो सत्य होता है, दूसरे युग के लिए वही असत्य हो सकता है। अतएव हमें चाहिए कि हम शाश्वत सत्य और युग-सत्य

---

१. "कोई भी युग-साहित्य कभी चिर-साहित्य नहीं हो सकता। कितने ही राजनीतिक मतवाद और सामाजिक अनुशासन संसार में आए और गए, जो-जो साहित्यिक रचनाएँ उन मतवादों के प्रचार के लिए लिखी गईं, वे भी उन्हीं के संग विलीन हो गईं। पर अमृत के वरपुत्र विश्व-कवियों और मनीषियों ने शाश्वत विश्व-जीवन के मर्म में अपनी अन्तरात्मा को निमग्न करके जो अमर रचनाएँ अपने युग के विचारों के प्रचार के लिए नहीं, बल्कि समग्रकालीन मानवता के आनन्द और कल्याण के लिए लिखीं, केवल वे ही शताब्दियों के चक्र-संघर्षों के पेषण से बचकर स्थायी रह पाई हैं।"

—विवेचना : इलाचन्द्र जोशी, पृ० ३५

का निर्णय स्वयं युग के ऊपर ही छोड़ दें। नित्य और अनित्य, स्थायी और अस्थायी, शाश्वत और सामयिक, चिरन्तन और तात्कालिक—चुंबक के इन दो छोरों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।[१] वास्तव में ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के बिना हम दूसरे को सही रूप में समझ नहीं सकते, जान नहीं सकते। और फिर 'सत्य' कोई स्थिर और जड़ सत्ता नहीं, वरन् एक गत्यात्मक और विकासशील सत्ता है। 'सत्य' को स्थिर अथवा अपरिवर्तनीय मानना अब तक के मानव-इतिहास को झुठलाना है। यह किन तर्कों के आधार पर माना जा सकता है कि आदिम युग के बर्बर मानव का भी वही 'सत्य' था जो आज के अणु-युग के मानव का है ? आज हम ज्ञान-विज्ञान की जिस सीमा तक पहुँच चुके हैं उसमें यह कहना कि 'सत्य शाश्वत और सनातन है' निरी अज्ञता ही होगी। आज जब कि मृत्यु पर विजय पाने के प्रयासों में सफलता हमारे चरण चूमने की तैयारी में है, यह कहना और भी अधिक हास्यास्पद होगा।

परिवर्तन ही जगत् का नियम है। बाह्य और भौतिक ही नहीं मनुष्य का आन्तरिक जीवन अर्थात् भाव जगत् भी परिवर्तन के नियम से परिचालित है। यह बात दूसरी है कि देश और कालभेद से परिवर्तन की गति एवं प्रक्रिया में भेद हो। मानव-इतिहास पर एक साधारण दृष्टिपात से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि देश और काल-भेद से मानव के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक इत्यादि आदर्शों में निरन्तर परिवर्तन होता आया है। वास्तविकता परिवर्तनशील है, अतः 'सत्य' भी परिवर्तनशील है। हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि 'सत्य' के मान और मूल्य प्रत्येक युग में बदलते आए हैं। निस्सन्देह यह प्रवृत्ति स्वास्थ्य की सूचक है, अस्वास्थ्य की नहीं।[२]

युग-सत्य का चित्रण करने वाले साहित्यकारों पर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि उनका साहित्य स्थायी नहीं हो सकता, उसका मूल्य एवं महत्त्व शुद्ध सामयिक होता है शाश्वत नहीं, उसका प्रभाव स्थानीय होता है विश्व-व्यापी नहीं। अत्यन्त भारी-भरकम और गंभीर शब्दावली के प्रयोग के बावजूद इस आरोप का खोखलापन किसी भी विचारशील पाठक से छिप नहीं सकता। पहली बात तो यह कि यह प्रश्न ही कृत्रिम तथा अनावश्यक है कि साहित्य में युग-चेतना का प्रतिफलन होना चाहिए या नहीं, क्योंकि

---

१. दर्शन साहित्य और आलोचना, पृ० ९७

२. "And as the reality changes, standards must change. There are no eternal standards; there can be no eternal standards, and the very use of the word eternal in terms of standards is an enormous presumption. The only eternal quality which a thoughtful man may even dare to consider is change itself; but standards, which are only measures of culture, ethics, and morality, are as subject to change as the factors they reflect."

—Literature and Reality : Howard Fast, P. 23-24

प्रत्येक साहित्य अंततोगत्वा अपने युग को सारभूत चेतना का ही प्रतीक होता है। यह कहना ही एक गलत दृष्टिकोण का परिचायक है कि यदि साहित्य में मात्र 'आज' का ही चित्रण होगा तो वह आने वाले 'कल' का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेगा, क्योंकि 'कल' की सत्ता 'आज' से भिन्न या पृथक् नहीं है। 'आज' के गर्भ में से ही 'कल' का जन्म होता है। अतः जो साहित्य 'आज' की चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, वह स्पष्टतः 'कल' का प्रतिनिधित्व भी नहीं कर सकता। कोई भी महान् साहित्यकार इतना स्वार्थी और संकीर्णमना नहीं हो सकता कि वह काल्पनिक 'स्थायीत्व' के लोभ तथा 'शाश्वत, सनातन और निरपेक्ष सत्य' जैसे छायावादी, अस्पष्ट एवं भ्रामक शब्दजाल में भूलकर अपने युग की समस्याओं तथा उन समस्याओं के साथ संयुक्त मानव को भुला दे। सच तो यह है कि अपने युग की उपेक्षा करके कोई भी साहित्यकार या विचारक युग-युग का हो ही नहीं सकता। जीवन के सप्राण और जीवन्त सत्य को छोड़कर किसी निष्प्राण और जड़ शाश्वत सत्य की खोज के हेतु शून्य में भटकते हुए महान् साहित्य का सृजन नहीं किया जा सकता। शाश्वत सत्य का चित्रण करने वाले कलाकार इस जीवन की सजीव वास्तविकता का नहीं वरन् उस 'शाश्वत सत्य' का चित्रण करके अपने को तथा अपनी कला को सार्थक मानते हैं जिसका अस्तित्व उनकी कल्पना में है। वे इस विश्व में बसने वाले इंसान का नहीं बल्कि उस शाश्वत एवं सार्वभौमिक मानव का अंकन करते हैं जिसका इस जगत् से कोई संबंध नहीं है और जो केवल दर्शन के धुंधले जगत् में ही मिल सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का साहित्य न तो महान् कहलाने का अधिकारी हो सकता है और न शाश्वत।

हम मानते हैं कि मानव-जीवन के कुछ तत्त्व, कुछ मूल्य ऐसे हैं जो दो हजार वर्ष पूर्व भी उतने ही सत्य थे जितने कि आज हैं, और आज से दो हजार वर्ष पश्चात् भी उतने ही सत्य रहेंगे। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि साहित्यकार को इन्हीं तत्त्वों एवं मूल्यों का चित्रण करना चाहिए; यही तत्त्व उसे स्थायीत्व प्रदान कर सकते हैं। किन्तु यदि साहित्यकार का धर्म केवल इतना ही होता तो उसे बार-बार प्रत्येक युग में इन तत्त्वों के चित्रांकन की आवश्यकता क्यों पड़ती? एक बार आरंभ में ही वह अपने कर्म से छुट्टी पा लेता! स्पष्ट है कि समय-समय पर इन तत्त्वों में जो विकृतियाँ आती हैं, जो शक्तियाँ उन विकृतियों को लाने में सहायक होती हैं—उनका चित्रण और विश्लेषण भी उसका धर्म है। उदाहरणार्थ माँ अपने पुत्र से प्यार करती है—यह एक शाश्वत सत्य है; किन्तु आज के युग में एक माँ अपने इकलौते लाल को कुछ कलदारों के लिए बेचने पर विवश हो जाती है। अब आधुनिक साहित्यकार का धर्म है कि वह पुत्र के प्रति माँ के प्रेम का निरूपण करके ही न रह जाए, बल्कि समाज में उन कारणों और शक्तियों की जाँच-पड़ताल भी करे जिनसे बाध्य होकर एक माँ ऐसा जघन्य कर्म करने के लिए मजबूर होती है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी एक ऐसे शाश्वत सत्य की कल्पना नहीं की जा सकती

जिससे प्रत्येक युग का साहित्यकार हमेशा-हमेशा के लिए चिपका रह सके। जीवन गतिशील और अपूर्ण है। स्वभावतः जीवन का 'सत्य' भी गतिशील और अपूर्ण है। श्री महेन्द्रचन्द्र राय के शब्दों में "इस जगत् और जीवन में, वस्तु जगत् और मानस जगत् में कोई भी घटना, कोई भी भाव एवं भावना चरम और शाश्वत होने का दावा नहीं कर सकती।"[1] निष्कर्ष यह कि साहित्य में शाश्वत सत्य और चिरन्तन भावनाओं के चित्रण की मोहक एवं आकर्षक बात मृगमरीचिका से अधिक सत्य नहीं है।

अपनी बात के प्रमाणस्वरूप हम भारतीय वाङ्मय से एक बहुत ही साधारण (Common) उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। रामकथा पिछले सहस्रों वर्षों से भारतीय जन-जीवन का एक अभिन्न अंग रही है, जिसे लेकर संस्कृत एवं हिंदी ही नहीं भारत की दूसरी प्रादेशिक भाषाओं में भी अनेक महाकाव्य और खंडकाव्य लिखे गए हैं। यदि हम एक ओर संस्कृत तथा हिंदी में आज तक लिखे गए रामकाव्यों का और दूसरी ओर विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में लिखित रामकाव्यों का पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि युग-चेतना साहित्य की भावधारा एवं कवियों के मानस को कितना अधिक प्रभावित करती है! जब हम देखते हैं कि एक युग का साहित्यकार अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए काव्य का प्रबन्ध रूप अपनाता है और दूसरे का मुक्तक रूप, तीसरे का नाट्य रूप और चौथे का कथात्मक रूप; जब हम देखते हैं कि एक युग का साहित्यकार अपना नायक राम और कृष्ण जैसे अलौकिक महापुरुषों तथा अवतारों को बनाता है, दूसरे का उदयन और दुष्यन्त जैसे शक्ति-सम्पन्न नृपतियों को तथा तीसरे का सूरदास और होरी को; जब हम देखते हैं कि एक युग का साहित्यकार अपनी नायिका राधा और सीता, पद्मावती और मृगावती को बनाता है, दूसरे का राज-दरबारों में नाचनेवाली नर्तकियों को तथा तीसरे का धनिया और बिलासी, सुमन और जालपा, नोहरी काकी और मुन्नी को तो स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य पर युग का कितना अधिक निर्णायक प्रभाव पड़ता है! उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि साहित्य के रूप-विधान अर्थात् बाहरी ढाँचे में ही नहीं वरन् उसकी आन्तरिक भावधारा अर्थात् आत्मा में भी युगानुसार निश्चित परिवर्तन-परिवर्द्धन होता है। स्पष्ट है कि हम उन आलोचकों से सहमत नहीं हैं जो युग-प्रभाव को साहित्य और कला के बाह्य रूपों तक ही सीमित सिद्ध करने का निष्फल प्रयास करते हैं[2]—निष्फल इसलिए कि रूप (Form) तथा विषय-वस्तु (Content) वस्तुतः कोई निष्क्रिय इकाइयाँ नहीं हैं कि उन्हें एक दूसरे से सर्वथा पृथक् तथा विच्छिन्न सिद्ध किया जा सके। रैल्फ फॉक्स के शब्दों में रूप का जन्म विषय-वस्तु से ही होता है और वह उससे घनिष्ठ एवं

---

१. मार्क्सवाद और साहित्य, पृ० ८
२. विवेचना : इलाचन्द्र जोशी, पृ० ३५

अविच्छेद्य रूप से संवद्ध है।[1] हॉवर्ड फास्ट का मत है कि विषय से पृथक् रूप का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता।[2] अतः एक का दूसरे से प्रभावित होना अर्थात् रूप के अनुसार विषय-वस्तु में और विषय-वस्तु के अनुरूप रूप-विधान में परिवर्तन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।[3]

कला एवं साहित्य के प्रति वूर्जवा या पूंजीवादी विचारधारा में एक विचित्र आत्म-विरोध दिखाई पड़ता है। एक ओर जहाँ वह कला और साहित्य में शाश्वत मूल्यों की गवेषणा करती है, दूसरी ओर वहाँ वह उन्हें अधिकाधिक व्यावसायिक तथा वाजारू रूप देने की दिशा में अग्रसर है। वह साहित्यकार को अपनी कलाकृति व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में देखने को वाध्य करती है, जिसे वाजार में शाक-भाजी की तरह वेचकर 'शाश्वत सत्य का वह चितेरा' किसी प्रकार अपनी आजीविका चलाता है। ऐसी अवस्था में साहित्य में शाश्वत सत्य के चित्रण की वात कितनी हास्यास्पद लग सकती है—यह सहज ही अनुमेय है।

प्रसिद्ध रूसी लेखक इलिया एहरनवर्ग के एक संस्मरण के साथ हम इस प्रसंग को समाप्त करना चाहते हैं। उनके आन्दोलनकारी (Agitational) साहित्य की ओर संकेत करते हुए किसी व्यक्ति ने उनसे पूछा कि वे एक क्षण के लिए ही रचना क्यों करते हैं ? उत्तर में एहरनवर्ग ने कहा कि यदि उस एक क्षण में उनके देश का और उनके देशवासियों के भाग्य का वारा-न्यारा हो रहा हो तो उस एक क्षण के लिए रचना करने

---

१. "But Marxism insists that neither form nor content are separate and passive entities. Form is produced by content, is identical and one with it, and, though the primacy is on the side of content, form reacts on content and never remains passive."

—The Novel and the People, P. 70 (Moscow, 1956)

२. "We say that form can have no separate validity from content, any more than a man's skin can live and breathe without the man inside of it."

—Literature and Reality, P. 48-49

३. "Form without content, form torn from its vital source of social existence must necessarily be sterile. The negation of content leaves art a lifeless abstraction doomed to decay. Form is the language by which content is communicated, to remain convincing it must change with every change of the content it is destined to express. Content and form are thus the inseparable poles of a greater unity of style that has its root in the mother social reality." (F. D. Klingender)

—Revolutionary Art : A Symposium, P. 22

में ही साहित्य की सार्थकता है।[1] हम समझते हैं कि साहित्य में युग-सत्य के चित्रण के विरोधियों की शंकाओं का इससे अधिक सटीक उत्तर नहीं दिया जा सकता।

साहित्य और प्रॉपेगैण्डा—

साहित्य और प्रॉपेगैण्डा का प्रश्न अर्थात् उनके मध्य पारस्परिक संबंध का प्रश्न पिछले कुछ वर्षों से एक विकट साहित्यिक विवाद का विषय बना हुआ है। प्रॉपेगैण्डा यद्यपि अपने मूल रूप और अर्थ में उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव-समाज का संगठन, किन्तु वर्त्तमान रूप में उसका व्यापक प्रयोग पश्चिम में पूंजीवाद के उदय के साथ सत्रहवीं शताब्दी से होने लगा है। वस्तुतः पूंजीवाद और प्रॉपेगैण्डा का अभ्युदय और विकास समानान्तर गति से हुआ है। अतः प्रॉपेगैण्डा को हम मुख्यतः पूंजीवादी सभ्यता—जिसे प्रेमचन्द महाजनी सभ्यता कहा करते थे—की देन मान सकते हैं। छापाखाना, समाचारपत्र, सिनेमा, रेडियो आदि के आविष्कार और प्रचार-प्रसार के साथ प्रॉपेगैण्डा ने बीसवीं शताब्दी के मानव के जीवन में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा सर्वव्यापी (All-pervading) स्थान ग्रहण कर लिया है। राजनीतिज्ञ हो या उद्योगपति, साहित्यकार हो या धर्माचार्य,—आज सभी को पग-पग पर प्रॉपेगैण्डा की सहायता लेनी पड़ती है।

प्रॉपेगैण्डा एक बदनाम शब्द है, अतः साहित्य अथवा कला के साथ उसका कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध स्वीकार करते हुए एक स्वाभाविक संकोच होता है—संकोच का कारण स्वयं प्रॉपेगैण्डा की पद्धति और उसके प्रयोग में निहित है। पर हमें यह नही भूलना चाहिए कि बुराई या भलाई प्रॉपेगैण्डा में नही वरन् उस उद्देश्य में है जिसके लिए उसका उपयोग किया जाए। वह तो एक विज्ञान है जिसका प्रयोग फासिज़्म, साम्राज्यवाद, साम्प्रदायिकता और युद्ध की शक्तियों को बढ़ावा देने में भी उतनी ही सफलता से किया जा सकता है जितनी कि विश्वशांति, विश्वबंधुत्व तथा वर्ग एवं शोषणमुक्त मानव-समाज की स्थापना में सहायक तत्त्वों का समर्थन करने में। तात्पर्य यह कि प्रॉपेगैण्डा का प्रयोग कोटि-कोटि मानवों को अन्याय, अत्याचार, अशिक्षा, अज्ञान एवं दासता से मुक्त कराने में भी किया जा सकता है और निहित स्वार्थों (Vested-interests) के रक्षार्थ भी। ज़ाहिर है कि बुराई प्रॉपेगैण्डा में नहीं बल्कि उसके प्रयोग में निहित है।

'इन्स्टीट्यूट ऑफ प्रॉपेगैण्डा एनालिसिस' (Institute of Propaganda Analysis) के अनुसार प्रॉपेगैण्डा की निम्नोक्त परिभाषा की जा सकती है : "**पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों को लक्ष्य में रखकर किसी व्यक्ति या समूह के मत या व्यवहार को प्रभावित करने के लिए सचेतनतया किसी व्यक्ति या समूह के मत और उसके व्यवहार की अभिव्यक्ति।**"[2] इस परिभाषा में प्रॉपेगैण्डा की जिन तीन प्रमुख विशेषताओं

---

१. हंस : मार्च १९५१, संपादकीय पृ० ३

२. चिंतन और साहित्य : देवेन्द्र इस्सर, पृ० ४५ पर उद्धृत

पर बल दिया गया है वे इस प्रकार हैं: १. प्रॉपैगैण्डा का उद्देश्य पूर्व-निर्धारित (Predetermined) होता है; २. प्रॉपैगैण्डा किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के मत या व्यवहार को प्रभावित करने के लिए होता है; तथा ३. प्रॉपैगैण्डा सचेतनतया किया जाता है।

स्पष्ट है कि यदि हम केवल इसी परिभाषा के आधार पर साहित्य और प्रॉपैगैण्डा का संबंध-निरूपण करें तो हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि 'समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है'। लेकिन यह परिभाषा हमें प्रॉपैगैण्डा की आत्मा का दर्शन कराने में समर्थ नहीं है। प्रॉपैगैण्डा की विशेषताएँ इतनी ही नहीं, कुछ और भी हैं। श्री देवेन्द्र इस्सर के शब्दों में "प्रॉपैगैण्डा बिना किसी आलोचना और परीक्षा के विचारों एवं घटनाओं को स्वीकार करने पर बल देता है। प्रॉपैगैण्डा बन्द मस्तिष्क की नींव पर आश्रित है। इसमें व्यक्ति के लिए कोई सम्मान नहीं होता और व्यक्ति का एक काल्पनिक और बनावटी चित्र 'जनता' के नाम से सामने आता है। भिन्न-भिन्न विधियों से अपने वास्तविक लक्ष्य को छिपाने का यत्न किया जाता है...।"[1] इसके अतिरिक्त प्रॉपैगैण्डा में तथ्यों की तोड़-मरोड़ और इकतरफा वक्तव्यों (One-sided statements) की भरमार होती है। प्रॉपैगैण्डिस्ट की सबसे बड़ी सफलता इसमें मानी जाती है कि वह पकड़ में आए बिना असत्य को सत्य और अतथ्य को तथ्य सिद्ध कर सके। प्रॉपैगैण्डा में अधिक-से-अधिक आंशिक सत्य ही होता है, पूर्ण सत्य नहीं। अपनी बात को अधिक विश्वसनीय, प्रामाणिक और तथ्यपूर्ण दिखाने के लिए प्रॉपैगैण्डिस्ट कई तरीके काम में लाता है, जिनमें मुख्य नाम धरना, चमत्कृत शब्दों से संयोग, साक्षी स्थानान्तरण, प्रख्यात या कुख्यात व्यक्ति की उक्ति का प्रयोग, जनहित से संबंध जोड़ना, असत्य की बाढ़, चढ़ती कला का साथ देना आदि है।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रॉपैगैण्डा और प्रॉपैगैण्डिस्ट की क्रमशः अपनी एक अलग शिल्पविधि (Technique) और कार्य-विधि होती है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि 'समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है'।

'Revolutionary Art : A Symposium' नामक पुस्तक में एरिक गिल (Eric Gill) का एक छोटा-सा लेख है, जिसमें उन्होंने चित्र-कला के संदर्भ में यह प्रतिपादित किया है कि 'समस्त कला प्रॉपैगैण्डा है'। उनके तर्कों का सारांश यह है कि समस्त कला का राजनीतिक महत्त्व है, क्योंकि किसी भी ऐसी कलाकृति का निर्माण नहीं किया जा सकता जो छोटे या बड़े रूप में समाज को प्रभावित न करे। कलाकार स्वयं चाहे इस संबंध में सज्ञान हो या न हो, वह प्रचार-मूल्यों से रहित किसी कृति का निर्माण कर ही नहीं सकता—प्रचार जो कि इस या उस 'कॉज़' (Cause) के पक्ष या विपक्ष में हो। विभिन्न पूंजीवादी विचारधाराओं, धर्मों, जीवन-दर्शनों और कला-समीक्षकों से

---

१. चिंतन और साहित्य : देवेन्द्र इस्सर, पृ० ४६ (दिल्ली १९५८)
२. वही, पृ० ४६–४७.

प्रभावित होकर कलाकार यह सोचने लगता है कि 'कला' और 'प्रॉपैगैण्डा' दो पृथक् शब्द हैं, कि किसी कलाकृति को प्रॉपैगैण्डा बताना उसे एक निकृष्ट कलाकृति बताना है। किन्तु तथ्य यही है कि 'समस्त कला प्रॉपैगैण्डा है', क्योंकि कलाकार के न चाहने पर भी उसकी रचनाएँ किसी-न-किसी रूप में समाज को प्रभावित करती ही हैं।[1] एरिक गिल की इस धारणा से हमारा विरोध केवल इतना है कि कतिपय अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की भाँति उन्होंने भी कला के सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्य को प्रॉपैगैण्डा के साथ गड़बड़ा दिया है। वे इस तथ्य को भुला देते हैं कि प्रॉपैगैण्डा हुए बिना भी कला का सामाजिक उद्देश्य हो सकता है और होता है। वे यह भी भूल जाते हैं कि कला और प्रॉपैगैण्डा में एक मौलिक अन्तर है जिसके कारण समस्त कला को प्रॉपैगैण्डा नहीं कहा जा सकता—वह अन्तर है उनकी 'टेकनीक' और प्रकृति का! इस संबंध में प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक स्वर्गीय क्रिस्टोफर कॉडवेल का मत अधिक वैज्ञानिक एवं वस्तुपरक है। उनके अनुसार कला को प्रॉपैगैण्डा कहना उतना ही गलत है जितना कि विज्ञान को प्रॉपैगैण्डा कहना। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों में से किसी का भी सामाजिक रोल नहीं है। इसके विपरीत उनका सामाजिक रोल प्रॉपैगैण्डा के रोल से कहीं अधिक प्राथमिक और मूलभूत है।[2] मार्क्सवादी नेता और विचारक माओ त्से तुङ्ग भी यह स्वीकार करते हैं कि राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रगतिशील और क्रान्तिकारी होते हुए भी तथाकथित 'इश्तहार और नारे मार्का' कलाकृतियों का, यदि वे कलात्मक दृष्टि से निर्बल हैं, विरोध किया जाना चाहिए।[3] अर्थात् वे स्वीकार करते हैं कि राजनीतिक और सामाजिक प्रगतिशीलता कलात्मक गुणों के अभाव की स्थानापन्न नहीं बन सकती। अमेरिका के प्रसिद्ध आलोचक-उपन्यासकार जेम्स टी० फ़ेरेल भी अपनी पुस्तक 'A Note on Literary Criticism' में प्रॉपैगैण्डा और साहित्य के पारस्परिक संबंधों पर विस्तार से विचार करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि हमें 'समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' की उक्ति को त्यागकर उसके स्थान पर 'साहित्य सामाजिक प्रभाव का अस्त्र है' को रखना चाहिए।[4] इसमें सन्देह नहीं कि जेम्स टी० फ़ेरेल की इस सलाह को मान लेने पर साहित्य और प्रॉपैगैण्डा-संबंधी बहुत-सी उलझनें सुलझ सकती हैं।

श्री नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार प्रेमचन्द की साहित्य-कला का सबसे प्रमुख दोष उनकी प्रॉपैगैण्डा-वृत्ति है। वाजपेयीजी का कहना है कि "प्रेमचन्दजी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेण्डा-वृत्ति के कारण काफी बदनाम हैं और हिन्दी के बड़े-से-बड़े समीक्षक

---

१. Revolutionary Art : A Symposium, P. 43 to 46

२. Illusion and Reality, P. 157

३. Talks at the Yenan Forum on Art and Literature, P. 38. (Peking, 1956)

४ साहित्य की समस्याएँ : शिवदानसिंह चौहान, पृ० ४६-४७

ने उसकी शिकायत की है। वही वृत्ति उनके इस लेख में भी प्रसार पा रही है। यद्यपि प्रेमचन्दजी लिखते हैं कि 'हमने तो कभी प्रोपैगैण्डा नहीं किया हमारा बड़ा-से-बड़ा दुश्मन भी हमारे ऊपर यह आक्षेप नहीं कर सकता'; पर प्रेमचन्दजी के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष—जो उनकी साहित्य-कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है—यही प्रॉपैगैण्डा है।"[1] हम समझते हैं कि आचार्य वाजपेयी के इन शब्दों में स्वयं उस प्रॉपैगैण्डा-वृत्ति की गन्ध है जिसके लिए उन्होंने प्रेमचन्द पर आक्षेप किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि श्री वाजपेयी के इस वक्तव्य को हिंदी का 'छोटे-से-छोटा समीक्षक' भी गंभीरतापूर्वक ग्रहण नहीं करेगा (हिंदी के 'बड़े आलोचक' पूज्य वाजपेयीजी से हम क्षमा चाहते हैं), क्योंकि मानसिक आवेग के क्षणों में उद्भूत होने के कारण वह सत्य से बहुत दूर जा पड़ा है।[2] शायद हमें यह निर्देश करने की आवश्यकता नहीं कि व्यक्तिगत राग-द्वेष की भावना से प्रेरित समीक्षक अपने आलोच्य-लेखक के प्रति आंशिक न्याय भी नहीं कर सकता। प्रेमचन्द ने निश्चय ही अपने साहित्य में विभिन्न सामयिक, राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों तथा राष्ट्रीय हलचलों का चित्रण इतनी गहरी रेखाओं एवं गाढ़े रंगों में किया है कि उनके संबंध में इस प्रकार का भ्रम हो जाना सहज स्वाभाविक है, किन्तु जरा गंभीरता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह भ्रम कितना निर्मूल है। प्रेमचन्द के साहित्य को हम 'प्रॉपैगैण्डा' नहीं कह सकते; क्योंकि उसका अर्थ होगा कि हम यह भी मान लें कि प्रेमचन्द का साहित्य 'इश्तहार और नारे मार्का' साहित्य है, कि उसमें प्रेमचन्द ने किसी राजनीतिक पार्टी के सिद्धान्तों का प्रचार किया है, कि प्रेमचन्द ने महान् उपन्यास और कहानियाँ न लिखकर राजनीतिक 'पैम्फलेट्स' (Political pamphlets) और राजनीतिक दल-विशेष के चुनाव घोषणा-पत्र (Election manifestoes) लिखे हैं, कि प्रेमचन्द ने जीते-जागते सजीव पात्रों का सृजन नहीं बल्कि कठपुतलियों का निर्माण किया है, कि प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत जीवन के चित्र तथ्यों के विपरीत और इकतरफा (One-sided) हैं, कि प्रेमचन्द के साहित्य का प्रमुख प्रतिपाद्य संपूर्ण मानवता नहीं वरन् व्यक्ति या समूह-विशेष के राजनीतिक, व्यावसायिक या आर्थिक हितों का संरक्षण है, कि प्रेमचन्द का साहित्य कलात्मक दृष्टि से एकदम निकृष्ट कोटि का है, इत्यादि। कहना न होगा कि प्रेमचन्द-साहित्य के संदर्भ में इन में से कोई भी बात स्वीकार नहीं की जा सकती।

इस संबंध में हमें निर्भ्रान्त होने की आवश्यकता है कि प्रेमचन्द के साहित्य का उद्देश्य सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अन्याय तथा शोषण के प्रतिकार हेतु जन-

---

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ९१

२. 'हंस' के आत्मकथा विशेषांक के प्रश्न को लेकर प्रेमचन्द और वाजपेयीजी में एक विवाद उठ खड़ा हुआ था, जो परस्पर मनोमालिन्य एवं कटुता की सीमा तक भी पहुँच गया था। इसी विवाद के दौरान में वाजपेयीजी ने उक्त मत व्यक्त किया था।

मत जाग्रत करना है। अपने इस ध्येय (जिसे कतिपय रूढ़िवादी समीक्षक प्रेमचन्द की प्रॉपैगैण्डा-वृत्ति कहकर उसकी अवमानना करने का प्रयास करते हैं) की सिद्धि के लिए प्रेमचन्द ने ऐसे साहित्य का प्रणयन किया जो वर्तमान वर्ग-विभक्त समाज में सामाजिक न्याय का स्वस्थ एवं जागरूक रक्षक हो। इसे यदि प्रॉपैगैण्डा कहा जा सकता है तो प्रेमचन्द निश्चय ही साहित्य में इस प्रकार के प्रॉपैगैण्डा के प्रबल समर्थक थे। जून सन् १९३५ के 'हंस' में उन्होंने यह घोषणा की थी कि "आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्य-वर्धक साहित्य प्रॉपैगैण्डा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए, और इस तरह के प्रॉपैगैण्डा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा।"[1] प्रेमचन्द की महानता इस बात में है कि अपने इस घोषित सामाजिक ध्येय के बावजूद उन्होंने 'प्रॉपैगैण्डा-वृत्ति' को 'साहित्य-कला' से ऊपर कभी अवांछनीय और अनावश्यक महत्त्व नहीं प्राप्त होने दिया। अतः प्रेमचन्द का साहित्य 'सामाजिक प्रभाव के अस्त्र' की दृष्टि से ही नहीं बल्कि कला की दृष्टि से भी महान् है, विशिष्ट है।

प्रेमचन्द इस बात को स्वीकार करते थे कि किसी दल-विशेष के प्रचार के हेतु साहित्य-प्रणयन नहीं होना चाहिए, किन्तु उनकी विवशता यह थी कि वे अपने चारों ओर के जीवन में व्याप्त अन्याय, अत्याचार और शोषण को देखकर भी उसे अनदेखा नहीं कर सकते थे, उसके प्रति एक कृत्रिम तटस्थता—अर्थात् उत्तरदायित्वहीनता—का भाव धारण नहीं कर सकते थे।[2] वे मानते थे कि साहित्यकार का सबसे बड़ा दायित्व समाज के शोषित अंगों की 'हिमायत' और 'वकालत' करना है।[3] साहित्य की शाश्वतता और चिरतंनता के संबंध में रूढिवादी दृष्टिकोण से देखने वाले आलोचक+अध्यापक प्रेमचन्द के साहित्य की जिस विशेषता को उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता घोषित करते हैं,[4]

१. हंस: जून १९३५, पृ० ७८

२. (क) "जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आज-कल परिस्थितियां इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं, कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उन से आन्दोलित न हो।"

—साहित्य का उद्देश्य, पृ० ५८–५९

(ख) "जब हम देखते हैं कि हम भांति-भांति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रंदन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।"

—वही, पृ० ५९

३. वही, पृ० ६

४. "यहां यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रेमचन्दजी सामयिक, सामाजिक आन्दोलनों और राजनीतिक गतिविधियों के बाहर अपनी कहानियों में (उपन्यासों के संबंध में भी वाजपेयीजी का यही मत है) बहुत ही कम गए हैं। उनका समस्त क्षेत्र बीस-पचीस वर्षों की भारतीय जीवन-

वही उनके साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति है। प्रेमचन्द ने अपने पूरे युग की घनीभूत पीड़ा और कराह को, उसके दुःख-दर्द को जिस सूक्ष्मता से पहचाना और जिस सजीव-साकार रूप में उसका चित्रण किया, उसके कारण उन्हें चाहे प्रत्यक्षवादी कलाकार ठहराया जाए अथवा सामयिकता की परिधि से ऊपर उठने में अक्षम, चाहे उनकी कृतियों को प्रचार का उपकरण माना जाए अथवा प्रॉपैगैण्डा-वृत्ति के कारण बदनाम; किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके हृदय में धर्म, समाज, राज्य और स्वयं अपने रूढ़िगत संस्कारों एवं रीति-रिवाजों के शिकार भारत के कृषक तथा अन्य शोषित वर्गों के प्रति असीम सहानुभूति थी और थी उन्हें इस व्यापक और चौमुखी शोषण से मुक्त करने की एक अदम्य कामना। उनका संपूर्ण साहित्य इसी लालसा की एक सशक्त अभिव्यक्ति है, जीवन को अधिकाधिक सुखी बनाने का प्रयास है। किन्तु इतना होते हुए भी उन्होंने साहित्य की सार्वभौमिकता एवं सार्वजनीनता का कहीं बलिदान नहीं होने दिया है।

प्रेमचन्द का युग भारतीय राजनीति का एक अत्यधिक क्रांतिकारी और संघर्ष-पूर्ण युग था, जिसे हम भारत में एक नवीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक चेतना के प्रस्फुटन का युग कह सकते हैं। इसी युग में भारतीय जनता ने एक नए संकल्प और विश्वास के साथ जीवन में व्याप्त विभिन्न विषमताओं—जिनमें राष्ट्रीय पराधीनता मुख्य थी—का उच्छेदन करने के लिए अभूतपूर्व उत्साह के साथ आगे बढ़ना आरंभ किया। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द जैसा सामाजिक चेतना-संपन्न प्राणवान साहित्यकार अपनी जनता के इस संघर्ष से—जो संपूर्ण राष्ट्र के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बना हुआ था—अपने को पृथक् अथवा तटस्थ नहीं रख सकता था। सच तो यह है कि 'तटस्थता' प्रेमचन्द जानते ही नहीं थे—यह उनके 'सोज़ेवतन' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक के कृतित्व से भली-भाँति जाना जा सकता है। आज के-से संघर्ष-युग में वस्तुतः तटस्थता का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं द्वारा तो भारतीय जनता के इस संघर्ष में योगदान दिया ही था, स्वयं भी उसमें सक्रिय भाग लिया था।[1] उन्होंने अपने साहित्य का उद्देश्य ही स्वतंत्रता-प्राप्ति घोषित कर दिया था।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने अपने साहित्य की मूल प्रेरणा तत्कालीन

प्रगति में केन्द्रित है। दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द जी प्रत्यक्षवादी कलाकार ठहरते हैं। उन्होंने मानव-विकास के उन पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया, जिनका संबंध इतिहास तथा अन्य प्राणिविज्ञान संबंधी तथ्यों से है। यह भी कह सकते हैं कि उनकी कल्पना सामयिकता की परिधि से ऊपर उठने में अक्षम थी और दैनिक जीवन की स्थितियों को ही अपनाने में प्रवीण थी।"

—प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन : नन्ददुलारे वाजपेयी,
पृ० १६३–६४ (इलाहाबाद, १९५६)
(कोष्ठबद्ध शब्द लेखक के)

१. प्रेमचन्द : घर में, पृ० ६१, ११६, १२२
२. प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० ४१ (श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम प्रेमचन्द का पत्र)

युग से ग्रहण की—जैसा कि प्रत्येक महान् और क्रांतिदृष्टा साहित्यकार करता है। निर्विवाद रूप से विश्व के सभी महान् कलाकारों की भाँति वे भी अपने युग की ही उपज थे। उनके उपन्यास और कहानियों में तत्कालीन युग की विभिन्न गतिविधियों तथा हलचलों का अत्यन्त सचेतावस्था में किया गया चित्रण मिलता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व भी है।[1] किन्तु यहाँ पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि अपने युग से प्रभावित एवं अनुप्राणित होते हुए भी प्रेमचन्द ने जीवन को उसके समग्र रूप में ग्रहण किया था। जीवन के सभी रूपों और सभी पक्षों के प्रति उनके हृदय में एक सहज एवं व्यापक सहानुभूति विद्यमान थी। इसीलिए डॉ० नगेन्द्र का मत है कि "उनकी प्रतिभा कई अंशों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी।"[2] अत. अंतिम निष्कर्ष में प्रेमचन्द के साहित्य को प्रेरणा-स्रोत संपूर्ण मानवता—कोई निर्जीव या काल्पनिक मानवता नहीं बल्कि एक जीती-जागती और सजीव मानवता—ही सिद्ध होता है। मानवता को प्रेमचन्द ने इसी अर्थ में ग्रहण किया था। प्रेमचन्द का मानववाद शोषित और पीड़ित वर्ग के प्रति केवल निष्क्रिय सहानुभूति और दया (Pity) में ही प्रकट नहीं होता; इससे आगे बढ़कर वह शोषण और शोषकों के प्रति सक्रिय घृणा, आक्रोश तथा संघर्ष के भावों में व्यक्त होता है। वास्तव में यही सच्चा मानववाद है, और यही कारण है कि प्रेमचन्द सही अर्थों में मानववादी साहित्यकार कहलाने के अधिकारी हैं।

प्रसिद्ध अमरीकी चिंतक और मनीषी इमर्सन के इन शब्दों के साथ हम इस प्रसंग को समाप्त करना चाहते हैं: **"जो चिंतक या आलोचक गुलामी प्रथा का, निरंकुश शासन का, उत्पादन और व्यवसाय के एकाधिकार का, उत्पीड़न का समर्थन करता है, वह अपने नेक पेशे के प्रति विश्वासघात करता है। वह भले आदमियों की संगत में बैठने का अधिकारी नहीं है। इतना काफी नहीं है कि किसी कलाकृति में कला का नैपुण्य हो, अनोखी सूझ-बूझ हो और कला का प्रशंसनीय निखार हो, सँवार हो, प्रत्युत् यह भी आवश्यक है कि उसमें युग और सामाजिक परिवेश के प्रति अपना दायित्व चुकाने की गंभीर प्रेरणा हो।"**[3] हम समझते हैं कि विभिन्न आलोचकों द्वारा प्रेमचन्द और उनकी साहित्य-कला पर लगाए जाने वाले आरोपों का इससे अधिक उपयुक्त उत्तर नहीं दिया जा सकता।

---

१. "वास्तव में जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस काल-खंड का सामाजिक इतिहास लिखा जायगा, उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी। और, यदि इतिहासकार राजनीति से आतंकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हें भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्र बाबू की जीवनियों से कम महत्त्व नहीं देगा।"
—विचार और विवेचन : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ९१ (दिल्ली, १९५३)

२. वही, पृ० ९१

३. नयी समीक्षा : अमृतराय, पृ० २५३–५४ पर उद्धृत

: ३ :

गांधीवाद : एक संक्षिप्त विवेचन

पूर्वपीठिका :

गांधीजी ने किसी नवीन विचारधारा, जीवन-दर्शन या तत्त्व-दर्शन का प्रति पादन नहीं किया।[१] गांधीवाद वस्तुतः भारत की उस आचारपरक आध्यात्मिक जीवन दृष्टि तथा सांस्कृतिक परम्परा का आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्द्धित ए संशोधित संस्करण है; जो शताब्दियों से सत्य, अहिंसा, सेवा, प्रेम, त्याग, सहिष्णुत अस्तेय, अपरिग्रह, आत्मसंयम आदि नैतिक मूल्यों को भौतिक जीवन-मानों की अपेक्ष अधिक काम्य और वरेण्य मानती आई है।[२] महात्मा गांधी खुद स्वीकार करते हैं ि सत्याग्रह का सिद्धान्त अपने मूल रूप में अत्यन्त प्राचीन है—उन्होंने तो उसे केवल ए व्यापक तथा सार्वभौम रूप मात्र प्रदान किया है।[३] इसमें सन्देह नहीं कि मानव-सभ्यता इतिहास में संभवतः गांधी ने ही पहली बार सत्य, अहिंसादि नैतिक नियमों के आध पर विविध सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक प्रभृति समस्याओं का इतने व्यापक स्तर ' व्याख्यान, विश्लेषण तथा समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। अपने इस प्रय में उन्हें सफलता मिली या नहीं—यह दूसरी बात है। पर यह निर्विवाद है कि उनका ः प्रयास आधुनिक काल की कतिपय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से है।

गांधीवाद पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना उपयोगी होगा कि महात गांधी मूलतः एक दार्शनिक या राजनीतिक विचारक कम और व्यावहारिक कर्मयो अधिक थे। इसीलिए उन्होंने न तो अपने किसी सिद्धान्त को दार्शनिक पूर्णता नहिंसा चाने का प्रयास किया और न राजनीतिक विचारकों की भाँति भविष्य में ...।"

१. "I have presented no new principles, but have tried ... (पृ० २६
old principles."

—Selections from Gandhi : Nirmal K... नाम से पुकारा
P. IX, (First ...

२. गांधी और गांधीवाद : डॉ० बी० पट्टाभि सीतारमैया, प्रथम भाग पृ० २८ (... we call things

३. "It may be that what is true in *satyagraha* is as ar...
But it has not yet been acknowledged to be ... (London, 1957)
solution of world problems or rather the ...i, P. 148.
of war." (First Edition, 1958)

—Selec...

में गांधीजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके जीवन पर (विचारों पर भी) तीन आधुनिक व्यक्तियों ने गहरा असर डाला है— रायचन्दभाई ने अपने सजीव संसर्ग से, टॉलसटाय ने 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक द्वारा और रस्किन ने 'अनटु दिस लास्ट—सर्वोदय—नामक पुस्तक द्वारा।'[१] रस्किन की 'अनटु दिस लास्ट' पुस्तक का उनके जीवन पर कितना चमत्कारी एवं निर्णायक प्रभाव पड़ा—इसका उल्लेख हम गांधीजी के शब्दों में ही करना चाहेंगे : "**पुस्तक को जो मैंने एक बार पढ़ना शुरू किया तो खतम किये बिना न छोड़ सका। × × × पहुंचने के बाद रात-भर नींद न आई। इस पुस्तक के विचारों के अनुसार जीवन बनाने की धुन लग रही थी।**"[२] इस पुस्तक से गांधी जी ने जो तीन शिक्षाएँ प्राप्त की, वे ही उनकी विचारधारा की मूल धुरी हैं—सबके भले में अपना भला है; वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एकसी होनी चाहिए क्योंकि आजीविका का हक दोनों को एकसा है तथा मजदूर और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।[३] रस्किन की पुस्तक से प्राप्त इन शिक्षाओं को क्रियात्मक रूप देने के हेतु ही १९०४ ईस्वी में डरबन के निकट फिनिक्स आश्रम की स्थापना हुई थी।[४]

न्यू टेस्टामेंट के 'पर्वत के धर्मशिक्षण' (Sermon on the Mount) से भी गांधी जी अत्यधिक प्रभावित हुए थे। अपने मित्र जे० जे० डोक साहब से उन्होंने एक बार कहा था कि "**न्यू टेस्टामेंट और विशेषकर 'पर्वत के धर्मशिक्षण' के द्वारा ही सत्याग्रह की अनमोल नैतिकता की ओर उनका हृदय जागरित हुआ।**"[५] ईसा को वे सत्याग्रहियों का सिरताज मानते थे।[६]

इन विदेशी प्रभावों के बावजूद गांधीजी के जीवन-दर्शन की धुरी निस्सन्देह भारतीय है। उनका जन्म और पालन-पोषण वैष्णव परिवार तथा वैष्णव परंपराओं में हुआ था। बाल्यकाल में ही उन्हें जैन साधुओं का सम्पर्क प्राप्त हो गया था। बचपन में ही उन्हें परिवार की एक पुरानी नौकरानी रंभाबाई से 'राम नाम' का मंत्र मिल गया था। उनकी माता अत्यधिक धार्मिक स्वभाव की स्त्री थी। इस धर्ममय वातावरण में पालित-पोषित होकर स्वभावतः गांधी में एक अद्भुत धार्मिक श्रद्धा का प्रादुर्भाव हो गया।

महात्मा गांधी के संबंध में बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि वे प्रथमतः एवं मूलतः धर्माचार्य थे अथवा राजनीतिज्ञ ? उन्होंने स्वयं 'यंग इंडिया' में लिखा था कि "**यदि राजनीति में भाग लेता हूं तो केवल इसलिए कि आज राजनीति हमें सांप की**

---

१. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ० १०५ (आठवां संस्करण, १९४७)
२. वही, पृ० ३४८
३. वही, पृ० ३४९
४. वही, पृ० ३४९ से ५१
५, ६. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन : गोपीनाथ धावन, पृ० १४ (प्रथम संस्करण, १९५१)

कुण्डली की तरह चारों ओर से घेरे हुए है और इस घेरे से हम लाख कोशिश करके भी नहीं निकल सकते। अतः मैं राजनीति के इस साँप से ही लड़ना चाहता हूं।"[१] बाबू जैनेन्द्रकुमार के अनुसार "गांधीजी की यथार्थता राजनीति में नहीं धर्म में देखनी होगी। राजनीति कर्म-गत है, धर्म भाव-रूप।"[२] लेकिन जैनेन्द्रजी यह भी स्वीकार करते हैं कि गांधीजी को धर्माचार्यों की पंक्ति में नहीं बैठाया जा सकता, क्योंकि उन्हें कर्म अर्थात् राजनीति के क्षेत्र में ही सबसे अधिक अनुयायी मिले हैं।[३] निष्कर्ष यह कि अनिवार्यतः धार्मिक पुरुष मानते हुए भी महात्मा गांधी को बुद्ध, महावीर, कबीर, ईसा, मुहम्मद साहब आदि धर्माचार्यों अथवा धर्म-प्रचारकों की पंक्ति में नहीं बैठाया जा सकता। कुल मिलाकर उनका योगदान मूलतः राजनीति के क्षेत्र में ही है, धर्म के क्षेत्र में नहीं। हाँ, उन्होंने राजनीति को धर्म तथा नीति के सर्वमान्य नियमों—सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि—के साथ सम्बद्ध करने का पूरा प्रयास किया।

गांधीजी का धर्म किसी संकीर्ण मतवाद या संप्रदाय की सीमाओं में आबद्ध धर्म नहीं है। 'धर्म' शब्द की व्याख्या करते हुए वे उसमें हिन्दू, इस्लाम, ईसाई इत्यादि धर्मों को सम्मिलित करके ही संतुष्ट नहीं होते। उनके अनुसार 'धर्म' इन सबसे उच्च है और उसे 'सत्य' के नाम से ही पहचाना जा सकता है। गांधीजी का 'धर्म' नीति-धर्म है, संप्रदाय-विशेष का धर्म नहीं।[४] उनके 'धर्म' का लक्ष्य संकीर्ण सांप्रदायिकता अथवा मतवादिता का प्रचार नहीं बल्कि विश्व के समस्त धर्मों में सामंजस्य तथा समभाव स्थापित करना है। अपने धर्म पर अडिग रहते हुए भी गांधीजी इसीलिए दूसरे धर्मों के प्रति अत्यधिक सम्मान की भावना रखते थे। वे मानते थे कि "अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है।"[५] उनका विश्वास था कि विभिन्न धर्म एक ही सत्य की प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हैं।[६] यही कारण है कि गांधीजी के 'धर्म' का कार्य निषेधात्मक नहीं, आवश्यक रूप से विधेयात्मक है।

गांधीजी से बार-बार यह प्रश्न किया जाता था कि यदि उन्हें धर्म प्रिय है तो राजनीति को त्याग कर साधु और यदि राजनीति प्रिय है तो धर्म को त्यागकर राजनीतिज्ञ क्यों नहीं हो जाते? प्रश्न स्वयं में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी गांधीजी के जीवन-दर्शन को पूरी तरह न समझ पाने का परिणाम है। महात्मा गांधी की विचारधारा में जीवन के किसी भी क्षेत्र का धर्म से पृथक् अस्तित्व नहीं है। उनके ... जीवन की समस्त

---

१. Selections from Gandhi, P. 45×175 or
२. पूर्वोक्त, पृ० ६७ (प्रथम संस्करण, १९५०) ..ese
३. वही, पृ० ६९ ; non-
४. Gandhian Ethics : Benoy Gopal Ray, P. 7 (First Editi..n, fame,
५. गांधी-साहित्य, भाग ५ पृ० १५७ (प्रथम संस्करण, १९५०)
६. Selections from Gandhi, P. 224×632 ..eans, P. 3-4

अनुसार "गीता की शिक्षा को व्यवहार में लाने वाले को अपने आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता है। फलासक्ति के विना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का।"[1] इसीलिए गांधीजी ने जापानी विद्वान कगावा से एक वार कहा था: "अपनी कामनाओं को मारने के वाद अपने भाई को मारना संभव नहीं है।"[2]

गांधीवाद का चिन्तन पक्ष : मूल सिद्धान्त

सत्य—

'सत्य' गांधीवादी चिन्तनधारा की आधार-शिला है, जिसे श्री गोपीनाथ धावन 'गांधीजी के जीवन और दर्शन का ध्रुव-तारा' कहते हैं।[3] गांधीजी का 'सत्य' केवल सत्य-भाषण मात्र नहीं अपितु एक जीवनव्यापी सिद्धान्त है, जिसका अर्थ है—वाणी ही नहीं विचार और आचरण द्वारा भी सत्य की साधना।[4] पर गांधीजी के 'सत्य-दर्शन' की सीमाएँ सत्य-भाषण, सत्य-आचरण तथा सत्य-विचार तक ही सीमित नहीं हैं। 'सत्य' उनका अन्तिम साध्य भी है। उनके 'सत्य' की सीमाएँ इतनी व्यापक और विस्तृत हैं कि उन्हें कहना पड़ता है: "परमेश्वर 'सत्य' है यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है।"[5] गांधीजी का 'सत्य' किसी विशिष्ट धर्म या सम्प्रदाय का पर्याय नहीं है। वह इतना व्यापक है कि उसमें विश्व के सभी धर्मों का समाहार हो जाता है। 'सत्य' का अर्थ करते हुए गीताकार के शब्दों में वे कहते हैं: " 'सत्य' शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्ति-सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है।"[6] गीताकार भी यही कहता है :—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥"[7]—गीता २।१६

गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि केवल सत्य की ही विजय हो सकती है, असत्य की नहीं। हो सकता है कि लौकिक जीवन में अनेक वार असत्य की विजय का आभास हो, पर यह निश्चित है कि अन्तिम रूप से असत्य कभी विजयी नहीं हो सकता।

---

१. गांधी-साहित्य भाग ३ : गीता माता, पृ० ११० (प्रथम संस्करण, १९५०)
२. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० ५ पर उद्धृत (प्रथम संस्करण, १९५०)
३. वही, पृ० ५२
४. गांधी-साहित्य भाग ५ : धर्मनीति, पृ० ११८
५. वही, पृ० ११७
६. वही, पृ० ११७
७. "असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का नाश नहीं है। इन दोनों का निर्णय ज्ञानियों ने जाना है।"

—गांधी-साहित्य, भाग ३ पृ० १२३

य के मार्ग पर चलते हुए सफलता की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि 'सत्य' र्थ है 'अस्तित्व' अर्थात् 'जो है' और 'असत्य' का अर्थ है 'अनस्तित्व' अर्थात् 'जो नहीं स्पष्ट है कि 'जो नहीं है' उसकी विजय हो ही नहीं सकती।[1]

'सत्य' की प्रतीति सरल नहीं है। सत्य-प्राप्ति का मार्ग खाँडे की धार के समान ला और सकड़ा है, जिस पर चलने वाला सत्य-शोधार्थी जरा-सा चूकते ही प्राणों से धो सकता है।[2] गांधीजी के अनुसार निरन्तर अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा ही सत्य-कामधेनु और पारसमणि को प्राप्त किया जा सकता है।[3] और, अहिंसा के अभ्यास वैराग्य—शरीर-संबंधों के प्रति अनासक्ति—की प्राप्ति की जा सकती है। निष्कर्ष , मार्ग आवश्यक रूप से अहिंसा का मार्ग है।

धीजी की अहिंसा को प्राय: हिंसा का अभाव मात्र मान लिया जाता है, पर व में वह एक भावात्मक प्रक्रिया और शक्ति है जो हमें प्राणीमात्र से प्रेम करने लिए प्रेरित करती है—ऐसा प्रेम जो किसी भी प्रकार के राग, मोह अथवा स्वार्थ से त हो। गांधी-दर्शन में अहिंसा और प्रेम वस्तुत: एक ही अर्थ के द्योतक शब्द हैं।[4] धीजी की अहिंसा निवृत्तिमूलक या निषेधात्मक शक्ति नहीं है। यही कारण है कि हिंसा का साधक अपने से इतर प्राणियों को किसी प्रकार का कष्ट या हानि न पहुँ-ना ही काफी नहीं समझता और न वह चींटियों को आटा डालकर ही सन्तुष्ट हो ता है। इस निषेधात्मक कार्य से आगे बढ़कर अन्याय, अत्याचार और शोषण का क्रय विरोध करना भी वह अपना कर्तव्य समझता है। पर उसके विरोध का स्वरूप त्मक विरोध से बहुत भिन्न होता है। उसका विरोध भी अत्याचारी या अन्यायी या षक के प्रति उसके प्रेम का ही परिचायक होता है। वह अपने शत्रु से भी प्रेम करता घृणा नहीं।[5]

गांधी-साहित्य, भाग ५ पृ० १२० (प्रथम संस्करण, १९५०)

"The Path of Truth is as narrow as it is straight. Even so is that of *ahimsa*. It is like balancing oneself on the edge of a sword. × × × The slightest inattention brings one tumbling to the ground."

—Selections from Gandhi, P. 14×38

गांधी-साहित्य, भाग ५ पृ० ११९

"अनेक धर्मों में जो 'ईश्वर प्रेमरूप है' यह कहा गया है, वह प्रेम और यह अहिंसा भिन्न नहीं है।

"प्रेम का शुद्ध व्यापक स्वरूप अहिंसा है। पर जिस प्रेम में राग या मोह की गंध हो वह अहिंसा नहीं हो सकता।"

—गांधी-विचार-दोहन, पृ० १६ (छठा संस्करण,

. Selections from Gandhi, P. 151×404

लगभग निश्चित है। सत्याग्रही का आग्रह अर्थात् उसके द्वारा अत्याचारी का विरोध उसकी सत्यनिष्ठा से प्रेरित होता है, किसी व्यक्तिगत द्वेष-भावना से नहीं।[१] वह अपने तथाकथित विरोधी का आत्यन्तिक विरोध करते हुए भी उसका किसी प्रकार का अहित न सोचेगा, न चाहेगा और न करेगा।[२]

सत्याग्रह के मूल सिद्धान्तों को हम अपने पारिवारिक जीवन में खोज सकते हैं। गांधीजी कहा करते थे कि उन्होंने सत्याग्रह का पाठ अपने कौटुम्बिक जीवन से ही सीखा था। इसीलिए उनका मत है कि सत्याग्रह मूलतः पारिवारिक जीवन का राष्ट्रीय और उससे भी आगे अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में विस्तार है।[३] सत्याग्रही अपने विरोधी को भी उसी आत्मा का अंश मानता है जिसका कि वह स्वयं एक अंश है, अर्थात् प्रतिपक्षी के साथ उसे अपनी आध्यात्मिक एकता का बोध होता है। अतः वह उसके साथ भी अपने परिवार के सदस्य की भाँति व्यवहार करता है। यही कारण है कि उसके विरोध में कटुता या द्वेष का लेश भी नहीं होता।

साधारणतः सत्याग्रह शब्द अहिंसक प्रतिरोध के अर्थ में प्रयुक्त और ग्रहण किया जाता है, किन्तु वस्तुतः सत्याग्रह का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। गांधीजी मानते थे कि अहिंसक साधनों द्वारा सत्य के लिए साधना ही सत्याग्रह है।[४] सत्याग्रह एक ऐसी कार्य-प्रणाली है जिसमें अधर्म पर धर्म से, हिंसा पर अहिंसा से, असत्य पर सत्य से, द्वेष पर प्रेम से तथा पशुबल पर आत्मबल से विजय प्राप्त करने और विरोधी की मानवता को जागृत करने का प्रयास किया जाता है। सत्याग्रह में प्रतिपक्षी के मन पर 'आक्रमण' किया जाता है, अतः यह प्रणाली अधिक मनोवैज्ञानिक है। सत्याग्रह में विरोधी के शरीर को नहीं वरन् हृदय को जीतने का प्रयत्न किया जाता है। सत्याग्रही का यह दृढ़ विश्वास होता है कि **"किसी को दबा देने की अपेक्षा उसका मत परिवर्तन कर देना ज्यादा अच्छा है।"**[५] गांधीवादी शब्दावली में इसे ही हृदय-परिवर्तन कहते हैं।

यद्यपि सत्याग्रही का अन्तिम और चरम लक्ष्य निरपेक्ष सत्य की प्रतीति करना होता है, परन्तु इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह सापेक्ष सत्य से मुँह नहीं मोड़ता। दरिद्रता, दासता, शोषण, अन्याय आदि कटु सत्यों से वह पलायन नहीं करता—उनसे जूझता है।

---

१. गांधी-विचार-दोहन, पृ० ५५
२. वही, पृ० ७०
३. "एक मां अपने बच्चे के लिए जो कुछ करती है, वही एक सत्याग्रही सगोत्रता की मर्यादाओं और स्वार्थ के बन्धनों से ऊपर उठकर अपने देश और राष्ट्र के लिए करता है।"
—गांधी और गांधीवाद, भाग १ पृ० ६४
४. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० १२८
५. सत्याग्रह-मीमांसा, पृ० ५२

सत्याग्रह में साध्य के साथ साधनों की नैतिकता भी आवश्यक है। सच तो यह है कि साध्य और साधनों की एकता ही गांधी के जीवन-दर्शन की धुरी है। गांधीजी कहा करते थे कि साध्य और साधन में वही घनिष्ठ संबंध है जो बीज और वृक्ष में होता है। शैतान को भजकर ईश्वर-भजन का फल नहीं पाया जा सकता।[१] दो महायुद्धों की अग्नि से झुलसी मानवता को गांधी का संभवत: सबसे बड़ा सन्देश यही है कि हम "शैतान को भजकर ईश्वर-भजन का फल नहीं पा सकते।" अर्थात् हिंसा के रास्ते पर चलकर शान्ति की मंजिल तक नहीं पहुँचा जा सकता।

सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistance) के साथ समीकृत नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि दोनों पद्धतियों में मौलिक अन्तर है। निष्क्रिय प्रतिरोध एक राजनीतिक हथियार है जिसका उद्देश्य अपने प्रतिपक्षी को इस सीमा तक परेशान करना होता है कि वह अन्ततः हमारी माँगे स्वीकार करने पर विवश हो जाए।[२] निष्क्रिय प्रतिरोध यद्यपि व्यवहारत: हिंसा से दूर ही रहता है, पर सिद्धान्तत: वह हिंसक साधनों और हथियारों के प्रयोग के विरुद्ध नहीं है।[३] निष्क्रिय प्रतिरोध की कार्य-पद्धति बहुत-कुछ निषेधात्मक होती है।[४]

सत्याग्रह के अनेक प्रकार हो सकते हैं; जिनमें मुख्य समझाना-बुझाना, उपवास, असहयोग, सविनय-अवज्ञा, करबन्दी, धरना, हिजरत आदि हैं। किन्तु हमें यह नहीं

---

१. "The means may be likened to a seed, the end to a tree; and there is just the same inviolable connection between the means and the end as there is between the seed and the tree. I am not likely to obtain the result flowing from the worship of God by laying myself prostrate before Satan."

—Hind Swaraj, P. 51 (1946)

२. "In passive resistance there is always present an idea of harassing the other party and there is a simultaneous readiness to undergo any hardships entailed upon us by such activity; while in *satyagraha* there is not the remotest idea of injuring the opponent."

—Selections from Gandhi, P. 185×472

३. "While in passive resistance there is scope for the use of arms when a suitable occasion arrives, in *satyagraha* physical force is forbidden even in the most favourable circumstances."

—Ibid, P. 185×472

४. "Passive resistance is a negative thing, and has nothing to do with the active principle of love."

—Ibid, P. 186×475

भूलना चाहिए कि सत्याग्रह एक विकासशील तंत्र है जिसका अभी पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। अतः सत्याग्रह के भेदों या प्रकारों की कोई पूर्ण तालिका प्रस्तुत नहीं की जा सकती।

गांधीवाद का व्यावहारिक पक्ष :

गांधीवाद केवल सैद्धान्तिक दर्शन ही नहीं है। वह सत्य, अहिंसादि सैद्धान्तिक प्रश्नों पर ही विचार नहीं करता; हमारे दैनंदिन जीवन की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक प्रभृति विषम समस्याओं का हल भी सुझाता है। एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन होने के कारण उसमें जीवन के सभी पक्षों का समाहार है।

गांधीजी की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी मान्यताएँ स्वदेशी के सिद्धान्त से अनुप्राणित हैं।[१] अपने संकीर्ण अर्थ में स्वदेशी का मतलब है—विदेशी माल की प्रतियोगिता में स्वदेशी माल को प्रोत्साहन देना, परन्तु यह अर्थ स्वदेशी की विचार-धारा के एक उपांग का ही द्योतन करता है। गांधीजी के मतानुसार जैसे-तैसे सूत कातने या खादी पहनने-पहनाने मात्र से ही स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन नहीं हो जाता।[२] स्वदेशी का अर्थ है अपने निकटतम पड़ोसी की सेवा करना।[३] यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गांधीजी के स्वदेशी को जातीयता या राष्ट्रीयतावाद जन्य संकीर्णता का पर्याय अथवा 'वसुधैव कुटम्बकम्' की भावना का विरोधी नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि स्वदेशी-व्रत का उद्देश्य तात्कालिक राजनीतिक लाभ नहीं है।[४] गांधीजी मानते थे कि **"स्वधर्म के पालन से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि पहुँच ही नहीं सकती, न पहुँचनी चाहिए।"**[५] स्वदेश का हुए विना कोई भी व्यक्ति विश्व का नहीं हो सकता।

---

१. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० ६५

२. "जो चर्खे द्वारा जैसे-तैसे सूत कातकर, खादी पहन-पहनाकर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोह में डूबे हुए हैं। खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नही है।"

—गांधी-साहित्य, भाग ५ पृ० १७३

३. "अपने पास रहने वालों की सेवा में ओतप्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है।"

वही, भाग ५ पृ० १७०

४. "स्वदेशी-व्रत केवल स्वदेशाभिमान के विचार से नहीं उपजा है, वल्कि धर्म के विचार में से उपजा है। समग्र विश्व के साथ बंधुत्व की भावना के लिए हमारा प्रयत्न होते हुए भी, जिन पड़ोसियों के बीच हमारा जीवन दिन-रात गुजरता है, और अनेक विषयों में जिनके साथ हमारे संबंध जुड़े हुए हैं और जुड़ते रहते हैं, उन्हीं के साथ हमारा पहला व्यवहार होना उचित है। ऐसे धर्मयुक्त व्यवहार की अवगणना करके विश्वबंधुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, केवल दिखावा-भर होता है।"

—गांधी-विचार-दोहन, पृ० २३

५. गांधी-साहित्य, भा० ५ पृ० १७१

अत: गांधीजी का स्वदेशी-प्रेम विश्व-प्रेम का ही एक अंग है। तथा विश्व-सेवा में मूलत: कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है।[1]

महात्मा गांधी वर्त्तमान समाज-व्यवस्था से संतुष्ट नहीं थे। उनका अट्ठारह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम इस तथ्य का स्पष्ट सूचक है कि वे वर्त्तमान दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था में सुधार तथा उसका पुनर्निर्माण करने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे; हालांकि उनकी इस उत्सुकता की अपनी सीमाएं थीं। इसीलिए वे प्रेमपूर्वक समझाने-बुझाने, हृदय-परिवर्तन तथा व्यक्ति के सुधार से आगे नहीं बढ़ पाते। उनका विश्वास था कि एक व्यक्ति के सुधार और हृदय-परिवर्तन से पूरा विश्व लाभान्वित होता है।[2] गांधीजी के इस विश्वास की सामाजिक उपयोगिता और महत्त्व एक 'यूटोपिया' (Utopia), एक मृगमरीचिका से अधिक नहीं है। उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी श्री नेहरू भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मत-परिवर्तन व्यक्तियों का ही हो सकता है—हालांकि वह भी कभी-कभी ही होता है—वर्गों तथा समूहों का नहीं। अब तक इस दिशा में जितने भी प्रयत्न हुए हैं उन्हें असफलता ही हाथ लगी है।[3] कुछ व्यक्तियों के सुधार या कुछ व्यक्तियों की आत्मा को जागृत कर देने या कुछ व्यक्तियों के नैतिक उत्थान से समाज-व्यवस्था के मूल ढांचे में कोई मौलिक अन्तर नहीं आ सकता। हमें यह अन्तिम रूप से समझ लेना चाहिए कि शोषण और अन्याय, गरीबी और भुखमरी किन्हीं व्यक्तियों के कारण नहीं बल्कि एक विशिष्ट समाज-व्यवस्था के कारण है। जिस व्यक्ति का सुधार गांधीवाद अथवा दूसरी सुधारवादी विचारधाराएं चाहती हैं वह तो इस शोषण का निमित्त मात्र है, असली कारण वह व्यवस्था है जिसने उसे ऐसा करने की छूट तथा अधिकार दिया हुआ है। अंस्तु,

अट्ठारह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम को गांधीजी सत्याग्रह की लड़ाई का एक आवश्यक अंग मानते थे। सत्याग्रही के लिए रचनात्मक कार्यक्रम का उतना ही महत्त्व है

---

१. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० ६४

२. "I believe that if one man gains spiritually, the whole world gains with him; if one man falls, the whole world falls to that extent."
(M. Gandhi)
—Gandhian Technique and Tradition, P. 121 पर उद्धृत

३. "Individuals may be converted, they may surrender their special privileges, although this is rare enough, but classes and groups do not do so. The attempt to convert a governing and privileged class into forsaking power and giving up its unjust privileges has therefore always so far failed, and there seems to be no reaso whatever to hold that it will succeed in the future."
.48-49
—An Autobiography, P. 544 (20th impression, 1951)

जितना एक सैनिक के लिए कवायद तथा अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखने का ।[1] डॉ० पट्टाभि सीतार मैया गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम को गांधीवाद की सम्पूर्ण तकनीक का प्रकट रूप या क्रियारूप में परिणत अहिंसा कहते हैं ।[2] महात्मा गांधी के अट्ठारह सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम का विवरण इस प्रकार है :—

१. साम्प्रदायिक एकता
२. अस्पृश्यता-निवारण
३. मद्यपान-निषेध
४. खादी
५. दूसरे ग्रामोद्योग
६. गाँवों की सफाई
७. नई या बुनियादी तालीम
८. प्रौढ़-शिक्षा
९. स्त्रियों की उन्नति
१०. स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा
११. मातृभाषा प्रेम
१२. राष्ट्रभाषा प्रेम
१३. आर्थिक समानता
१४, १५, १६. किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का संगटन
१७. आदिवासियों की सेवा
१८. कोढ़ियों की सेवा[3]

कार्यक्रम का आर्थिक भाग—

गांधीजी के आर्थिक दृष्टिकोण का निर्माण खादी तथा दूसरे ग्रामोद्योगों के विकास एवं आर्थिक समानता के सिद्धान्तों से हुआ है, जैसा कि उक्त कार्यक्रम की क्रमसंख्या चार, पाँच और चौदह से स्पष्ट है । गांधीजी का आर्थिक दृष्टिकोण उनके नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की अनिवार्य परिणति है । स्वभावतः वे मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं और प्रश्नों पर भी अस्तेय, अपरिग्रह, 'मनुष्य की नैतिक भलाई' तथा 'प्राणीमात्र के साथ आध्यात्मि— एकत्व का बोध' की धार्मिक भाषा में विचार करते हैं ।[4] यही कारण

---

१. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, (२०) २०३
२. गांधी और गांधीवाद, भाग २ पृ० ८४–८५ (प्रथम संस्करण, १९५९)
३. यह सूची गांधीजी की Constructive Programme : Its Meaning and Place नामक पुस्तिका से ली गई है ! उनका कहना है कि यह सूची केवल उदाहरणात्मक है, अपने में पूर्ण नहीं । अतः इसमें दूसरी महत्त्वपूर्ण बातें भी जोड़ी जा सकती हैं । (दे०—वहीं, पृ० ५)
　　आर्थिक प्रश्नों पर मनुष्य की नैतिक भलाई के दृष्टिकोण से विचार करते हैं । उनका आर्थिक
५. गांधी-रु अपरिग्रह, अस्तेय, शरीर-श्रम और स्वदेशी के आदर्शों से निर्धारित हुआ था । आर्थिक

है कि आर्थिक समानता को अपना अन्तिम लक्ष्य स्वीकार करके भी वे प्रत्येक युग और देश में आर्थिक वैषम्य तथा गरीबी अनिवार्य मानते हैं ; गरीबों को भगवान का प्रिय बताकर उन्हें अपने शोषकों के धन पर आँखें न गड़ाने का चिरपरिचित उपदेश देते हैं और सन्तोष तथा भगवान की भक्ति को ही सच्ची प्रसन्नता का कारण बताते हैं।[1] जिस प्रकार अस्पृश्यों को गांधीजी ने एक बड़ा-सा (High-sounding) नाम—'हरिजन'—देकर सदा के लिए उन्हें समाज के दूसरे वर्गों से पृथक् घोषित कर दिया उसी प्रकार शोषितों को उन्होंने 'दरिद्रनारायण' का नुमाइशी (Pompous) नाम देकर शोषकों और उनके मध्य एक सनातन विभाजक रेखा खींच दी। और, इस तरह उन्होंने आर्थिक वैषम्य, शोषण तथा गरीबी को ज्यों-का-त्यों कायम रखने में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहायता की। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि 'दरिद्रनारायण' शब्द में गरीबी की प्रशंसा तथा उसके उदात्तीकरण का भाव निहित है। परन्तु यह स्पष्ट है कि गरीबी प्रशंसा की नहीं बल्कि घृणा की चीज़ है।

आर्थिक समता से गांधीजी का मन्तव्य पूर्ण आर्थिक साम्य अथवा उत्पादन और विनिमय के साधनों पर समाज का एकाधिकार नहीं है। वे केवल इतना चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति के पास रहने को एक मकान हो, खाने को पर्याप्त तथा संतुलित आहार हो और

समता का आदर्श उनको बहुत प्रिय था क्योंकि विलासिता और भुखमरी का एक साथ अस्तित्व शोषण और जीवन की निष्फलता का द्योतक है और धनी और निर्धन दोनों के लिए आध्यात्मिक एकता की अनुभूति कठिन कर देता है।"

—सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० २०६

१. "Gandhiji's discourse turned on the '*dignity of poverty*'. In the song that had been sung it was said that God is the friend of the poor. Poverty, remarked Gandhiji, had a dignity in our country. The poor man was not ashamed of his poverty. He preferred his hut to the rich man's palace. He even took pride in it. Though poor in material goods, he was not poor in spirit. Contentment was his treasure. × × × × Poverty, in the sense of inequality of material possessions was there in every part of the world. That was perhaps in a certain measure inevitable, for all men are not equal either in their talents or the measure of their needs. × × × × God was not the friend of those who inwardly coveted other's riches. × × × × Even then the crores could not become millionaires. True happiness lay in contentment and companionship of God only."

—*Towards Non-Violent Socialism* : M. K. Gandhi, P. 148-49 (First Edition, 1951)

पहनने को पर्याप्त खादी हो।[1] इसके अतिरिक्त गांधीजी बच्चों की शिक्षा और डॉक्टरी सहायता की पर्याप्त सुविधाएँ भी जरूरी समझते थे।[2] वे कहा करते थे कि "आर्थिक समानता की मेरी कल्पना का यह अर्थ नहीं कि हरएक को शब्दशः एक ही रकम दी जाय। उसका सीधा-सादा मतलब यह है कि हरएक स्त्री या पुरुष को उसकी जरूरत की रकम मिलनी चाहिए।"[3] गांधीजी आम जनता के जीवन-स्तर को एक निश्चित सीमा से ऊपर उठाए जाने के पक्ष मे नही थे, क्योंकि उनके विचारानुसार अधिक ऊँचा जीवन-स्तर और आराम पाप एवं भोगों की ओर प्रेरित करता है।[4] अपने इसी विश्वास के कारण वे आवश्यकताओं को स्वेच्छापूर्वक घटाने में ही सभ्यता का विकास मानते थे।[5] इस प्रकार गांधीजी एक ओर यदि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को उसकी जरूरत की रकम दिए जाने की बातें करते हैं तो दूसरी ओर जनता को स्वेच्छापूर्वक अपनी जरूरतें घटाने का उपदेश देते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार की दोहरी बातों से आर्थिक समता की स्थापना नहीं हो सकती।

गांधीजी आर्थिक साम्य के अपने इस आदर्श की स्थापना मालिकों के अधिकार छीनकर अथवा उनकी सम्पत्ति को कानून की सहायता से जब्त करके नही बल्कि उन्हें उसका तथाकथित संरक्षक (ट्रस्टी) बनाकर करना चाहते थे।[6] ट्रस्टीशिप का अर्थ है कि पूंजीपति और जमीदारो को चाहिए कि वे अपने को जायदाद का स्वामी नही बल्कि उसका संरक्षक समझें। गांधीजी का यह सिद्धान्त अपने-आप में कोई नवीन क्रांतिकारी सिद्धान्त नही है। एक लंबे अर्से से विभिन्न धर्माचार्य धनवानों को उदार, दयावान और दानी बनने के लिए प्रेरित करते आ रहे हैं। गांधी से बहुत पूर्व पोप यह घोषणा कर

---

१. "Economic equality must never be supposed to mean possession of an equal amount of worldly goods by everyone. It does mean, however, that everyone will have a proper house to live in, sufficient and balanced food to eat, and sufficient Khadi with which to cover himself."

—Harijan : 18-8-40, P. 253

२. Towards Non-Violent Socialism, P. 23-24

३. अगर मै डिक्टेटर होता, पृ० १७-१८ (पहला संस्करण, १९५५)

४. An Autobiography : Nehru, P. 516

५. The Way of Gandhi and Nehru : S. Abid Husain, P. 42 (1959)

६. "Indeed at the root of this doctrine of equal distribution must lie that of the trusteeship of the wealthy for the superfluous wealth possessed by them. × × × The rich man will be left in possession of his wealth, of which he will use what he reasonably requires for his personal needs and will act as a trustee for the remainder to be used for society."

—Towards Non-Violent Socialism, P. 20

चुका था कि धनवान अपने को उस सर्वशक्तिमान का दास तथा उसकी सम्पत्ति का संरक्षक एवं वितरक समझें, क्योंकि स्वयं ईसा ने उन्हें गरीबों के भाग्य-निर्णय का अधिकार सौंपा है। हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मों में भी इस प्रकार की बातें बार-बार दोहराई गई हैं।[१] गांधीजी के इस सिद्धान्त में एक विचित्र आत्म-विरोध (Self-contradiction) है। आत्म-विरोध यह कि पहले तो यह सिद्धान्त पूंजीपतियों को धन कमाने तथा उसे एकत्रित करने का खुला अधिकार दे देता है और फिर उनसे उस पूंजी को पूरे समाज के लिए व्यय करने की माँग करता है ! कहने की आवश्यकता नहीं कि यह माँग एक असंभव माँग है ! स्पष्ट है कि गांधीजी के इस सिद्धान्त को भावी समाज-व्यवस्था के आधार रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्री नेहरू के शब्दों में **"सारा राष्ट्र ट्रस्टी या संरक्षक हो तभी अच्छा होता है, एक व्यक्ति या दल की संरक्षता ठीक नहीं। कितने ही अंग्रेज़ सच्चे दिल से समझते हैं कि वे भारत के संरक्षक हैं तो भी हमारे देश की क्या अवस्था उन्होंने कर डाली है ? हमें निश्चय करना है कि कारबार और जमीन की पैदावार किसके लाभ के लिए हो।"** (लाहौर कांग्रेस में राष्ट्रपति पद से भाषण)।[२]

गांधीजी भारत की दरिद्रता और बेकारी का उन्मूलन खादी तथा दूसरे ग्रामोद्योगों के पुनरुद्धार द्वारा करना चाहते थे। वे बड़ी-बड़ी मशीनों की सहायता से बड़े पैमाने पर उत्पादन के विरोधी थे, क्योंकि उससे केन्द्रीकरण बढ़ता है। और, केन्द्रीकरण से स्वभावतः आर्थिक शोषण, हिंसा, अनीति, लोभ आदि का अधिकाधिक प्रसार होता है।[३] महात्मा गांधी केन्द्रीकृत सामूहिक उत्पादन पर आधृत वर्तमान व्यापारिक सभ्यता की जगह एक नवीन विकेन्द्रीकृत तथा गार्हस्थिक सभ्यता का निर्माण करना चाहते थे, ताकि आधा दर्जन नगर सत्तर लाख गाँवों का शोषण न कर सकें और भारत का प्रत्येक गाँव एक स्वावलंबी इकाई बन सके।[४] यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि पश्चिम के प्रसिद्ध विचारक रसेल भी यह मानते हैं कि **"मानवता के लिए यह एक अत्युत्तम बात होगी कि उसकी सभ्यता की नींव ग्रामोद्योगों पर आधृत हो, नगरों के उद्योगों पर नहीं।"**[५] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि महात्मा गांधी मशीनों का पूर्ण बहिष्कार चाहते थे।[६] शायद यह कहना अधिक सही होगा कि वे मशीनों के विरुद्ध इतने

---

१. An Autobiography : Nehru, P. 518
२. २१ बनाम ३० : चतुरसेन शास्त्री, पृ० ३२-३३ पर उद्धृत (१९३०)
३. Selections from Gandhi, P. 71×245
४. Constructive Programme : Its Meaning and Place, P. 11 (1948)
५. साकल्य : शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० ३६ (प्रथम संस्करण, १९५५)
६. " 'Are you against all machinery ?'
"My answer is emphatically, 'No'. But, I am against its indiscriminate multiplication."

नहीं थे जितने कि मशीन-युग के।[1] श्री एस० आबिद हुसैन के अनुसार गांधीजी बड़ी-बड़ी फैक्टरियों और मिलों को निम्नोक्त पाँच शर्तों पर बरदाश्त करने के लिए तैयार थे:—

(१) वे बेकारी न फैलाएँ;
(२) वे राज्य की सम्पत्ति हों या कम-से-कम राज्य द्वारा संचालित हों;
(३) वे जनता के हित की भावना से चलाई जाएँ;
(४) मजदूरों को उचित वेतन दिया जाए;
(५) मजदूरों के काम को आकर्षक तथा आरामदेह बनाया जाए।[2]

गांधीजी कहा करते थे कि उन्हें आपत्ति मशीनों पर नहीं अपितु उनसे फैलने वाली बेरोज़गारी तथा भुखमरी पर है।[3] गांधीजी हस्त-उद्योगों की ओर केवल इसलिए लौटना चाहते हैं क्योंकि इसके इलावा हिन्दुस्तान के करोड़ों बेकार ग्रामवासियों को रोज़गार दिए जाने का दूसरा तरीका नहीं है।[4] हमें देखना यह है कि गांधीजी की यह मान्यता कहाँ तक सही है ?

गांधीवादी जीवन-दर्शन कहता है कि वह मशीनों, सामूहिक उत्पादन और औद्योगीकरण का विरोध केवल इसलिए करता है क्योंकि इनसे बेरोजगारी फैलती है, शोषण के अवसर बढ़ते हैं, मज़दूरों का चारित्रिक स्तर गिरता है और इस प्रकार कुल मिलाकर अहिंसक मूल्यों का बलिदान होता है।[5] कहने की आवश्यकता नहीं कि गांधीवाद की इस दलील में सच्चाई बहुत कम और उसका आभास अधिक है। इस तर्क के द्वारा वह यह सिद्ध करने का असफल प्रयास करता है कि वर्त्तमान शोषण, बेकारी, भुखमरी और मजदूरों के नैतिक पतन का दायित्व समाज-व्यवस्था पर नहीं बल्कि मशीनों पर है, सामूहिक उत्पादन पर है, औद्योगीकरण पर है। और, इस प्रकार अपने इस तर्क के बल पर गांधीवाद शोषण, अन्याय, बेकारी आदि को समाप्त करने के नाम पर इन समस्त दुर्गुणों की जननी वर्त्तमान समाज-व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों कायम रखने की कोशिश करता है। गांधीजी का ध्येय वर्त्तमान समाज एवं अर्थ-व्यवस्था में कोई मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना नहीं है। श्री नेहरू के शब्दों में सम्पूर्ण गांधीवादी विचारधारा का चरम

---

१. Gandhian Technique and Tradition, P. 25
२. The Way of Gandhi and Nehru, P. 63
३. Selections from Gandhi, P. 67×230
४. "I have no partiality for return to the primitive methods of grinding and husking for the sake of them. I suggest the return, because there is no other way of giving employment to the millions of villagers who are living in idleness."
—Towards Non-Violent Socialism, P. 34
५. तत्त्व-दर्शन, पृ० ११७-१८

लक्ष्य यह है कि 'जो है सो रहना चाहिए, स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।'[1] यही कारण है कि जमींदारों और ताल्लुकेदारों को उनके विशिष्टाधिकारों की सुरक्ष का आश्वासन देते हुए गांधीजी ने घोषणा की थी कि यदि उन्हें उनकी जायदाद से वंचि करने का अन्यायपूर्ण (?) प्रयत्न किया जाएगा तो वे उनकी ओर से संघर्ष करेंगे।[2] और यह बहुत सच है कि वर्ग-संघर्ष को कुंठित करने के लिए उन्होंने अपने प्रभाव का पू शक्ति के साथ उपयोग किया।

कार्यक्रम का सामाजिक भाग—

भारत के राष्ट्रीय जीवन की एकता के लिए गांधीजी साम्प्रदायिक सौहार्द व अत्यावश्यक मानते थे। यही कारण है कि उनके अट्ठारह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम इसे प्रथम स्थान प्राप्त है। साम्प्रदायिकता के अनेक रूप हो सकते हैं, जिनमें सर्वप्रमु धार्मिक असहिष्णुता है। भारत में यह असहिष्णुता हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के रूप व्यक्त हुई। गांधीजी के सर्वधर्म समभाव के व्रत का आधार धार्मिक सहिष्णुता है। उनव विश्वास था कि "सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्यचक्षु खुल सकते है धर्मांधता और दिव्यदर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अंतर है।"[3] अपने धर्म पर अविच

---

१. "It comes to this, then, that whatever is should continue, the *status quo* should be maintained. There should be no economic enquiry as to what is most desirable or beneficial for the people, no attempts to change present conditions; all that is necessary is to change the people's hearts. That is the pure religious attitude to life and its problems. It has nothing to do with politics or economics or sociology."

—An Autobiography, P. 536

२. (क) "...let me assure you that I shall be no party to dispossessing propertied classes of their private property without just cause. My objective is to reach your heart and convert you so that you may hold all your private property in trust for your tenants and use it primarily for their welfare."

—Selections from Gandhi, P. 88×275

(ख) "You may be sure that I shall throw the whole weight of my influence in preventing class war. Supposing that there is an attempt unjustly to deprive you of your property, you will find me fighting on your side."

—Ibid, P. 89×275

३. गांधी-साहित्य, भाग ५ पृ० १५६

नहीं थे जितने कि मशीन-युग के।[1] श्री एस० आबिद हुसैन के अनुसार गांधीजी बड़ी-बड़ी फैक्टरियों और मिलों को निम्नोक्त पाँच शर्तों पर बरदाश्त करने के लिए तैयार थे:—

(१) वे बेकारी न फैलाएँ;

(२) वे राज्य की सम्पत्ति हों या कम-से-कम राज्य द्वारा संचालित हों;

(३) वे जनता के हित की भावना से चलाई जाएँ;

(४) मजदूरों को उचित वेतन दिया जाए;

(५) मजदूरों के काम को आकर्षक तथा आरामदेह बनाया जाए।[2]

गांधीजी कहा करते थे कि उन्हें आपत्ति मशीनों पर नहीं अपितु उनसे फैलने वाली बेरोज़गारी तथा भुखमरी पर है।[3] गांधीजी हस्त-उद्योगों की ओर केवल इसलिए लौटना चाहते हैं क्योंकि इसके इलावा हिन्दुस्तान के करोड़ों बेकार ग्रामवासियों को रोज़गार दिए जाने का दूसरा तरीका नहीं है।[4] हमें देखना यह है कि गांधीजी की यह मान्यता कहाँ तक सही है ?

गांधीवादी जीवन-दर्शन कहता है कि वह मशीनों, सामूहिक उत्पादन और औद्योगीकरण का विरोध केवल इसलिए करता है क्योंकि इनसे बेरोज़गारी फैलती है, शोषण के अवसर बढ़ते हैं, मजदूरों का चारित्रिक स्तर गिरता है और इस प्रकार कुल मिलाकर अहिंसक मूल्यों का बलिदान होता है।[5] कहने की आवश्यकता नहीं कि गांधीवाद की इस दलील में सच्चाई बहुत कम और उसका आभास अधिक है। इस तर्क के द्वारा वह यह सिद्ध करने का असफल प्रयास करता है कि वर्त्तमान शोषण, बेकारी, भुखमरी और मजदूरों के नैतिक पतन का दायित्व समाज-व्यवस्था पर नहीं बल्कि मशीनों पर है, सामूहिक उत्पादन पर है, औद्योगीकरण पर है। और, इस प्रकार अपने इस तर्क के बल पर गांधीवाद शोषण, अन्याय, बेकारी आदि को समाप्त करने के नाम पर इन समस्त दुर्गुणों की जननी वर्त्तमान समाज-व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों कायम रखने की कोशिश करता है। गांधीजी का ध्येय वर्त्तमान समाज एवं अर्थ-व्यवस्था में कोई मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना नहीं है। श्री नेहरू के शब्दों में सम्पूर्ण गांधीवादी विचारधारा का चरम

---

१. Gandhian Technique and Tradition, P. 25

२. The Way of Gandhi and Nehru, P. 63

३. Selections from Gandhi, P. 67×230

४. "I have no partiality for return to the primitive methods of grinding and husking for the sake of them. I suggest the return, because there is no other way of giving employment to the millions of villagers who are living in idleness."

—Towards Non-Violent Socialism, P. 34

५. तत्त्व-दर्शन, पृ० ११७-१८

लक्ष्य यह है कि 'जो है सो रहना चाहिए, स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।'[१] यही कारण है कि जमींदारों और ताल्लुकेदारों को उनके विशिष्टाधिकारों की सुरक्षा का आश्वासन देते हुए गांधीजी ने घोषणा की थी कि यदि उन्हें उनकी जायदाद से वंचित करने का अन्यायपूर्ण (?) प्रयत्न किया जाएगा तो वे उनकी ओर से संघर्ष करेंगे।[२] और, यह बहुत सच है कि वर्ग-संघर्ष को कुंठित करने के लिए उन्होंने अपने प्रभाव का पूरी शक्ति के साथ उपयोग किया।

कार्यक्रम का सामाजिक भाग—

भारत के राष्ट्रीय जीवन की एकता के लिए गांधीजी साम्प्रदायिक सौहार्द को अत्यावश्यक मानते थे। यही कारण है कि उनके अट्ठारह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम में इसे प्रथम स्थान प्राप्त है। साम्प्रदायिकता के अनेक रूप हो सकते हैं, जिनमें सर्वप्रमुख धार्मिक असहिष्णुता है। भारत में यह असहिष्णुता हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के रूप में व्यक्त हुई। गांधीजी के सर्वधर्म समभाव के व्रत का आधार धार्मिक सहिष्णुता है। उनका विश्वास था कि "सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्यचक्षु खुल सकते हैं। धर्मांधता और दिव्यदर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अंतर है।"[३] अपने धर्म पर अविचल

---

१. "It comes to this, then, that whatever is should continue, the *status quo* should be maintained. There should be no economic enquiry as to what is most desirable or beneficial for the people, no attempts to change present conditions ; all that is necessary is to change the people's hearts. That is the pure religious attitude to life and its problems. It has nothing to do with politics or economics or sociology."

—An Autobiography, P. 536

२. (क) "...let me assure you that I shall be no party to dispossessing propertied classes of their private property without just cause. My objective is to reach your heart and convert you so that you may hold all your private property in trust for your tenants and use it primarily for their welfare."

—Selections from Gandhi, P. 88×275

(ख) "You may be sure that I shall throw the whole weight of my influence in preventing class war. Supposing that there is an attempt unjustly to deprive you of your property, you will find me fighting on your side."

—Ibid, P. 89×275

३. गांधी-साहित्य, भाग ५ पृ० १५६

है कि गांधीजी की यह विचारधारा अन्ततः हमें वहीं ले जाएगी जहाँ आज हम हैं।

महात्मा गांधी मादक वस्तुओं के निषेध को इतना महत्त्व इसलिए देते थे क्योंकि वे उनके प्रयोग को अनैतिकता, अनुशासनहीनता, असंयम, चारित्रिक पतन तथा दूसरी बुराइयों की ओर ले जाने वाला मानते थे। वे कहते हैं : "मैं शराबखोरी को चोरी और शायद व्यभिचार से भी अधिक निंदनीय समझता हूं। क्या यह अक्सर दोनों की जननी नहीं होती ?"[१] सन् '३१ में उन्होंने 'यंग इंडिया' में लिखा था कि "अगर मुझे एक घंटे के लिए सारे भारत का तानाशाह बना दिया जाय तो पहला काम मैं यह करूँगा कि तमाम शराबखानों को मुआवजा दिये बिना ही बन्द करा दूंगा।"

स्त्री भी समाज का एक अंग है और गांधी के अहिंसात्मक समाज में उसके किसी अंग को अन्यायपूर्वक दबाकर रखे जाने की स्वभावतः कोई व्यवस्था नहीं है। गांधीजी मानते थे कि स्त्री को भी स्वभाग्य-निर्णय का उतना ही अधिकार होना चाहिए जितना कि पुरुष को।[३] वे स्त्री को अधिकतम स्वतंत्रता दिए जाने के पक्षपाती थे। वे नारी को भी वोट का अधिकार तथा बराबरी का क़ानूनी दर्जा देना चाहते थे।[४] स्त्रियों को समानाधिकार दिए जाने के समर्थक होते हुए भी गांधीजी का नारीत्व का आदर्श आवश्यक रूप से परंपराभुक्त है। इसीलिए वे मानते थे कि स्त्री का कार्यक्षेत्र मूलतः और प्रथमतः घर है।[५]

किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का संगठन गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। किसानों को संगठित करने के लिए गांधीजी खेड़ा, बारदोली, चंपारन और बोरसद के किसान-आंदोलनों को अपना आदर्श मानते हैं। सिद्धान्त के तौर पर यह मानते हुए भी कि जमीन का असली स्वामी वही है जो उसे जोतता है, व्यवहार में गांधीजी जमींदारों को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे।[६] कहने

१. शराबबंदी करें : महात्मा गांधी, पृ० ५-६ (१९५५)
२. वही, पृ० ५
३. "In a plan of life based on non-violence, woman has as much right to shape her own destiny as man has to shape his".
—Constructive Programme, P. 17
४. "I passionately desire the utmost freedom for our women. ×× Women must have votes and an equal legal status. But the problem does not end there."
—Selections from Gandhi, P. 242×693
५. Selections from Gandhi, P. 240
६. "But don't you agree that the land belongs to him who tills it ?
"I do. But that need not mean that the Zamindar should be wiped out."
—Towards Non-Violent Socialism, P. 128

की आवश्यकता नहीं कि सिद्धान्त रूप में समानता की बड़ी-बड़ी बातों का उस समय तक कोई महत्त्व नहीं हो सकता, जब तक कि व्यवहार में उन पर अमल न किया जाए। और, इसमें सन्देह नहीं कि गांधीवादी विचारधारा की जो कुछ प्रगतिशीलता है वह सिद्धान्तों तक ही सीमित है। यही कारण है कि किसानों के संगठन की आवश्यकता को स्वीकार करके भी गांधीजी उन्हें राजनीति से दूर रखने की सलाह देते हैं।[१] गांधीजी की इस सलाह को उतनी अराजनीतिक नहीं समझा जाना चाहिए जितनी वह ऊपर से दिखाई देती है। किसानों को राजनीति से दूर रखना भी अपने-आप में एक गहरी राजनीति है।

मजदूरों को संगठित करने के प्रश्न पर गांधीजी अहमदाबाद की मजदूर यूनियन को पूरे देश के लिए आदर्श मानते थे।[२] मजदूर संगठनों को भी गांधीजी उस समय तक राजनीतिक गतिविधियों से दूर रखना चाहते थे जब तक उनकी राजनीतिक चेतना 'हमारे द्वारा उनके लिए इच्छित स्तर' तक नहीं पहुँच जाती।[३] किन्तु प्रश्न यह है कि राजनीति में सक्रिय भाग लेने के इलावा किसी वर्ग की राजनीतिक चेतना के जागृत होने का दूसरा उपाय ही कौन-सा है?

विद्यार्थियों के संगठन के संबंध में भी गांधीजी का यही मत है। वे कहते हैं कि विद्यार्थियों को राजनीतिक हड़तालों में भाग नहीं लेना चाहिए; सूत कातना चाहिए; खादी तथा दूसरे गृह-उद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए; आपसी व्यवहार में साम्प्रदायिकता तथा अस्पृश्यता से दूर रहना चाहिए; राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी को सीखना चाहिए और अपनी मातृभाषा को दूसरी भाषाओं के ज्ञान से समृद्ध बनाना चाहिए।[४]

इसके अतिरिक्त कोढ़ियों की सेवा; आदिवासियों की सेवा और उनका संगठन; गाँवों की सफाई; स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा आदि भी गांधीजी के सामाजिक पुनर्रचना-कार्यक्रम के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

कार्यक्रम का शिक्षा-संबंधी भाग—

महात्मा गांधी मानते थे कि वर्त्तमान शिक्षण-प्रणाली अपूर्ण, सदोष तथा भारत के लिए अनुपयुक्त है; क्योंकि (१) यह मूलतः एक विदेशी-संस्कृति पर आवृत है, (२) इसमें मनुष्य के हृदय और हाथ के शिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है और (३) इसका

---

१. Constructive Programme, P. 22

२. Ibid, P. 23

३. "I am strongly against the exploitation of labour organizations for political purposes so long as the labourers themselves have not yet reached the stage of political consciousness which we desire for them."

—Towards Non-Violent Socialism, P. 48

४. Constructive Programme, P. 26-27

माध्यम एक विदेशी भाषा है।[१] इस शिक्षण-पद्धति के परिणामस्वरूप आज हमारे शिक्षित वर्ग और आम जनता के मध्य कोई बौद्धिक अथवा सांस्कृतिक संबंध नहीं रह गया है।[२] इस शिक्षण-पद्धति के कारण ही आज हमारा शिक्षित वर्ग अपने ही देश में अपने ही देशवासियों से अधिकाधिक दूर होता जा रहा है। गांधीजी मानते थे कि शिक्षा से उनका तात्पर्य मनुष्य के चतुर्मुखी विकास से है। साक्षरता शिक्षा का न तो अंत है और न प्रारम्भ। वस्तुतः साक्षरता स्वयं में कोई शिक्षा नहीं है।[३] शिक्षा-प्रणाली का लक्ष्य केवल व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का साधन बनना मात्र ही नहीं होना चाहिए, उसका एक सामाजिक उद्देश्य भी होना चाहिए।[४] इसमें संदेह नहीं कि आज की शिक्षा हमें अधिकाधिक घृणित व्यक्तिवाद की ओर ले जा रही है।

इन सब कमियों को दूर करने के लिए गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा (Basic Education) के नाम से एक नवीन शिक्षण-प्रणाली देश के सम्मुख रखी। इस प्रणाली का ध्येय बच्चों के शरीर, मस्तिष्क और हृदय का—इन तीनों के सम्मिलित रूप को ही 'व्यक्तित्व' की संज्ञा दी जाती है—सम्यक् विकास करना है। यह प्रणाली बच्चों को केवल किताबी ज्ञान प्रदान करके सन्तुष्ट नहीं हो जाती, बल्कि उनकी रचनात्मक शक्तियों को फूलने-फलने का भी उचित अवसर प्रदान करती है। यह प्रणाली आरम्भ से ही बच्चों में शारीरिक श्रम के प्रति आदर और सम्मान की भावना जागृत करती है।

गांधीजी का यह सुनिश्चित मत था कि उच्च-से-उच्च शिक्षा का माध्यम भी मातृभाषा ही होनी चाहिए।[५] वे इसे केवल वहम मानते थे कि अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के बिना शिक्षा अधूरी रहती है।[६] शिक्षा-क्रम में भाषाओं के स्थान-निर्धारण के विषय में उनका विचार था कि पहला स्थान स्वभाषा या मातृभाषा को दिया जाना चाहिए; दूसरा राष्ट्रभाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी को; तीसरा मूल भाषा यानी संस्कृत, अरबी या फारसी, पहलवी इत्यादि को और चौथा भारत की किसी प्रान्तीय भाषा को—विशेष रूप से द्राविड़ी भाषाओं में से। अंग्रेजी का नंबर इन सबके बाद ही आना चाहिए।[७]

इस प्रकार सब मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि गांधीजी का यह रचनात्मक कार्यक्रम उनके सत्य और अहिंसा, प्रेम और सेवा के सन्देश से अनुप्राणित है। यह तो स्पष्ट ही है कि गांधीजी का यह रचनात्मक कार्यक्रम वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं ला सकता। सच तो यह है कि किसी सुधारवादी विचारधारा की यह

१. Selections from Gandhi, P. 251×713
२. Ibid, P. 254×714
३. Ibid, P. 256-57×721
४. गांधी और गांधीवाद, भाग २ पृ० ८६
५. गांधी-विचार-दोहन, पृ० १५८
६. वही, पृ० १५६
७. वही, पृ० १६१

मंशा होती भी नहीं। किन्तु फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गांधीवाद से पूर्व किसी भी देश अथवा काल के सुधारवाद ने कोटि-कोटि जनता के दैनंदिन जीवन तक पहुँचने का इतना व्यापक एवं विशाल आयोजन नहीं किया था। सुधारवाद कभी भी आम जनता के जीवन तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करता। इसे हम गांधीजी की व्यक्तिगत महानता कहेंगे कि मूलतः सुधारवादी होते हुए भी उनकी विचारधारा देश के जन-जीवन को प्रभावित एवं प्रेरित करने का प्रयास करती है।

साहित्य और कला के संबंध में गांधीजी का दृष्टिकोण—

साहित्य और कला गांधीजी का प्रत्यक्ष विवेच्य-विषय न होने पर भी उसके संबंध में उनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण अवश्य था। साहित्य और कला के संबंध में गांधीजी का दृष्टिकोण उनके जीवन-दर्शन के मूल तत्त्व 'सत्य' से अनुप्राणित है। गांधी के दर्शन में कुल मिलाकर तप और त्याग की स्वीकृति तथा जीवन के भोग पक्ष का तिरस्कार है। अतः यह स्वाभाविक है कि उसमें सुंदर की उपेक्षा तथा शिव और सत्य का प्राधान्य हो। सत्य और शिव में से गांधीजी सत्य को ही प्रथम स्थान देते हैं। उनके विचार में "प्राप्त करने के लिए पहली वस्तु है सत्य, और तब सुंदर तथा शिव स्वयं ही आपको प्राप्त हो जाएगा। सच्ची कला केवल रूप का ही नहीं प्रत्युत् उसके परे जो है उसका भी विचार करती है।"[1] गांधीजी के लिए सत्य-विहीन कलाकृति प्राणों के स्पन्दन से शून्य एक अस्थि-पंजर से अधिक महत्त्व नहीं रखती। यहाँ 'सत्य' का अर्थ घटनाओं का यथातथ्य वर्णन अथवा घटनाओं और तफसील (Details) की सत्यता मात्र नहीं अपितु सिद्धान्त या आदर्श की सत्यता है। बहुत-सी घटनाएँ सत्य होने पर भी साहित्य में उनका हूबहू अंकन समाज के हित में अमंगलकारी होता है।[2] गांधीवादी जीवन-दर्शन में मानव की हीन वृत्तियों को उभारने और भोगों की इच्छा को बढ़ाने वाली कला 'गंदे साहित्य' की श्रेणी में परिगणित की जाती है।[3] इस प्रकार गांधीवाद के अनुसार साहित्य में केवल उन्हीं भावनाओं एवं घटनाओं का चित्रण किया जाना चाहिए, जो मानव की उच्च दैवी वृत्तियों को उद्बुद्ध करें।

गांधीजी कला का मूल्यांकन उसकी रसात्मकता अथवा कलात्मकता के आधार पर नहीं बल्कि नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक उपयोगिता के आधार पर करते हैं।

---

१. "Truth is the first thing to be sought for, and beauty and goodness will then be added unto you...... . True art takes note not merely of form but also of what lies beyond." (M. Gandhi)
—The Life of Mahatma Gandhi : Louis Fischer, P. 322–23 पर उद्धृत (London, 1951)

२. गांधी-विचार-दोहन, पृ० १७१

३. वही, पृ० १७२

वे स्वर्गीय किशोरलाल मशरूवाला के इस मत से सहमत हैं कि "जिस कला के पीछे प्राणियों पर जुल्म, उनकी हिंसा, उत्पीड़न आदि हों उसमें बाह्य सौन्दर्य कितना ही हो तो भी वह कला कलि अथवा शैतान का ही दूसरा नाम है।"[१] इसीलिए 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त उन्हें स्वीकार्य नहीं था।[२] वे कहा करते थे कि "सच्ची कला आत्मा की अभिव्यक्ति होती है।...सच्ची कला को आत्मा की प्रतीति कराने में सहायक होना चाहिए।"[३]

'कस्मै देवाय' अर्थात् साहित्यकार किसके लिए लिखे?—प्रश्न का उत्तर देते हुए गांधीजी कहते हैं कि "साहित्य वह है, जिसे चरस खींचता हुआ किसान समझ सके और साक्षर भी।"[४] स्पष्ट है कि गांधीजी ऐसा साहित्य नहीं चाहते थे जो केवल कतिपय गिने-चुने नागर शिक्षित जनों के मनोरंजन तथा मानसिक विलास का साधन मात्र ही बन सके। वे चाहते थे कि हमारे साहित्यकार गाँवों में जाकर वहाँ की समस्याओं को समझें, वहाँ के जीवन के दुःख-दर्द का साक्षात् अनुभव करें और उस अनुभव को अपनी कला द्वारा वाणी प्रदान करें।[५] गांधीजी साहित्य और कला को विश्वविद्यालयों, ड्राइंग रूमों, कॉफी हाउसों तथा गोष्ठियों के दमघोट कृत्रिम वातावरण से बाहर निकालकर खेत-खलिहानों और चौपालों के खुले तथा यथार्थ वातावरण में ले जाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में वे साहित्य और कला को आम जनता तक ले जाना चाहते थे।

यहाँ पर इस बात का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि प्रेमचन्द के साहित्य-विषयक दृष्टिकोण और गांधीजी के इन विचारों में अद्भुत साम्य है। गांधीजी की भाँति प्रेमचन्द भी साहित्य के सुंदर या कला पक्ष को उतना महत्त्व नहीं देते थे

---

१. गांधी-विचार-दोहन, पृ० १७६

२. "I am against the formula, 'Art for art's sake'. For me, all art *must be based on the truth.* I reject beautiful things if instead of expressing truth, they express untruth. I accept the formula 'Art brings joy and is good' but on the condition I mentioned. To achieve truth in art I do not expect exact reproductions of external things. Only living things bring living joy to the soul and must elevate the soul." (रोमां रोला के साथ महात्मा गांधी का वार्तालाप)

—The Life of Mahatma Gandhi : Louis Fischer, P. 319

३. Ibid, P. 322

४. जीवन-साहित्य : दिसम्बर १९५८, पृ० ४७५ पर उद्धृत

५. "क्या हमारे यहां भी ऐसे लोग हैं, जो फरार की तरह गांव के लोगों के लिए ऐसी महान् कृतियां निर्माण कर सकें? हमारे साहित्यिकों की आंखों और दिमाग में तो कालिदास, भवभूति तथा अंग्रेज ही घूमा करते हैं और वे नकली चीजें ही निर्माण करते हैं। मैं चाहता हूं कि वे गांवों में जावें, ग्रामीण जीवन का अध्ययन करें और जीवनदायी साहित्य निर्माण करें।" (म० गांधी)

—गांधीय-मार्ग : सम्पादक-बाबू गुलाबराय, पृ० ८१ पर उद्धृत (आगरा, १९५३)

जितना उसके शिव या सामाजिक पक्ष को ! गांधीजी की भाँति प्रेमचन्द भी मानते थे कि "*जिस देश के ८० फी सदी मनुष्य गाँवों में बसते हों उसके साहित्य में ग्राम जीवन* ही प्रधान रूप से चित्रित होना स्वाभाविक है। उन्हीं का सुख राष्ट्र का सुख, उनका दुःख राष्ट्र का दुःख और उन्हीं की समस्याएँ राष्ट्र की समस्याएँ हैं।"[1]

१. प्रेम-पचीसी : प्रेमचन्द, भूमिका पृ० १० (दूसरा संस्करण, १९५८)

: ४ :

प्रेमचन्द युग : तत्कालीन परिस्थितियाँ

किसी भी युग के साहित्य का सम्यक् अध्ययन युग-परिस्थितियों के परिपार्श्व में ही किया जा सकता है। वीरगाथाकालीन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन साहित्य के संबंध में भी यह बात उतनी ही सच है जितनी कि आधुनिक कालीन साहित्य के संबंध में। युग-परिस्थितियाँ ही साहित्यकार को उत्पन्न करती हैं, उसका निर्माण करती हैं और उसे साहित्य-सृजन के लिए प्रेरित करती हैं। यही कारण है कि अपने युग के प्रति तटस्थ रहने का दंभ करने वाले कलाकार की कृतियों में भी विभिन्न रूपों में युग की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है। इस बात में अधिक विवाद की गुंजाइश नहीं है कि जिस विशिष्ट राजनीतिक, आर्थिक,सामाजिक-धार्मिक तथा साहित्यिक परिवेश में साहित्यकार की चेतना का प्रस्फुटन और विकास होता है उससे वह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। मैक्सिम गोर्की के अनुसार लेखक सर्वप्रथम अपने युग की उपज, उसकी घटनाओं-दुर्घटनाओं का प्रत्यक्ष दृष्टा अथवा उनमें सक्रिय भाग लेने वाला होता है।[1] प्रेमचन्द के साहित्यिक व्यक्तित्व और कृतित्व के संबंध में तो यह बात और भी निश्चयात्मक रूप से कही जा सकती है, क्योंकि वे स्वयं इस सिद्धान्त के बहुत बड़े समर्थक थे। वे कहा करते थे : "**साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।**"[2]

आधुनिक युग में राजनीति ने कुछ ऐसा सर्वव्यापी रूप धारण कर लिया है कि राजनीतिक परिस्थितियों के विवेचनान्तर्गत सामाजिक-धार्मिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों का भी सहज समावेश हो जाता है। डॉ० पट्टाभि के इन शब्दों में काफी सच्चाई है : "**राजनीति सच पूछिए तो मानव-कल्याण का विज्ञान ही है। उसने केवल भारत में ही नहीं, बल्कि सारे संसार में इतना व्यापक रूप धारण कर लिया है कि उसमें सामाजिक और आर्थिक जैसी बृहत्तर समस्याओं के अध्ययन तथा हल का भी समावेश हो**

---

१. Literature and Life : A Selection from the Writings of Maxim Gorki, P. 99. (1946)

२. हंस : अप्रैल १९३२, पृ० ४०

गया है।"[1] अतः यद्यपि हम अध्ययन की सुविधा एवं स्पष्टता के लिए राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों का प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य के संदर्भ में पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे, पर राजनीति के व्यापक स्वरूप के कारण इनकी सीमाओं का परस्पर अतिक्रमण न होना संभव नहीं है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—

आधुनिक भारत में राष्ट्रीय चेतना एवं राजनीतिक संघर्ष का प्रथम सामूहिक सूत्रपात सन् १८५७ के देशव्यापी स्वाधीनता-आंदोलन से हुआ, जिसे विदेशी या उनसे प्रभावित इतिहासकारों तथा ब्रिटिश साम्राज्य ने 'गदर' या 'सैनिकों का बल्वा' (Sepoy Mutiny) संज्ञा देकर उसकी महत्ता कम करने का पूरा प्रयास किया है। किन्तु जिस त्वरित गति से यह जन-विद्रोह देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला और जिस सामूहिक उत्साह से एक ओर दिल्ली के मुगल बादशाह, दक्षिण के पेशवा और मध्यभारत के हिन्दू राजाओं ने तथा दूसरी ओर भारतीय सेना ने इसमें भाग लिया, वह सिद्ध करता है कि यह विद्रोह केवल 'गदर' या 'सैनिकों का बल्वा' नहीं था। इसकी व्यापकता के संबंध में 'इंडियन म्यूटिनी' के लेखक जॉन के का कहना है कि **"गंगा पार के इलाके में ही नहीं दोआब के जिलों में भी ग्रामीण जनता उठ खड़ी हुई थी और जल्दी ही ऐसा कोई आदमी, गाँव या शहर नहीं बचा जो अंग्रेजों के विरुद्ध न उठ खड़ा हुआ हो"**।[2] कई कारणों से यह विद्रोह सफल नहीं हो सका और विदेशी सरकार द्वारा निर्ममतापूर्वक कुचल डाला गया। पर इस विद्रोह से एक लाभ अवश्य हुआ कि भारत ईस्ट इंडिया कंपनी के शुद्ध व्यावसायिक शासन से मुक्ति पाकर सीधा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया।

तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड डफरिन की प्रेरणा एवं सहमति तथा एक उदार और सहृदय अंग्रेज ए० ओ० ह्यूम के प्रयत्नों से सन् १८८५ में जब भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना हुई उस समय बनारस के पास लमही नामक एक छोटे-से गाँव में ५ वर्ष का बालक प्रेमचन्द (उस समय धनपतराय) अत्यन्त दरिद्रतापूर्ण वातावरण और दयनीय परिस्थितियों में जीवन-यापन कर रहा था। यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि भारतीय जनता की भलाई के उद्देश्य से प्रेरित होकर विदेशी शासकों ने कांग्रेस की स्थापना की थी। इसके सर्वथा विपरीत उनका उद्देश्य जनता में व्याप्त विद्रोह एवं असन्तोष की भावना को वैधानिक आंदोलन में परिणत कर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षित रखना था। पुलिस की गुप्त रिपोर्टों के द्वारा उन्हें जनता में फैल रहे असन्तोष की सूचना मिल चुकी थी।[3] फरवरी सन् १८८१ में डेनियलसन के नाम

---

१. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड १ पृ० ४८८ (१९४८)
२. Indian Mutiny, Part II P. 195
३. राष्ट्रीयता और समाजवाद : आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० ८३ (प्रथमावृत्ति, सं० २००६)

अपने एक पत्र में कार्ल मार्क्स ने लिखा था : "हिन्दुस्तान में बहुत जल्द अंग्रेजी सरकार को, यदि आम विद्रोह का नहीं, तो गंभीर पेचीदगियों का सामना तो जरूर ही करना पड़ेगा। × × × वर्ष प्रतिवर्ष ऐसे भयंकर अकाल हिन्दुस्तान में पड़ रहे हैं जिनकी यूरोप में कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाचार मिल रहे हैं कि हिन्दुस्तान में सचमुच एक षड़यन्त्र हो रहा है, जिसमें हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से सहयोग कर रहे हैं। ब्रिटिश सरकार को भी मालूम है कि कुछ 'गड़बड़' होने वाली है।"[1] स्पष्ट है कि १८५७ की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए ही लिबरलों के नेतृत्व में कांग्रेस की स्थापना की गई थी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त उच्च तथा उच्च-मध्यवर्गीय भारतीयों के इस संगठन के पीछे सरकार का चाहे कुछ भी उद्देश्य रहा हो, पर भारत के लिए कुल मिलाकर उसे एक वरदान ही कहा जाएगा, क्योंकि उन परिस्थितियों में शासकों के आशीर्वाद और संरक्षण के बिना किसी अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था की स्थापना की बात तो दूर कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।[2]

तत्कालीन कांग्रेसी नेताओं की नीति यद्यपि स्पष्ट रूप से 'भिक्षां देहि' की नीति थी, पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारतीय राजनीति में कांग्रेस के भावी प्रगतिशील रोल को जल्दी ही पहचान लिया था। कांग्रेस की स्थापना के केवल तीन वर्ष पश्चात् लॉर्ड डफरिन उसे एक अत्यन्त नगण्य अल्पमत की प्रतिनिधि संस्था बताने लगे थे। जिला अधिकारी की आज्ञा के विरुद्ध कांग्रेस-अधिवेशन में भाग लेने पर १८८७ में एक प्रतिनिधि से २० हजार की जमानत माँगी गई थी। १८९० में सरकारी अधिकारियों पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया था कि वे कांग्रेस-अधिवेशन में प्रेक्षकों के रूप में भी भाग नहीं ले सकते। १९०० में लॉर्ड कर्जन ने भारतीय सचिव को अपने एक पत्र में लिखा था : "**कांग्रेस अपनी मृत्यु को प्राप्त हो रही है और मेरी यह सबसे बड़ी इच्छा है कि मैं उसकी शांतिपूर्ण मृत्यु में सहायक हो सकूं।**"[3]

आरम्भिक बीस वर्षों में कांग्रेस की नीति में राष्ट्रभक्ति से अधिक राजभक्ति का बोलबाला था। इन वर्षों में उसका राजनीतिक कार्य-कलाप मामूली हेर-फेर के साथ वर्ष प्रतिवर्ष एक ही तरह के प्रस्ताव पास करने तक सीमित रहा। १९०५ में बंग-भंग की घटना ने उसकी राजभक्ति को पहला बड़ा झटका दिया। लॉर्ड कर्जन के इस कुत्सित कार्य के विरुद्ध बंगाल में एक व्यापक जनांदोलन उठ खड़ा हुआ। शीघ्र ही यह

---

१. भारत संबंधी लेख, पृ० १२४ (प्रथम संस्करण, १९५४)

२. "जिस समय कांग्रेस का जन्म हुआ, उस समय हमारा देश गुलामी की सबसे दर्दनाक हालत में था। उस समय स्पष्ट तौर पर आजादी की बात सोचना, उसका सपना देखना भी हमारे लिए आसान नहीं था, ...।"

—राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० १३५

३. India Today, P. 301-302 (Revised Second Indian Edition, 1949)

आंदोलन अपनी प्रान्तीय सीमाओं का अतिक्रमण करके समस्त देश में फैल गया।[१] कांग्रेसी नेतृत्व को विवश होकर आंदोलन और बहिष्कार का मार्ग अपनाना पड़ा। १९०५ की कांग्रेस ने बहिष्कार को आंशिक स्वीकृति ही दी थी, पर गर्मदलीय नेताओं के प्रभाव से १९०६ की कलकत्ता-कांग्रेस ने एक सम्पूर्णतः नवीन कार्यक्रम अपनाया। इस कार्यक्रम में प्रथम बार साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य या स्वशासन-प्राप्ति का उद्देश्य घोषित किया गया। बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा इस कार्यक्रम के दूसरे मुख्य अंग थे। इस प्रकार अब से स्वराज्य या स्वशासन, बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा कांग्रेस-कार्यक्रम के चार मुख्य अंग बन गए।[२] यह आंदोलन १९११ तक चला।

वंग-भंग आंदोलन ने भारत के राष्ट्रीय जीवन में जिस उत्साह और देशभक्ति की भावना का संचार किया, उससे प्रेमचन्द भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। श्री अमृतराय लिखते हैं: "सन् १९०१ के आसपास प्रेमचन्द ने अपना पहला उपन्यास 'श्यामा' लिखा। मुझे बताया गया है (किताब अब उपलब्ध नहीं है) कि उसमें प्रेमचन्द ने बड़े सतेज, साहसपूर्ण स्वर में ब्रिटिश कुशासन की निन्दा की है। वही भावधारा उस काल की कई कहानियों में मिलती है। इन कहानियों का संग्रह, संभवतः १९०६ में 'सोजेवतन' के नाम से हुआ। यह किताब फौरन जब्त कर ली गयी।"[३] प्रेमचन्द के अनुसार 'सोज़ेवतन' संग्रह १९०९ में प्रकाशित हुआ था, जिसमें १९०७ में 'जमाना' में प्रकाशित उनकी सर्वप्रथम कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' भी संकलित थी। प्रेमचन्द के ही शब्दों में इस संग्रह की सभी कहानियों में 'स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई थी।'[४] सन् १९०५-६ के आसपास लिखे गए उनके 'वरदान' उपन्यास का भी विषय अपने ढंग से देश-प्रेम ही है।

दिसम्बर १९०६ में ब्रिटिश साम्राज्य की सहमति एवं सक्रिय सहयोग से मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। नौकरशाही को आशा थी कि पृथक् मतदाता सूची के साथ एक पृथक् साम्प्रदायिक-राजनीतिक संगठन राष्ट्रीय आंदोलन में दरारें डालने में काफी सफल हो सकेगा। और, इसमें संदेह नहीं कि नौकरशाही की यह उम्मीद आगे चलकर अक्षरशः पूरी हुई। अगले ही वर्ष सूरत अधिवेशन में कांग्रेस दो दलों में विभक्त हो गई और उसका नेतृत्व नर्मदलीय नेताओं के हाथ में चला गया। अभी तक कांग्रेस का जनता से जो थोड़ा-

---

१. "सम्पूर्ण भारत ने बंगाल के सवाल को अपना सवाल बना लिया। प्रत्येक प्रान्त ने बंगाल के प्रश्न के साथ अपनी समस्याओं को और जोड़कर आंदोलन को ज्यादा गहरा रंग दे दिया।"
—कांग्रेस का इतिहास, खण्ड १ पृ० ६५

२. India Today, P. 308

३. नयी समीक्षा, पृ० २३२ (प्रथम संस्करण, १९५०)

४. कलम, पृ० ६५ (आठवाँ संस्करण, १९५९)

बहुत सम्पर्क था वह भी अब पूर्णतः विच्छिन्न हो गया।[1] नर्मदलीय नेताओं की राजनीति प्रेमचन्द को कभी भी आकर्षित नहीं कर सकी। उनका झुकाव स्वभावतः गर्म दल की ओर था।[2] प्रेमचन्द जानते थे कि इन नर्मदलीय नेताओं की हास्यास्पद राजभक्ति—जिसे कांग्रेस के इतिहासकार डॉ० पट्टाभि 'राजभक्ति की परेड' कहते हैं[3]—से देश को स्वाधीनता नहीं मिल सकती।

कांग्रेस की इस 'राजभक्ति की परेड' के विरुद्ध स्वभावतः आतंकवादी दल की गतिविधियाँ शक्ति प्राप्त करने लगीं। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने १९०५ में लंदन में 'होम-रूल सोसाइटी' और तत्पश्चात् 'इंडिया हाउस' की स्थापना की, जो क्रांतिकारियों के मुख्य केन्द्र थे और जहाँ से क्रांति-संबधी साहित्य तथा हथियार चोरी से भारत भेजे जाते थे। १९०८ में बंगाल का प्रथम बम-विस्फोट हुआ, जिस पर लेख लिखने के कारण स्वर्गीय लोकमान्य तिलक को ६ वर्ष के लिए माण्डले निर्वासित कर दिया गया। तिलक की गिरफ्तारी के विरुद्ध बंबई के कपड़ा मजदूरों ने भारत की पहली राजनीतिक हड़ताल की। किंग्सफोर्ड की हत्या का प्रयत्न करने के अपराध में इसी वर्ष खुदीराम बसु को फांसी की सजा दी गई। १९०६ से १९०९ के मध्य सिर्फ बंगाल की अदालतों में ५५० राजनीतिक मुकदमें चल रहे थे।[4]

इन हिंसात्मक हलचलों से शंकित होकर सरकार ने १९०९ में मिण्टो-मार्ले सुधार-योजना की घोषणा की। यह सुधार-योजना वस्तुतः अंग्रेजों की फूटनीति का ही नवीन रूप थी; जिसने पृथक् निर्वाचन, अप्रत्यक्ष निर्वाचन, परिमित मताधिकार इत्यादि के द्वारा साम्प्रदायिक वैमनस्य के लिए अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। दस वर्षों तक जिन शासन-सुधारों की इतनी चर्चा रही उनके विधायकों का उद्देश्य भारत को कोई ठोस एवं क्रियात्मक वस्तु प्रदान करना नहीं था। इन "शासन-सुधारों के बारे में स्वयं लार्ड मार्ले का कहना था—'यदि यह कहा जा सकता हो कि ये शासन

---

१. "इसके बाद सन् १९१६ तक कांग्रेस के जो अधिवेशन हुए उनमें कुछ नर्म नेताओं और उनके चंद अनुयायियों के सिवाय कोई नहीं जाता था। वह नाम मात्र की कांग्रेस रह गई थी। उसमें जीवन नहीं था। वह मृतप्रायः थी। × × × जो लोग नेताओं की हां में हां मिलाने को राजी होते थे उन्हीं की कांग्रेस में गुजर होती थी। स्वतंत्र विचार के लोग उसमें नहीं जा सकते थे।"
—भारतवर्ष और उसका स्वातंत्र्य संग्राम : सुखसम्पत्तिराय भण्डारी, पृ० ३६२ (अजमेर, १९५०)

२. "प्रेमचन्द का राजनीतिक रुझान गर्म दल की ओर था। अहमदाबाद कांग्रेस देखने हम लोग साथ-ही-साथ गये और एक ही स्थान पर ठहरे। लेकिन वे श्री तिलक के हामी थे और मैं श्री गोखले और फिरोजशाह मेहता का हामी था। हर वक्त बहस रहती, मगर दोनों अपनी जगह अटल रहे।" ('प्रेमचन्द की बातें' : मुंशी दयानारायण निगम)
—प्रेमचन्द और गोर्की : सं० शचीरानी गुर्टू, पृ० २७ (१९५५)

३. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड १ पृ० ५९ पर पाद-टिप्पणी

४. India Today, P. 308-309

सुधार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दुस्तान को पार्लियामेण्टरी (प्रातिनिधिक) शासन-व्यवस्था की ओर ले जाते हैं, तो कम-से-कम मैं तो इनसे कोई वास्ता नहीं रखूंगा।' "[1] लेकिन कांग्रेस ने इन सुधारों का हार्दिक स्वागत किया।[2]

जॉर्ज पंचम के सिंहासनारूढ़ होने पर १९१० में प्रयाग कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास करके राजभक्ति की शपथ ग्रहण की।[3] सम्राट के राज्यारोहण के उपलक्ष में १९११ के सुप्रसिद्ध दिल्ली दरबार में बंग-भंग प्रतिषेध की घोषणा की गई। इस घोषणा से भारतीय जनता की उद्विग्न भावनाएँ कुछ समय के लिए शांत अवश्य हो गईं, लेकिन यह शांति केवल ऊपरी शांति थी। सन् १९१२ में लॉर्ड हार्डिंग्ज पर बम फेंका गया। राजभक्त कांग्रेस ने आतंकवादियों के इस दुष्कृत्य (?) पर रोष प्रकट करते हुए एक प्रस्ताव पास किया।[4]

उधर अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर सन् १९१० से १९१७ के बीच कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं जिनका भारतीय राजनीति पर भी प्रभूत मात्रा में प्रभाव पड़ा। दक्षिण अफ्रीका में गांधी द्वारा अहिंसात्मक सत्याग्रह का सफल प्रयोग, सन् '१४ का प्रथम महायुद्ध और सन् '१७ की रूसी क्रांति—उन घटनाओं में से हैं जिन्होंने भारतीय जन-मानस को बुरी तरह झकझोर डाला था। इन घटनाओं के कारण भारतीय जनता में असंतोष, विद्रोह और बेचैनी की ताकतों को नया बल प्राप्त हुआ। रूस की जनवादी क्रांति ने भारतीय जनता की आशाओं-आकांक्षाओं को नया रंग-रूप और नई कल्पना प्रदान की।[5] प्रेमचन्द के साहित्य में भी हमें इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं—विशेषतः रूसी क्रांति—की अत्यन्त स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है। प्रेमचन्द बड़ी उत्सुकता से उस दिन का इन्तजार कर रहे थे जब भारत में भी शोषण का अन्त होकर मजदूर-किसानों का अपना राज होगा।[6] इसी समय के आसपास लिखे गए उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने दिखाया है कि शोषण

१. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड १ पृ० २३

२. "लार्ड मार्ले के खरीते में सुधारों का जो प्रस्ताव है उसका देश भर में जिस तरह स्वागत हुआ है उस पर यह कांग्रेस पूर्ण सन्तोष प्रगट करती है। सरकार ने जिस ऊँची राजनीतिज्ञता से यह काम किया है उसकी यह कांग्रेस तारीफ़ करती है और लार्ड मार्ले तथा लार्ट मिण्टो को उनके प्रस्तावों के लिए कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद देती है।"

—कांग्रेस के प्रस्ताव : सं० कन्हैयालाल, पृ० २२६ (१९३१)

३. "यह कांग्रेस महाराज पांचवें जार्ज के सिंहासनारूढ़ होने पर नम्रतापूर्वक उनकी अधीनता स्वीकार करती है और उनके प्रति अपनी उत्कृष्ट राजभक्ति प्रगट करती है। यह कांग्रेस इस घोषणा पर हार्दिक प्रसन्नता प्रगट करती है कि महाराज जार्ज और महारानी मेरी सन् १९११ में भारतवर्ष में आने वाले हैं।"

—कांग्रेस के प्रस्ताव, पृ० २४७

४. वही, पृ० २७४

५. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड २ पृ० ३-४ (१९४८)

६. प्रेमचन्द : घर में, पृ० ११० (दिल्ली, १९५६)

इसी बीच सरकार ने माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार-योजना की घोषणा की। यह घोषणा रूसी क्रांति के सिर्फ पाँच महीने बाद कर दी गई थी। घोषणा कितनी जल्दी में का गई थी, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि घोषणा के एक साल बाद माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट तैयार हो पाई थी।[१] इसमें सन्देह नहीं कि अन्य सुधार-योजनाओं की भाँति इस योजना का उद्देश्य भी भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को वैधानिक सुधारों की भूलभुलैयाँ में भटकाकर गुमराह करना था। गांधीजी सहित कांग्रेस का सम्पूर्ण उदार दलीय नेतृत्व इस धोखे से नहीं बच सका। ३१ दिसम्बर '१६ के 'यंग इंडिया' मे महात्मा गांधी ने घोषणा की थी कि हमारा कर्तव्य इन सुधारों की आलोचना करना नहीं, बल्कि उन्हें सफल बनाना है।[२] लेकिन प्रेमचन्द इस सुधार-योजना से जरा भी सन्तुष्ट नहीं थे। मुंशी दयानारायण निगम के नाम उनके अत्रोद्धृत पत्र से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।[३]

मित्र राष्ट्रों की विजय के साथ नवम्बर १६१८ में प्रथम महायुद्ध का अन्त हुआ। साम्राज्य के इस संकट-काल में कांग्रेस ने सरकार से किसी तरह की छेड़छाड़ करना उचित नहीं समझा। यही नही, उसने सरकार को युद्ध में सक्रिय सहयोग भी दिया। युद्ध के लिए सैनिकों की भरती करवाने में भी गांधीजी ने काफी महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया। युद्ध के दौरान में राष्ट्रपति विल्सन, प्रधान मन्त्री लायड जॉर्ज तथा दूसरे मित्र राष्ट्रीय राज-नीतिज्ञों ने घोषणा की थी कि यह युद्ध प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली को सुरक्षित रखने और पिछड़ी जातियों तथा निर्बल राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान करने के लिए लड़ा जा रहा है। इस घोषणा ने स्वभावतः भारतवासियों के हृदय में भी यह आशा उत्पन्न कर दी थी कि उन्हें भी युद्धोपरांत किसी-न-किसी रूप में उत्तरदायी शासन प्राप्त हो जाएगा। पर युद्ध की समाप्ति पर सरकार ने जो भीषण दमन-नीति अपनाई, उसने अंग्रेजों की न्याय-परायणता में भारत का रहा-सहा विश्वास भी समाप्त कर दिया।

राष्ट्रीय जन-जागृति के इतिहास में सन् '१६ का अप्रैल मास हमेशा गौरव के

---

१. India Today, P. 313

२. Ibid, P. 314

३. "मै रीफॉर्म स्कीम अथवा रोलट एक्ट के मुताल्लक मिस्टर चिन्तामणि वगैरह से मुतफ़िक नहीं हूँ। मेरे ख्याल में मौतदिल पार्टी (उदार दल) इस वक्त जरूरत से ज्यादा मगरूर और नाजा है हालाँकि इस्लाहात में अगर कोई खूबी है तो सिर्फ यह कि तालीमयाफ़्ता जमात (शिक्षित वर्ग) को कुछ असामियाँ ज्यादा मिल जाएँगी और जिस तरह यह जमात वकील बनकर रियाया का खून पी रही है, उसी तरह आइन्दा (भविष्य में) हाकिम बनकर रियाया का गला काटेगी। इसके सिवाय और कोई जदीद अख्तयार (नया अधिकार) नहीं दिया गया है, जो अख्तयार दिये गए हैं, उनमें भी इतनी शर्तें लगा दी गई है कि उनका देना न देना बराबर हो गया है......।"

—प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० २७

ाथ स्मरण किया जाएगा। तेरह अप्रैल को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में सरकार निहत्थी और शांतिपूर्ण जनता के खून से होली खेली। अमृतसर का यह पूर्व-आयोजित ामूहिक हत्याकाण्ड, दिल्ली और वीरमगाँव के गोलीकाण्ड, पंजाब में फौजी कानून के ीषण दमनकारी कृत्य आदि ने भारतीय जनता के सुषुप्त आत्म-सम्मान को बुरी तरह झकझोर डाला।[1]

इस नई परिस्थिति पर विचार करने के लिए सितम्बर १९२० में कांग्रेस ने कलत्ता में विशेष अधिवेशन किया। उसी वर्ष नागपुर में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में कलकत्ता के विशेष अधिवेशन द्वारा प्रस्तुत अहिंसात्मक असहयोग-आंदोलन के प्रस्ताव को लगभग एकमत से स्वीकार कर लिया गया। कांग्रेस का उद्देश्य 'साम्राज्य के भीतर स्वायत्त-शासन' से बदलकर 'शांतिपूर्ण एवं वैधानिक तरीकों से स्वराज्य की प्राप्ति' घोषित किया गया।[2]

सन् इक्कीस से भारतीय राजनीति में एक ऐसे युग का सूत्रपात होता है जिसका मूल स्वर विद्रोह था। इस युग में आग्रहपूर्ण प्रार्थनाओं और नपे-तुले प्रस्तावों के स्थान पर स्वावलम्बन और दृढ़ आत्मविश्वास की भावना का उदय होता है।[3] इस अभूतपूर्व जनजागृति को कुचलने के लिए सरकार ने कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी। किन्तु नृशंस-सेनृशंस दमन भी किसी राष्ट्र की उभरती हुई स्वातन्त्र्य-कामना को सम्पूर्णतः नहीं कुचल सकता; कुछ समय के लिए दबा भले ही दे।[4]

इसी वर्ष १७ नवम्बर को भारत की राजकीय यात्रा पर युवराज वेल्स का आगमन हुआ, लेकिन सम्पूर्ण राष्ट्र ने एक व्यक्ति की तरह युवराज का बहिष्कार किया। फलतः देश भर में प्रदर्शन, लाठीचार्ज और गोलीकाण्ड हुए। असहयोग-आंदोलन के इलावा आसाम-बंगाल रेलवे के मजदूरों की हड़ताल, जिला मिदनापुर के किसानों का लगानबंदी-आंदोलन, मालाबार में मोपला-विद्रोह आदि भी इसी काल की घटनाएँ हैं।[5]

---

१. An Autobiography : Nehru, P. 42
२. India Today, P. 318
३. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड १ पृ० १८३
४. "......, rifles and machine-guns will not destroy a man's soul, nor a nation's. A nation may be crushed and enslaved but the jackboots of Might cannot stamp out the living spirit of freedom ; they may succeed in driving it out of sight, underground, for a period, but in darkness and in secret it grows to power again, and the day comes when once more it blazes forth, a light to lead mankind." (Miss Ethel Mannin)
—Mahatma Gandhi : Dr. S. Radhakrishnan, P. 183
(Second Enlarged Ed., 1949)
५. Social Background of Indian Nationalism, P. 310

इसी बीच ५ फरवरी '२२ को गोरखपुर के निकट चौरीचौरा नामक स्थान पर किसानों की एक उत्तेजित भीड़ द्वारा २१ सिपाहियों और १ थानेदार को पुलिस चौकी में जीवित जला दिए जाने के कारण महात्मा गांधी ने असहयोग-आंदोलन को स्थगित कर दिया। गांधीजी के इस निश्चय पर देशबन्धुदास, मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय आदि उनके सहयोगी अपने खेद और असन्तोष को प्रकट किए बिना नहीं रह सके।[1] बंबई के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड लायड ने एक भेंट में स्वीकार किया है कि आंदोलन को स्थगित करके गांधी ने सरकार को एक बहुत ही गंभीर संकट से उबार लिया था।[2] श्री जवाहरलाल नेहरू भी स्वीकार करते हैं कि यदि यह आंदोलन स्थगित किए जाने के बजाए सरकार द्वारा कुचला जाता तो संभव है कि बाद के वर्षों में फैलने वाली साम्प्रदायिक कटुता और दंगों का विस्तार इस सीमा तक न हुआ होता।[3]

सन् बीस-इक्कीस के असहयोग-आंदोलन में महात्मा गांधी के आह्वान पर प्रेमचन्द ने अपनी बीस वर्ष पुरानी सरकारी नौकरी पर लात मार दी थी।[4] 'जमाना' सन् '२१ में प्रकाशित प्रेमचन्द की 'लाल फीता' नामक कहानी का नायक हरिविलास भी महात्मा गांधी के हुक्म से अपनी बीस वर्ष पुरानी सरकारी नौकरी से इस्तीफा देता है।[5] प्रेमचन्द के त्यागपत्र की कोई प्रतिलिपि तो हमें प्राप्त नहीं है, पर हरिविलास के त्यागपत्र से उसकी कल्पना अवश्य की जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि हरिविलास का त्यागपत्र स्वयं प्रेमचन्द का ही त्यागपत्र है।[6] प्रेमचन्द के जीवन की यह घटना प्रमाणित करता

---

१. India Today, P. 325
२. Ibid, P. 327 पर फुटनोट
३. An Autobiography, P. 87
४. "यह १९२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन जोरों पर था। जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजीमियां के मैदान में ऊँचा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था, कि मुझ-जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो-ही-चार दिन बाद मैंने अपनी २० साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।" ('जीवन-सार')
—कफन, पृ० ६९–७० (आठवां संस्करण)
५. प्रेम-चतुर्थी : प्रेमचन्द, पृ० ७९ (प्रथम संस्करण, १९५६)
६. "महाशय ! मेरा विश्वास है कि शासन संस्था ईश्वरी इच्छा का बाह्य स्वरूप है और उसके नियम भी ईश्वरीय नियमों की भांति दया, सत्य और न्याय पर अवलम्बित हैं। मैंने इसी विश्वास के अधीन २० वर्ष तक सरकार की सेवा की। जब कभी मेरे आत्मिक आदेश और सरकारी हुक्म में विरोध हुआ, मैंने यथासाध्य आत्मा का आदेश पालन किया। मैंने अपने को कभी प्रजा का स्वामी नहीं समझा, सदैव सेवक समझता रहा, इसलिए सरकारी पत्र नं०.........तारीख...... में जो आज्ञा दी गयी है वह मेरी आत्मा और धर्म के इतनी विरुद्ध है और उसमें न्याय की ऐसी हत्या की गयी है कि मैं उसका पालन करना घोर पाप समझता हूँ। मेरे विचार में वर्त्तमान शासन

है कि हिंदी और उर्दू के इस महान् साहित्यकार की कथनी और करनी में पूर्ण सामंजस्य था। प्रेमचन्द ने अपनी और भी अनेक कहानियों में सरकारी नौकरी की निन्दा की है और उसे दासता की जंजीर तथा स्वाधीनता के भावों का गला घोटने वाली बताया है। उदाहरण के लिए हम उनकी 'माँ' कहानी को ले सकते हैं।[1]

असहयोग के स्वर से मुखरित इस युग में ही 'प्रेमाश्रम' की रचना हुई थी। इसे हम युगजन्य प्रभाव ही कहेंगे कि सेवासदनकार की तुलना में प्रेमाश्रमकार के विचारों में सामाजिक यथार्थ की भावना अधिक प्रखर एवं सजग है। गांधी के असहयोग-आंदोलन की सबसे बड़ी देन यह थी कि उसने भारत की कोटि-कोटि जनता को अपने विदेशी शासकों के सम्मुख कमर सीधी करके खड़े होने का साहस और निर्भयता प्रदान की। 'प्रेमाश्रम' के किसानों में हम इसी साहस और निर्भयता का संचार देखते हैं।

सन् बाईस से सत्ताईस तक भारतीय राजनीति का इतिहास साम्प्रदायिकता के पिशाच के क्रूर ताण्डव का इतिहास है। राजनीतिक दृष्टि से यह समय निष्क्रियता और आत्ममंथन का काल था। लगभग आधी दशाब्दी तक भारत का राष्ट्रीय आंदोलन बारदोली की चोट से नहीं सँभल सका। मुस्लिम लीग फिर कांग्रेस से अलग हो गई। उधर हिन्दू महासभा की हलचलें भी बढ़ने लगीं।[2] इन्हीं दिनों राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना और हिन्दू महासभा का अखिल भारतीय स्तर पर संगठन किया गया।[3] असहयोग के दिनों स्थापित हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की श्लाघनीय भावना सन् '२२ में मुहर्रम के अवसर पर मुलतान के साम्प्रदायिक दंगों से भंग हो गई। '२३ के आरंभ में फिर पंजाब और बंगाल में भीषण दंगे हुए। '२४ में दिल्ली, लखनऊ, नागपुर, इलाहाबाद आदि स्थानों पर दंगे हुए, जिनके प्रायश्चितस्वरूप गांधीजी ने २१ दिन का उपवास किया। लेकिन इस उपवास के बावजूद '२५, '२६ और '२७ में पंजाब, बंगाल, बिहार, दिल्ली आदि प्रान्तों में निरन्तर दंगे होते रहे। साम्प्रदायिकता के इस आत्मघातक विष ने राष्ट्र-पुरुष का कितना अहित किया है—यह सहज ही अनुमेय है।

सत्पथ से सम्पूर्णतः विचलित हो गया है। यह आज्ञा प्रजा के जन्मसिद्ध स्वत्वों को छीनना और उनके राष्ट्रीय भावों का वध करना चाहती है। यह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि शासक-वृन्द प्रजा को अनन्त काल तक मूर्खता और अज्ञान में व्यस्त रखना चाहते हैं और उसकी जागृति से सशंक हैं। वह अपने उत्थान और सुधार के लिए जो प्रयत्न करना चाहती है उसे भी ताड़नीय समझते हैं, ऐसे दुष्कार्य में योग देना अपनी आत्मा, विवेक और जातीयता का खून करना है। अतएव अब मुझे इस राज-संस्था से असहयोग करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। मैं अपना पद-त्याग करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि मुझे बिना विलम्ब इस बन्धन से मुक्त किया जाय।"

—प्रेम-चतुर्थी, पृ० ६८

१. मानसरोवर, भाग १ पृ० ६० तथा ६४ (नवाँ संस्करण)
२. India Today, P. 329
३. Ibid, P. 433

इसी साम्प्रदायिक वैमनस्य और राजनीतिक निष्क्रियता के काल मे प्रेमचन्द के 'कर्बला' नाटक और 'कायाकल्प' उपन्यास का प्रणयन हुआ था। सन् '२३-'२४ मे लिखे गए 'कर्बला' नाटक का उद्देश्य स्वयं लेखक के ही अनुसार पारस्परिक एकता को बढाना है। २७ फरवरी '२४ के अपने पत्र मे प्रेमचन्द ने मुशी दयानारायण निगम को लिखा था : "आप यकीन रखें। मैंने एहतराम कहीं नजर-अंदाज नहीं होने दिया है। एक-एक लफ्ज पर इस बात का ख्याल रखा है कि मुसलमानों के मजहबी एहसासात (धार्मिक भावनाओं) को सदमा न पहुँचे। इसका मकसद पोलिटिकल है, बाहमी इत्त-हाद (परस्पर एकता) को बढ़ाना है और कुछ नहीं।"[1]

असहयोग-आंदोलन के दिनो मे जो मोपला-विद्रोह हुआ, उसका फायदा उठाकर मुसलमानों ने कुछ हिन्दुओ को मुसलमान बना लिया था। इसके प्रत्युत्तर मे आर्य समाज जैसी हिन्दू संस्थाओं ने जोर-शोर से शुद्धि-आंदोलन शुरू किया और स्वामी श्रद्धानन्द ने बड़ी धूमधाम से हजारों मलकानों की शुद्धि की। परिणामत साम्प्रदायिक कटुता मे और भी वृद्धि हुई।[2] जिस ढंग से शुद्धि-आंदोलन चलाया जा रहा था वह प्रेमचन्द को पसन्द नहीं था। इस संबंध मे उन्होने मुशी दयानारायण निगम को अपने एक पत्र मे लिखा था : "इधर मैंने उर्दू में लिखना बन्द-सा कर रखा है, फुरसत ही नही मिलती है, लेकिन मलकाना शुद्धि पर एक मुख्तसर-सा मजमून लिख रहा हूं। मुझे इस तहरीक (आदोलन) से सख्त इख्तलाफ़ है। तीन-चार दिन मे भेजूंगा। आर्य समाज वाले भन्नायेंगे। लेकिन मुझे उम्मीद है कि आप इस मजमून को 'जमाना' मे जगह देंगे।"[3] 'जमाना' मे प्रेमचन्द का यह लेख प्रकाशित हुआ और उसके छपते ही स्वय सपादक 'जमाना' के शब्दो मे "देश में आग-सी लग गई, मुसलमानों ने उनके स्वच्छन्द विचारों की प्रशंसा की और आर्य समाजियों मे तहलका पड़ गया।"[4] प्रेमचन्द शुद्धि और तबलीग को अनावश्यक और निरर्थक ही नही हानिप्रद भी मानते थे, क्योकि इससे दोनो जातियों में पारस्परिक द्वेष, अविश्वास, संदेह तथा कटुता की भावनाएँ पैदा होती और बढ़ती है। 'हिंसा परमो धर्मः' नामक अपनी कहानी मे उन्होने इसी तथ्य को एक करारे व्यग्य के माध्यम से व्यक्त किया है।[5] इसी विषय पर अपनी एक दूसरी कहानी 'मन्त्र' मे वे दिखाते है कि शुद्धि-आंदोलन केवल एक पाखण्ड है, धोखा है। इससे पडित लीलाधर चौबे जैसो की आर्थिक अवस्था भले ही सुधर जाए, पर देश और धर्म को—जिनके नाम पर यह सब किया जाता है—

---

१. प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० २३
२. राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० ५५
३. प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० २६
४. वही, पृ० २६
५. मानसरोवर, भाग ५ पृ० ८२–९१

इससे कोई लाभ नहीं हो सकता।[१] सन् '२६ में प्रकाशित प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' उपन्यास का मुख्य विषय भी हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या ही है।

भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करने के हेतु सुझाव प्रस्तुत करने के लिए ८ नवम्बर '२७ को साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गई। कांग्रेस ने कमीशन का पूर्ण बहिष्कार करने का निश्चय किया।[२] कमीशन जहाँ भी गया, वहाँ उसका काले झंडों और 'साइमन वापस जाओ' के नारों से स्वागत किया गया। कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन करने वालों पर लाहौर में लाठीचार्ज किया गया। इस प्रदर्शन का नेतृत्व लाला लाजपतराय कर रहे थे। इस लाठीचार्ज में लालाजी को घातक चोटें लगीं और उनका देहान्त हो गया। सन् '२८ की कलकत्ता कांग्रेस ने इसे **'सोच-समझकर और उत्तेजना के किसी कारण के बिना किया गया हमला'** बताया और उसके विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव पास किया।[३] कुछ समय बाद क्रांतिकारियों ने सहायक पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट सान्डर्स, जो कि आम तौर पर लाला लाजपतराय का हत्यारा माना जाता था, की हत्या कर दी। ८ अप्रैल को भगतसिंह और उनके साथी दत्त ने लेजिस्लेटिव असेम्बली में बम फेंका। सर जॉन साइमन का भारत में यह अन्तिम बड़ा अनुभव था।

अपने बयालीसवें अधिवेशन (१६२७, मदरास) में कांग्रेस ने गांधीजी के विरोध के बावजूद 'पूर्ण स्वाधीनता' का प्रस्ताव पास किया और अपने आप को साम्राज्यवाद विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय लीग के साथ सम्बद्ध करने का निश्चय किया।[४]

सन् '२८ की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटनाओं में बारदोली के किसानों के सफल अहिंसात्मक सत्याग्रह और देश में युवक-आंदोलन के प्रादुर्भाव का उल्लेख आवश्यक है।[५]

२० मार्च '२६ को पुलिस ने उत्तर प्रदेश, पंजाब, बंबई आदि प्रान्तों में सैकड़ों घरों की सामूहिक तलाशी ली। भारत में मजदूर-आंदोलन के प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार करके मेरठ लाया गया, जहाँ उन पर साम्यवाद के प्रचार के अभियोग में मुकदमा चलाया गया। सन् '३०-'३१ के आस-पास लिखे गए 'गबन' में प्रेमचन्द ने भारतीय पुलिस की धाँधलियों और हथकंडों का नग्न चित्रण किया है। बहुत संभव है 'गबन' का उत्तरार्द्ध लिखते समय अन्य घटनाओं के अतिरिक्त मेरठ षडयन्त्र केस में पुलिस का रोल भी प्रेमचन्द की दृष्टि में रहा हो। राजनीतिक कैदियों के साथ सरकार के अमानवीय व्यवहार के विरुद्ध सन् '२६ में ही यतीन्द्रनाथ दास, फूंगी विजया, भगतसिंह, दत्त आदि क्रांतिकारियों ने जेल में अनेक अनशन किए। यतीन्द्रनाथ दास और फूंगी विजया क्रमशः ६४ और १६४ दिन

---

१. मानसरोवर, भाग ५ पृ० ४१-४२
२. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड १ पृ० २५५
३. कांग्रेस के प्रस्ताव : सं० कन्हैयालाल, पृ० ४८५
४. Social Background of Indian Nationalism, P. 317
५. राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० ६७

के अनशन के पश्चात् वीरगति को प्राप्त हुए।[1] आतंकवाद की विरोधी अहिंसक कांग्रेस ने भी इन शहीदों की मृत्यु पर लाहौर अधिवेशन (१९२९) में शोक-प्रस्ताव पास किया और घोषित किया कि 'इस कांग्रेस की राय में इन लोगों के आत्मघात के लिये भारतवर्ष की विदेशी सरकार जिम्मेदार है।'[2] लॉर्ड इरविन की ट्रेन पर बम फेंकने के लिए लाहौर कांग्रेस ने क्रांतिकारियों की निन्दा की और घोषित किया कि इस प्रकार के काम न केवल कांग्रेस के उद्देश्य के प्रतिकूल हैं, बल्कि उनसे राष्ट्रीय हित की भी हानि होती है।[3]

प्रेमचन्द आतंकवादियों द्वारा की जाने वाली राजनीतिक हत्याओं और छुट-पुट हमलों के विरुद्ध थे। दिसम्बर '३१ के 'हंस' में उन्होंने लिखा था "दो-चार कर्मचारियों की हत्या करके वह चाहे अपने को विजयी समझ लें, लेकिन यथार्थ में उनके हाथों राष्ट्र का जो अहित हो रहा है, उसका अनुमान करना कठिन है। यह न तो बहादुरी है, और न ईमानदारी, कि तुम तो आग लगाकर दूर खड़े हो जाओ और घर दूसरों का जले।"[4]

आतंकवादियों की 'बहादुरी और ईमानदारी' के संबंध में प्रेमचन्द की धारणा को लेकर दो मत हो सकते हैं, लेकिन इन पंक्तियों का मूल्यांकन हमें उनके पूर्वापर संदर्भ में ही करना चाहिए। इस तथ्य से कोई भी इंकार नहीं कर सकता कि आतंकवाद साधारणतः क्रांति की पूर्वावस्था का सूचक होता है और केवल उसके माध्यम से ही विदेशी साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्ति नहीं पाई जा सकती। सच तो यह है कि आतंकवाद किसी भी बड़ी क्रांति का वाहक नहीं बन सकता। 'हंस' में उक्त विवादास्पद पंक्तियाँ लिखने से पूर्व प्रेमचन्द अपने 'रंगभूमि' उपन्यास में एक आतंकवादी चरित्र—वीरपालसिंह—की सृष्टि कर चुके थे। और, इसमें सन्देह नहीं कि सिद्धान्ततः आतंकवाद के विरोधी होते हुए भी उन्होंने वीरपालसिंह का चरित्रांकन सहानुभूतिपूर्ण तूलिका से किया है। इसी प्रकार जेल-सुधार के प्रश्न पर विचार करते हुए 'हंस' के प्रथम अंक में प्रेमचन्द ने यतीन्द्रनाथ दास के प्राणोत्सर्ग का प्रशंसात्मक शब्दों में उल्लेख किया है।[5]

छब्बीस जनवरी सन् तीस के दिन देश भर में स्वराज्य-दिवस मनाया गया। लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस का ध्येय 'वैधानिक उपायों द्वारा औपनिवेशिक स्वराज्य' से बदलकर 'शांतिपूर्ण और उचित उपायों से पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति' स्वीकार किया जा चुका था। १२ मार्च को गांधीजी अपने ७९ साथियों सहित डांडी कूच पर निकले और ६ अप्रैल को विधिवत् नमक-कानून भंग किया। ५ मई को गांधीजी गिरफ्तार कर लिए

---

१. Social Background of Indian Nationalism, P. 320
२. कांग्रेस के प्रस्ताव, पृ० ४६६
३. वहीं, पृ० ४६६
४. हंस : दिसम्बर १९३१, पृ० ६६
५. साहित्य का उद्देश्य, पृ० २८६

गए। उनकी गिरफ्तारी के विरोध में जगह-जगह आम हड़तालें और प्रदर्शन हुए। शोला-पुर नगर एक सप्ताह तक मजदूरों के अधिकार में रहा।[1] पेशावर भी दस दिन तक जनता के अधिकार में रहा। गढ़वाली हिन्दू सैनिकों ने वहाँ मुसलमान प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया।[2] समझौते की बातचीत चलाने योग्य वातावरण उत्पन्न करने के लिए एक वर्ष के भीषण संघर्ष के बाद २६ जनवरी '३१ को गांधीजी और उनके २६ साथी जेल से रिहा कर दिए गए। मार्च में महात्मा गांधी और वाइसराय में एक सम-झौता हुआ, जिसके अनुसार सविनय अवज्ञा-आंदोलन स्थगित कर दिया गया और कांग्रेस ने गांधी को अपने एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए लंदन भेजना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार एक बार फिर राष्ट्रीय आंदोलन को अपने चरमोत्कर्ष के समय रहस्यात्मक ढंग से स्थगित कर दिया गया।[3] देश के मजदूर और नवयुवक वर्ग ने बारदोली की 'ट्रेजेडी' की इस पुनरावृत्ति का तीव्र विरोध किया। लंदन के लिए रवाना होते समय गांधीजी के विरुद्ध बंबई के मजदूरों ने जोरदार प्रदर्शन किया।[4] इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि गांधी-इर्विन समझौते के द्वारा राष्ट्र को कोई ठोस लाभ नहीं हुआ। यहाँ तक कि नमक-कर कानून—जिसके नाम पर इतना बड़ा आंदोलन शुरू किया गया था—भी यथावत् वर्त्तमान रहा।

सविनय अवज्ञा-आंदोलन से प्रेमचन्द को बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। उनके प्रिय मासिक पत्र 'हंस' का प्रथम अंक इस आंदोलन के दौरान में ही (मार्च '३०) निकला था। 'हंस' के प्रथम संपादकीय में इस आंदोलन का अभिनन्दन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था : "'हंस' के लिये यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नए युग का आगमन हो रहा है, जब भारत परा-धीनता की बेड़ियों से निकलने के लिये तड़पने लगा है। × × × इस महान् विजय की यादगार हम क्या और कैसे बनावेंगे, यह तो भविष्य की बात है; ....हम भी उस नए देवता की पूजा करने के लिये, उस विजय की यादगार क़ायम करने के लिये, अपना मिट्टी का दीपक लेकर खड़े होते हैं। × × × इसी भाँति इस संग्राम में भी एक दिन हम विजयी होंगे। वह दिन देर में आयेगा या जल्द, यह हमारे पराक्रम, बुद्धि और साहस पर मुनहस्सर है। हाँ, हमारा यह धर्म है कि उस दिन को जल्द-से-जल्द लाने के लिये तपस्या करते रहें। यही 'हंस' का ध्येय होगा, और इसी ध्येय के अनुकूल उसकी नीति होगी।"[5] इस ध्येय की सिद्धि के लिए ही प्रेमचन्द का 'हंस' जन्मा, जीवित

---

१. India Today, P. 344
२. Ibid, P. 342-43
३. Ibid, P. 348
४. Ibid, P. 350
५. हंस : मार्च १९३०, पृ० ६३

रहा और बार-बार नौकरशाही का कोप-भाजन बनकर भी मैदान में डटा रहा। अपने इसी संपादकीय में प्रेमचन्द ने साहसपूर्वक घोषित किया था कि 'हंस' का ध्येय 'आजादी के जंग में योग देना' है।[1] उक्त संपादकीय लिखने के तीन मास पश्चात् ही बनारसीदास चतुर्वेदी को अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने लिखा : "मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। ×× हां, यह जरूर चाहता हूं कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूं, पर उनका उद्देश्य भी, स्वराज्य-विजय ही है। × × × मैं शान्ति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूं।"[2]

इस प्रकार प्रेमचन्द अपने अखबार, अपने साहित्य और स्वयं अपने जीवन का एक ही उद्देश्य, एक ही मक़सद घोषित करते हैं—आजादी के जंग में योग देना, स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना और स्वराज्य-विजय। यद्यपि अपने जीवन-काल में प्रेमचन्द इस लक्ष्य को पूरा होते नहीं देख सके थे, लेकिन वे इस संबंध में पूर्णतः निर्भ्रान्त थे कि एक-न-एक दिन विजय हमारी ही होगी।[3]

मुंशी दयानारायण निगम प्रेमचन्द के एक पत्र का उल्लेख करते हैं जिसमें प्रेमचन्द ने बड़े जोश के साथ इस आरोप का उत्तर दिया था कि महात्मा गान्धी का नमक-सत्याग्रह असामयिक है।[4] नमक-आंदोलन के समय प्रेमचन्द लखनऊ में थे। रुग्णावस्था और पत्नी की अनिच्छा के बावजूद वे इस आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहते थे। आंदोलन में भाग लेने वाले स्वयसेवकों को वे अपने हाथ से कुरते और टोपियाँ पहनाकर नमक-कानून भंग करने भेजते थे।[5] मुंशी दयानारायण निगम के नाम प्रेमचन्द के ७ जून '३० के पत्र से स्पष्ट हो जाता है कि इस आंदोलन मे जेल जाने के लिए वे पूरी तरह तैयार

---

१. "......इस समय देश में उससे कहीं विकट संग्राम छिड़ा हुआ है। भारत ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है। हंस भी मानसरोवर की शान्ति छोड़कर, अपनी नन्ही-सी चोंच में चुटकी-भर मिट्टी लिये हुए, समुद्र पाटने—आजादी के जंग में योग देने—चला है। ×××समुद्र पटने के पहले ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जायगी, या वह अन्त तक मैदान में डटा रहेगा, यह तो कोई ज्योतिषी ही जाने; पर हमें ऐसा विश्वास है, कि हंस की लगन इतनी कच्ची न होगी।"
—हंस : मार्च १९३०, पृ० ६३

२. प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० ४१

३. हंस : मार्च १९३०, पृ० ६३

४. "जिस तरह मौत हमेशा कबल अज़वक्त (असामयिक) होती है, साहूकार का तकाज़ा हमेशा क़बल अज़वक्त होता है, उसी तरह ऐसे सारे काम जिनमें हमें माली या वक्ती नुक्सान का अंदेशा हो कबल अज़वक्त मालूम होते हैं। इस तहरीक की कबूलियत (जनप्रियता) ही बता रही है कि वह कबल अज़वक्त नहीं है।"
—प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० २८

५. प्रेमचन्द : घर में, पृ० १२६

थे।[1] लेकिन उनकी पत्नी ने प्रेमचन्द की इस इच्छा को पूरा नहीं होने दिया।[2]

इस आंदोलन को कुचलने के लिए सरकार ने जिस निर्ममता से काम लिया उससे प्रेमचन्द अत्यन्त विक्षुब्ध थे। मुंशी दयानारायण निगम को उन्होंने लिखा था : "गवर्नमेंट की ज्यादतियाँ नाकाबले बर्दाश्त (असह्य) हो रही हैं।"[3] पशुबल की सहायता से देश की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को इस प्रकार कुचलते देखकर मई '३० के 'हंस' में उन्होंने स्वेच्छाचारी ब्रिटिश साम्राज्य को चेतावनी दी थी कि "संगीन से तुम चाहे जो काम ले लो, पर उस पर बैठ नहीं सकते।"[4] 'हंस' के अगले ही अंक में "डंडा" शीर्षक से प्रेमचन्द ने एक व्यंग्यात्मक संपादकीय टिप्पणी लिखी जिसमें वे भारत में ब्रिटिश राज्य को 'डंडा राज्य' का सटीक नाम देते हैं।[5]

प्रेमचन्द की 'समर-यात्रा', 'जुलूस', 'शराब की दूकान', 'मैंकू', 'अनुभव', 'आहुति', 'होली का उपहार', 'जेल', 'पत्नी से पति' आदि कहानियों में सविनय अवज्ञा-आंदोलन की गूंज अत्यन्त स्पष्ट है। 'समर-यात्रा' संग्रह की लगभग सभी रचनाएँ इसी काल में लिखा गई थीं। स्वभावतः उन पर इस आंदोलन के विभिन्न अंगों का बहुत स्पष्ट प्रभाव है।

गोलमेज परिषद् पूर्णतया असफल रही और महात्मा गांधी खाली हाथ स्वदेश लौटे। प्रेमचन्द जानते थे कि इस तरह की परिषदों से भारत को स्वाधीनता मिलने वाली

---

१. "यहाँ की हालत तो आपको मालूम ही है। शहर फ़ौजी कैम्प बना हुआ है। बिल्कुल बेजरूरत ....एक बात और अर्ज करूँ। अगर कहीं गिरफ्तार हो जाऊँ या डंडे पड़ जाएँ और रूह कालिबे-उंसरी से (पंचभूत के शरीर से आत्मा) परवाज कर जाए तो मेरे पसमादगान (पीछे रहने वालों) की थोड़ी देखभाल करते रहिएगा। × × × आज मुहर्रम का दिन है। देखें खैरियत से गुजरती है या कल मार्शल लॉ जारी होता है।"

—प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० २६

२. "मैं बोली—'मैं डरती थी कि आप मुझे रोक देंगे और खुद जायँगे। इसको धोखा भी कहा जा सकता है और पाप भी हो सकता है। मगर मैं मजबूर थी, मेरे दिल के अन्दर एक प्रकार की बेचैनी रहती थी कि आखिर मेरे घर से जेल कौन जाए, और जाना चाहिए ही था। बच्चे इस काबिल होते तो मैं पहले उनको ही भेजती। आपकी भी तो तन्दरुस्ती अच्छी न थी कि आप जायँ।"

—प्रेमचन्द : घर में, पृ० १३१

३. प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० २६

४. हंस : मई १९३०, पृ० ६६

५. "——मजदूरों की सभा मजदूरी बढ़ाने का आन्दोलन करती है—दो डंडा! किसानों की फसल मारी गई, वह लगान देने में असमर्थ हैं, कोई मुआवजा नहीं,—दो डंडा! × × × कोई जरा भी सिर उठावे, जरा भी चूँ करे—दो डंडा! वह युवक कपड़े की दुकान पर खड़ा है, खरीददारों से कह रहा है—विलायती कपड़े न खरीदो—दो डंडा! × × × वह देखना, एक स्वयंसेवक शराब-ताड़ी की दुकान पर जा पहुँचा। नशेबाजों को समझा रहा है—दो डंडा! × × × इन सिर-फिरों की यही दवा है।........" आदि।

—हंस : जून १९३०, पृ० ६०

नहीं। वे जानते थे कि इस तरह की "**कमेटियों और तहक़ीक़ातों से असली बात को टालते रहना राजनीति की पुरानी चाल है और वह इस वक़्त भी चली जा रही है।**"[1] कहना न होगा कि इस परिषद् का आयोजन ही इस उद्देश्य से किया गया था कि स्वराज्य की माँग को बातचीत और कानूनी दाँव-पेच की भूलभुलैयाँ में भटकाकर गुमराह किया जा सके। गांधी-इर्विन समझौते के द्वारा जो समय और अवसर मिला, नौकरशाही ने उसका फायदा उठाकर अपनी तैयारियाँ पूरी कर ली। विभिन्न प्रान्तों में संकटकालीन आर्डिनेन्स जारी कर दिए गए। गांधीजी अत्यन्त तनावपूर्ण वातावरण में हिन्दुस्तान लौटे और उसके दसवें दिन ४ जनवरी '३२ को सरकार ने पूरी तैयारी के साथ जवाबी हमला किया। गांधीजी और दूसरे प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया, कांग्रेस और उसके अन्य सहायक संगठनों को गैरकानूनी करार दे दिया गया, उसके अखबारों पर पाबन्दी लगा दी गई।[2] पहल कांग्रेस के हाथ से निकलकर सरकार के हाथ में चली गई।

आधुनिक भारत के इतिहास में सन् '३२ के सितम्बर मास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दलित जातियों को पृथक् मताधिकार दिए जाने के विरोध में यरवदा जेल से गांधीजी ने आमरण अनशन की घोषणा की। यह ऐतिहासिक अनशन २० सितम्बर को आरम्भ हुआ। तेजबहादुर सप्रू, राजाजी और अम्बेडकर आदि नेताओं के प्रयत्नों से दलित जातियों से समझौता होने पर अनशन समाप्त हुआ। यह समझौता 'यरवदा करार' के नाम से जाना जाता है। वस्तुपरक दृष्टि से देखा जाए तो मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के अनशनों या समझौतों से दलित जातियों का प्रश्न हल नहीं हो सकता। अस्पृश्यता का कारण सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में खोजा जाना चाहिए। पर इसमें सन्देह नहीं कि गांधीजी का यह उपवास एक सार्वजनिक बुराई के प्रति नाटकीय ढंग से देश का ध्यान आकर्षित करने में अवश्य सफल हो सका था।

सन् '३२ में प्रकाशित प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' उपन्यास की पृष्ठभूमि युक्तप्रान्त का लगानबन्दी-आंदोलन और अछूतोद्धार की समस्या है।

महात्मा गांधी ने आत्मशुद्धि के लिए ८ मई '३३ को इक्कीस दिन का उपवास करने की घोषणा की। सरकार ने उन्हें उसी दिन जेल से रिहा कर दिया। रिहाई का दुरुपयोग न हो—इस डर से महात्मा ने सविनय अवज्ञा-आंदोलन को ६ सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया। देश के प्रतिष्ठित नेताओं ने गांधीजी के इस निर्णय की तीव्र आलोचना की। वियना से प्रकाशित एक वक्तव्य में विट्ठलभाई पटेल और सुभाषचन्द्र बोस ने घोषणा की कि "**सविनय अवज्ञा-आंदोलन को स्थगित किए जाने की श्री गांधी की ताजा कार्यवाही असफलता की स्वीकारोक्ति है......हमारा यह स्पष्ट मत है कि राजनीतिक नेता के रूप में गांधीजी असफल हो चुके हैं। (अतः) समय आ गया है कि कांग्रेस का नवीन**

१. हंस : दिसम्बर १९३१, पृ० ६५
२. India Today, P. 351

सिद्धान्त के आधार पर नए तरीकों से पुनर्गठन किया जाए; जिसके लिए नया नेतृत्व अत्यावश्यक है।"[1]

यों तो १६२० से ही भारत में वामपक्षीय विचारधारा का थोड़ा-बहुत प्रचार होने लगा था और लोग साम्यवाद के नाम से परिचित होने लगे थे, पर एक विशिष्ट आंदोलन (Movement) के रूप में यह विचारधारा १६२६–२७ से बल प्राप्त करने लगी थी। १६२४ में बंबई से श्रीपाद अमृत डाँगे के संपादकत्व में एक साम्यवादी पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। १६२६ में बंगाल में पहली मजदूर-कृषक पार्टी स्थापित हुई। बंबई, युक्तप्रान्त और पंजाब में भी शीघ्र ही मजदूर-कृषक पार्टियाँ स्थापित की गईं। १६२८ में इन पार्टियों का अखिल भारतीय स्तर पर संगठन किया गया।[2] १६२७ में बंबई के मजदूरों ने हिन्दुस्तान में पहली बार मई दिवस मनाया।[3] १६३३–३४ तक जनता में कांग्रेस की नीति और नेतृत्व के विरुद्ध एक तीव्र असन्तोष की भावना उत्पन्न हो गई थी। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित कांग्रेस के कुछ वामपक्षीय नवयुवकों ने १६३४ में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। यह वस्तुतः कांग्रेस की ही एक शाखा थी, क्योंकि इसकी सदस्यता के लिए कांग्रेस का सदस्य होना आवश्यक रखा गया था।[4] जुलाई १६३४ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

सन् छत्तीस और सैंतीस के लिए जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस समय तक विश्व पर द्वितीय महायुद्ध के बादल मँडराने लगे थे।

देश की विचारधारा में हो रहे इन क्रांतिकारी परिवर्तनों से स्वभावतः प्रेमचन्द अछूते नहीं रह सके। हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद आंदोलन के प्रेमचन्द जन्मदाता थे। प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन (लखनऊ, १६३५) की अध्यक्षता प्रेमचन्द ने ही की थी। दिसम्बर १६३५ में प्रेमचन्द से अपनी पहली मुलाकात का संस्मरण लिखते हुए मुहम्मद आक़िल ने लिखा है : "इस जमाने में ग़ालिबन् वह तरक़्क़ी-पसन्द मुसन्निफों की अंजुमन के सदर बन चुके थे और मजहब के बारे में उनके खयालात और भी आजाद-पसन्द हो गये थे। कहने लगे कि मैंने सज्जाद जहीर और उनके साथियों से कहा कि भाई, हम बुड्ढे हो गये, लेकिन दिल उन सब बातों को करना चाहता है जो तुम लोग कहते हो, इसलिए हम भी अपनी नाव तुम्हारे तूफ़ानी समुन्दर में डालते हैं। अब यह जिधर भी जाय, हमें इसकी फ़िक्र नहीं।"[5] मृत्यु से दो माह पूर्व लिखे गए प्रेमचन्द के

---

१. India Today, P. 353 फुटनोट
२. Ibid, P. 383
३. Ibid, P. 384
४. Ibid, P. 394
५. प्रेमचन्द स्मृति, पृ० १७१–७२

'महाजनी सभ्यता' नामक लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके विश्वासों और मान्यताओं में एक बहुत बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन आ रहा था।

आर्थिक परिस्थितियाँ—

भारत में ब्रिटिश शासन का इतिहास आद्यंत आर्थिक शोषण की क्रूर एवं हृदय-द्रावक करुण-कथा है। दो शताब्दियों के अपने शासन-काल में अंग्रेजों ने भारत को एक ऐसी गरीबी और तबाही दी है जिसकी तुलना संसार के किसी मुल्क से नहीं की जा सकती। एम० एल० डार्लिंग के शब्दों में 'भारत के विषय में सबसे अधिक विस्मयकारी तथ्य यह है कि उसकी जमीन अमीर है लेकिन उसकी जनता गरीब है।'[1]

अंग्रेज अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कुटिल व्यापारी-राजनीतिज्ञ थे। हिन्दुस्तान को साम्राज्य के जूए से बाँधे रखने में उनका हित मुख्यत: आर्थिक था। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि भारत की लूट के बल पर ही आधुनिक इंग्लैण्ड का निर्माण हुआ है।[2] हिन्दुस्तान लंकाशायर और मानचेस्टर के बड़े-बड़े कारखानों के लिए कच्चा माल और उससे तैयार माल के लिए एक विस्तृत तथा सुलभ बाजार प्रदान करता था। भारत के नेताओं ने इस तथ्य को बहुत पहले ही हृदयङ्गम कर लिया था।[3] यही कारण है कि राष्ट्रीय आंदोलन के शुरू से ही स्वदेशी पर इतना बल दिया जाता रहा है। यद्यपि उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक सभी खनिज पदार्थ और प्राकृतिक साधन यहाँ अतुलित परिमाण में उपलब्ध थे, लेकिन विदेशी शासकों ने हिन्दुस्तान को एक कृषि-प्रधान देश बनाए रखने की साम्राज्यवादी नीति को क्रियान्वित करने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी। इसी साम्राज्यवादी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने भारत के परंपरागत कपड़ा-उद्योग तथा दूसरे ग्रामीण उद्योग-धन्धों और कला-कौशल को सदा के लिए पंगु बनाने का सफल प्रयत्न किया। कांग्रेस के बीसवें अधिवेशन में एक प्रस्ताव पर बोलते हुए श्री करन्दीकर ने मि० आर्थर बालफोर के एक भाषण के कुछ अंश उद्धृत किए थे, जिनसे पता चलता है कि आयरलैण्ड में भी अंग्रेजों ने घरेलू उद्योग-धन्धों को नष्ट करने या पंगु बनाने की सुपरिचित साम्राज्यवादी नीति अपनाई थी।[4]

संभवत: कुछ लोगों को यह जानकर आश्चर्य हो कि आरम्भ में ईस्ट इंडिया कंपनी हिन्दुस्तान से इंग्लैण्ड कपड़ा भेजती थी और अंग्रेज व्यापारी उस पर ३०० प्रतिशत तक मुनाफा कमाते थे। शायद यह जानकर भी हमें ताज्जुब हो कि १७०० ई० में इंग्लैण्ड में एक ऐसा कानून पास किया गया था, जिसके अनुसार भारतीय रेशमी वस्त्र पहनने वाले प्रत्येक

---

१. India Today, P. 21 पर उद्धृत
२. Ibid, P. 104
३. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड १ पृ० ३८
४. वही, खण्ड १ पृ० ३७

अंग्रेज पर ५ पौण्ड का जुर्माना किया जाता था।[१] तब तक वाष्प-शक्ति का आविष्कार नहीं हुआ था। १७८३ में वाष्प-इंजिन का आविष्कार हुआ और १८०३ में पहली बार भारत में ३ लाख रुपये के मूल्य का कपड़ा मँगाया गया। १८२९ में यह राशि बढ़कर २९ लाख और १९२९ में ६६ करोड़ हो गई।[२] इस प्रकार कार्ल मार्क्स के शब्दों में इंग्लैण्ड ने 'कपड़े की मातृभूमि को अपने कपड़ों से पाट दिया।'[३] इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व भारत इंग्लैण्ड ही नहीं यूरोप और एशिया के दूसरे मुल्कों को भी सूती तथा रेशमी कपड़े का निर्यात करता था। लेकिन जब हिन्दुस्तान की लूट के बल पर इंग्लैण्ड एक कृषि-प्रधान देश से उद्योग-प्रधान देश बनने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि निर्यात करने वाले भारत को आयात करने वाला देश बना दिया जाए। फलतः ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अब तक प्रयुक्त भारत के शोषण के तरीकों में रद्दोबदल करना जरूरी हो गया।

अंग्रेजों ने भारत में दोहरी शोषण-पद्धति अपनाई—एक ओर परंपरागत उद्योगों का विनाश और दूसरी ओर सरकारी मशीनरी के बढ़ते हुए खर्च को पूरा करने के लिए नित नवीन करों की वृद्धि! इस दोहरे शोषण के फलस्वरूप पैदा होने वाली हिन्दुस्तान की कंगाली का एक रूप उन अकालों और प्लेग आदि महामारियों के प्रकोप में देखा जा सकता है जिनका शिकार वह १९वीं शताब्दी में हुआ।[४]

अंग्रेजों की इस दोहन-नीति का सर्वाधिक शिकार हिन्दुस्तानी किसान हुआ। अंग्रेजों ने यहाँ भी इंग्लैण्ड के ढंग की जमींदारी व्यवस्था लागू करने का सफल प्रयास किया। जमींदार यहाँ पहले भी थे, पर वे जमीन के स्वामी नहीं थे; उनका काम मालगुजारी वसूल करना मात्र था। अंग्रेजों ने उन्हें जमीन का स्थायी स्वामी बनाकर किसानों को बेदखल करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार किसान अब जमींदार का किराएदार मात्र रह गया। दूसरी ओर जमीन को रेहन रखने और बेचने की अंग्रेजी पूंजीवादी

---

१. गांधी और गांधीवाद, भाग २ पृ० ४६–४७

२. वही, भाग २ पृ० ४७

३. भारत संबंधी लेख, पृ० ३२

४. "The truth is, the poverty of India is something we can have little conception of, unless we have actually seen it, as alas, I have. ×××× The extreme destitution of the people is principally responsible for the devastation of plague. ×××× The real cause of famines in India is not lack of rain; it is not over-population, it is the extreme, the abject, the awful poverty of the people." (डॉ० सण्डरलैण्ड)

—भारतवर्ष और उसका स्वातन्त्र्य-संग्राम : सुखसम्पत्तिराय भण्डारी, पृ० २१३–१४

कानून-व्यवस्था भी यहाँ लागू कर दी गई।[1] इस तरह अब एक ओर जमींदार को तथा दूसरी ओर साहूकार को किसान की जमीन पर घात लगाने का मौका मिल गया। इस व्यवस्था को लागू करने में अंग्रेजों का लक्ष्य भारत में एक ऐसे वर्ग का निर्माण था, जिसके हित साम्राज्य के हितों के साथ अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध हों और जो समय आने पर साम्राज्य का मुख्य रक्षा-स्तम्भ बन सके।[2] पुलिस और अदालत रूपी बैसाखियों के सहारे चलने वाले इस वर्ग ने अपने आक़ाओं की इस आशा को राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में अक्षरशः पूरा कर दिखाया था—इसमें सन्देह नहीं।

प्रेमचन्द ने जिस वैज्ञानिक यथार्थवादी सूक्ष्मता से साम्राज्य की इस चाल को पहचाना और उसका चित्रण किया है, वह आज भी हिंदी के लेखकों में दुर्लभ है। उदाहरण के लिए सन् '२३ में प्रकाशित उनके 'संग्राम' नाटक को लिया जा सकता है।[3]

---

१. India Today, P. 214
२. Ibid, P. 217-18
३. "सुपरिण्टेण्डेण्ट—हम तुम्हारा रियासत छीन लेगा। हम तुमको रियासत दिया है, तब तुम इतना बड़ा आदमी बना है और मोटर में बैठा घूमता है। तुम हमारा बनाया हुआ है। हम तुमको अपने काम के लिए रियासत दिया है और तुम सरकार से दुश्मनी करता है।××× यह रियासत तुमको किसने दिया?

"सबल—(सरोष होकर) मुगल बादशाहों ने। हमारे खानदान में पच्चीस पुश्तों से यह रियासत चली आती है।

"सुपरि०—झूठ बोलता है। मुगल लोग जिसको चाहता था जागीर देता था, जिससे नाराज हो जाता था उससे जागीर छीन लेता था। जागीरदार मौरूसी नहीं होता था। ××× हम तुमको असामियों से लगान वसूल करने के लिए कमीसन देता है और तुम हमारा जड़ खोदना चाहता है। गांव में पंचायत बनाता है, लोगों को ताड़ी-शराब पीने से रोकता है, हमारा रसद-बेगार बंद करता है।"

× × ×

"सबल—××× जमींदारों की बदौलत सरकार का राज कायम है। जब-जब सरकार पर कोई संकट पड़ा है जमींदारों ने ही उसकी मदद की है। अगर आपका खयाल है कि जमींदारों को मिटाकर आप राज्य कर सकते हैं तो भूल है। आपकी हस्ती जमींदारों पर निर्भर है।

"सुपरि०—हमने अभी किसानों के हमले से तुमको बचाया, नहीं तो तुम्हारा निशान भी न रहता।"

× × ×

"सुपरि०—हम तुमसे चाहता है कि जब रैयत के दिल में बदखाही पैदा हो तो तुम हमारा मदद करे। सरकार से पहले वही लोग बदखाही करेगा जिसके पास कुछ जायदाद नहीं है, जिसका सरकार से कोई कनेकशन नहीं है। हम ऐसे आदमियों का तोड़ करने के लिए ऐसे लोगों को मजबूत करना चाहता है जो जायदाद वाला है और जिसका हस्ती सरकार पर है। हम तुमसे रैयत को दबाने का काम लेना चाहता है।"

—संग्राम, पृ० १४५ से १४७ (प्रथम संस्करण, १९५६)

किसान एक ओर जमींदार और उसके कारिन्दों के अत्याचारों का शिकार था तो दूसरी ओर महाजनों और पुलिस अधिकारियों के शोषण का ! उस पर लगान का बोझा इस कदर बढ़ गया था कि फसल का बहुतांश उसी में चला जाता था। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में किसानों के इस चौमुखी शोषण का बहुत ही मार्मिक और यथार्थ वर्णन किया है।[1] प्रेमचन्द भारतीय किसान की इस दुर्दशा से अच्छी तरह परिचित थे। अपने आरम्भिक उपन्यास 'वरदान' से लेकर अंतिम पूर्ण उपन्यास 'गोदान' तक प्रेमचन्द अनेक पंजों वाले इस क्रूर शोषण-रूपी दानव (Octopus) के चंगुल में पिस रहे किसान को नहीं भूल सके थे। सच तो यह है कि यही उनके साहित्य का सर्वप्रमुख 'थीम' रहा है और इसे ही हम उनके साहित्य की धुरी कह सकते हैं। उपन्यास तथा कहानियों के अतिरिक्त 'हंस' की संपादकीय टिप्पणियों और लेखों द्वारा भी प्रेमचन्द ने किसानों के इस चतुर्मुखी शोषण के विरुद्ध अपने आक्रोश को व्यक्त किया है।[2] प्रेमचन्द के इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि वे किसानों के प्रति कांग्रेसी नेताओं की कृत्रिम सहानुभूति के रहस्य से अच्छी तरह परिचित थे। प्रेमचन्द के किसान दीन-हीन, निरीह और बेज़बान किसान नहीं हैं। वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हैं और उन्हें प्राप्त

---

१. "I listened to their innumerable tales of sorrow, their crushing and ever-growing burden of rent, illegal exactions, ejectments from land and mud hut, beatings; surrounded on all sides by vultures who preyed on them—Zamindar's agents, money-lenders, police; toiling all day to find that what they produced was not theirs and their reward was kicks and curses and a hungry stomach."

—An Autobiography, P. 52

२. "......अँगरेजी राज्य में गरीबों, मजदूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है, और होती जाती है, उतनी समाज के और किसी अंग की नहीं। X X X लेकिन यह सब कुछ होने भी सरकार के हाथों किसी सम्प्रदाय की इतनी बरबादी नहीं हुई है, जितनी किसानों और मजदूरों की—खासकर किसानों की। X X X किसानों की हालत रोज़-बरोज़ खराब होती जा रही है। उन पर लगान बढ़ता जाता है—सख्तियाँ बढ़ती जाती हैं। कौंसिलों में उनके हितों का कोई रक्षक नहीं। X X X कांग्रेस के मेम्बर या और लोग भी कभी-कभी न्याय और नीति के नाते भले ही किसानों की वकालत करें; लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुःखों और वेदनाओं की उन्हें वह असर नहीं हो सकती, जो एक किसान को हो सकती है; X X X सब छोटे-बड़े उसी को नोचते हैं, सब उसी का रक्त और मांस खा-खाकर मोटे होते हैं; X X X अगर उन्हें संगठित करने की कोशिश की जाती है, तो सरकार, जमींदार, सरकारी मुलाज़िम और महाजन सभी भन्ना उठते हैं। चारों ओर से हाय-हाय मच जाती है। बालशेविज़्म का हौवा बताकर उस आन्दोलन को जड़ से खोदकर फेंक दिया जाता है......।"

('स्वराज्य से किसका अहित होगा ?' : प्रेमचन्द)

—हंस : अप्रैल १९३०, पृ० ७

करने के लिए संघर्षरत भी। यही प्रेमचन्द के किसान-चित्रण की विशेषता है और यही प्रेमचन्द की महत्ता !

कृषि और उद्योग-धन्धों के संतुलन को नष्ट करके देश को मुख्यतः कृषि-प्रधान बनाए रखने की साम्राज्यवादी नीति के कारण खेती पर अत्यधिक दबाव बढ़ने लगा। सन् १८६१ में खेती पर निर्भर लोगों की संख्या ६६.१ प्रतिशत थी जो १६०१ में ६१.५ प्रतिशत, १६११ में ७२.२ प्रतिशत, १६२१ में ७३.० प्रतिशत और १६३१ में ७५.० प्रतिशत हो गई।[1] दूसरी ओर १६११ से १६३१ के मध्य विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या २० लाख घट गई। १६११ मे उद्योगों पर निर्भर लोगों की संख्या ५.५ प्रतिशत थी, जो १६२१ में ४.६ प्रतिशत, १६३१ में ४.३ प्रतिशत और १६४१ में ४.२ प्रतिशत रह गई।[2] खेती पर इस अप्रत्याशित दबाव का परिणाम यह हुआ कि किसानों की आय घटने लगी और फलतः उन पर ऋण का बोझ बढ़ने लगा।[3] किसान इस तरह क्रमशः साहूकार के चंगुल में फँसता चला जाता है और एक दिन ऐसा आता है जब काश्तकार 'होरी' को खेत-मजदूर बनने और बटाई पर 'दातादीन' के खेत जोतने पर विवश होना पड़ता है। इससे भी आगे बढ़कर उसे सड़क कूटने वाला मजदूर बनना पड़ता है। धीरे-धीरे भारतीय किसान अपनी जमीन से बेदखल किया जाकर भूमिहीन खेत-मजदूर बनने पर मजबूर हो रहा था। १८४२ के जनगणना अधिकारी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि भारत में भूमिहीन किसान बिल्कुल नहीं हैं। लेकिन चालीस वर्ष के बाद १८८२ में लगभग ७५ लाख भूमिहीन किसान आँके गए थे। १६२१ में यह संख्या २१० लाख और १६३१ में ३३० लाख तक पहुँच गई।[4]

भारतीय किसान की गरीबी का कुछ अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि १६३१ में उसकी औसत वार्षिक आय लगभग ४२ रुपये थी।[5]

हिन्दुस्तानी अर्थ-व्यवस्था को सामन्तवादी ढर्रे पर ही चलाने के लिए साम्राज्यवाद के अथक प्रयत्नों के बावजूद यहां पर बड़ी तेजी से पूंजीवाद का उदय और विकास हो रहा था। फलतः जमींदारों, जागीरदारों, ताल्लुकेदारों आदि को अपना अस्तित्व

१. India Today, P. 191-92

२. Ibid, P. 192

३. "जैसे-जैसे किसानों की कठिनाइयां बढ़ती हैं, वैसे-वैसे वह अधिकाधिक ऋण के बोझ के नीचे दबता चला जाता है और इससे उसकी कठिनाइयां और भी बढ़ जाती हैं। यह एक ऐसा कुटिल भँवर है जिसमे निकलने या बचने का कोई मार्ग नहीं, कोई उपाय नहीं। अन्त में किसान की जमीन छिन जाती है।" (अंग्रेजी से अनुदित)

—India Today, P. 230

४. India Today, P. 224

५. Ibid, P. 33

बनाए रखने और बढ़ते हुए आर्थिक संकट का सामना करने के लिए नगरों के मिल-मालिकों और बैंकरों से सहयोग करना आवश्यक हो गया। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में प्रेमचन्द ने इसी परिस्थिति का चित्रण किया है। स्वभावतः पुराने ढंग के सामन्ती-जमींदार (प्रभाशंकर) के स्थान पर एक नए ढंग के पूंजीपति-जमींदार (ज्ञान-शंकर) का उदय हुआ।[1] 'प्रेमाश्रम' इसी परिवर्तन की कहानी है।

सन् १९०५ में पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को अपने प्रथम बड़े आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप विश्व के अधिकांश राष्ट्र बेकारी के अभिशाप से ग्रसित होने लगे। आगे चलकर यही आर्थिक संकट सन् '१४ के महायुद्ध में परिणत हुआ। युद्ध के कारण भारत में आर्थिक वैषम्य और अधिक उभरकर सामने आने लगा। युद्धकाल में अर्जित पूंजी को बढ़ाने के लिए उच्चवर्ग ने नए-नए साधन खोजने आरंभ किए।[2] फलतः देश में नए कल-कारखाने स्थापित होने लगे और देहात से भूमिहीन किसान मजदूर बनकर नगरों में आने लगे। कल-कारखानों की बढ़ती के कारण नगरों में वर्ग-चेतना से सम्पन्न एक नवीन और उद्धत वर्ग—मजदूर वर्ग—शक्ति प्राप्त करने लगा। दूसरे वर्गों में भी आर्थिक विषमताजन्य अशांति के चिन्ह प्रकट होने लगे, जिसका एक रूप जमींदारों के विरुद्ध किसानों के संघर्ष में देखा जा सकता है। सन् १९१८-२० में बंबई की सूती कपड़ा मिलों में होने वाली हड़तालें इसी अशांति की सूचक थीं।

---

१. "Many of the old traditional Zemindar families who carried on the old methods of showing some consideration and relaxation for the peasants in times of difficulty, broke down under the burden and were at once ruthlessly sold out, ××× A new type of sharks and rapacious business men came forward to take over the estates, who were ready to stick at nothing to extract the last anna from the peasantry in order to pay their quota and fill their own pockets."

—India Today, P. 216

२. "The end of the World War found India in a state of suppressed excitement. Industrialisation had spread and the capitalist class had grown in wealth and power. This handful at the top had prospered and were gready for more power and opportunity to invest their savings and add to their wealth. The great majority, however, were not so fortunate and looked forward to a lightening of the burdens that crushed them."

—An Autobiography : Jawaharlal Nehru, P. 40

विश्वव्यापी मंदी के कारण अनाज की कीमतें गिरने और बेकारी बढ़ने से १९२९ में एक बार फिर एक महान् आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ। अनाज की कीमतों में अपेक्षाकृत अधिक गिरावट आने के कारण इस आर्थिक मंदी का सबसे अधिक दुष्प्रभाव कृषक-वर्ग पर पड़ा। संयुक्तप्रान्त, आंध्र, गुजरात, कर्नाटक और दूसरे प्रांतों में इस समय अनेक किसान-आंदोलन—कांग्रेस द्वारा अधिकृत तथा अनधिकृत दोनों ही प्रकार के—हुए।[1] प्रेमचन्द का 'कर्मभूमि' उपन्यास इसी आर्थिक मंदी की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है।[2] अपनी कहानियों में भी प्रेमचन्द ने इस आर्थिक मंदी से उत्पन्न भयंकर स्थिति पर विचार किया है। उदाहरण के लिए उनकी 'जेल' कहानी को लिया जा सकता है।[3] आर्थिक प्रश्नों से अपने आपको साधारणतः दूर रखने वाली कांग्रेस भी इस आर्थिक मंदी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। यही कारण है कि उसके मंच से १९३० में पहली बार जन-साधारण के दैनंदिन जीवन से संबंधित आर्थिक प्रश्नों की चर्चा सुनाई देती है। परिस्थितियों के दबाव के कारण उसे सरकार से माँग करनी पड़ी कि किसानों का लगान कम-से-कम ५० प्रतिशत कम कर दिया जाए।[4]

मजदूर वर्ग भी इस व्यापक जन-जागृति के संक्रामक प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। मजदूर वर्ग की हालत भी दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। अपनी दशा सुधारने के लिए स्वभावत: वह बड़ी-बड़ी हड़तालें करता दृष्टिगत होता है। श्री नेहरू के अनुसार १९२८ और १९२९ मजदूरों के झगड़ों और हड़तालों तथा औद्योगिक अशांति के वर्ष थे।[5] हिन्दुस्तानी मजदूर १९२७ से ही आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों में सक्रिय भाग लेने लगा था और एक राजनीतिक शक्ति के रूप में क्रमशः उसका महत्त्व स्वीकार किया जाने लगा था।[6] हम देख चुके हैं कि १९२७ में बंबई के कामगरों ने हिन्दुस्तान में पहली बार मई दिवस मनाया था। कुछ ही समय में मजदूर-आंदोलन ने इतनी शक्ति

---

१. "The world agrarian and general economic crisis which occurred in 1929 hit the Indian peasantry hard. They were in a state of ferment. Sections of them participated in demonstrations and meetings organised by the Congress. There were peasant movements in the U. P., Andhra, Gujarat, Karnatak, and other parts of the country, both authorised by the Congress and unauthorised."

—Social Background of Indian Nationalism, P. 167

२. कर्मभूमि, पृ० २९१–९२

३. समर-यात्रा, पृ० १०–११ (छठवाँ संस्करण, १९५८)

४. राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० १३८

५. An Autobiography, P. 187–88

६. Social Background of Indian Nationalism, P. 186

प्राप्त कर ली थी कि जनवरी '२६ में वाइसराय लॉर्ड इर्विन को असेम्बली में स्वीकार करना पड़ा : 'साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार चिन्ता उत्पन्न कर रहा है।'[1] प्रेमचन्द ने मजदूर-आंदोलन को यदा-कदा ही अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। अक्टूबर-नवम्बर १६३२ के 'हंस' में प्रकाशित उनकी 'डामुल का कैदी' कहानी मजदूर-आंदोलन को लेकर चलती है, किन्तु प्रेमचन्द उसे सही दिशा नहीं दे पाते। मजदूर-आंदोलन से शुरू होकर कहानी जल्दी ही गांधीवादी हृदय-परिवर्तन और भगवद्भक्ति की भूल-भुलैयां में खो जाती है।

प्रेमचन्द-युग, संक्षेप में कहना हो तो सामन्तवाद के पूंजीवाद में बदलने का युग है। इस परिवर्तन के कारण स्वभावतः भारतीय समाज में कई नवीन सामाजिक-आर्थिक वर्गों का विकास हुआ। इन नव विकसित वर्गों में सबसे प्रमुख मध्यवर्ग है। आर्थिक हितों की दृष्टि से निम्नवर्ग से सम्बद्ध होते हुए भी मध्यवर्ग अपने जीवनादर्शों के लिए उच्च-वर्ग का मुखापेक्षी होता है। यह वर्ग प्रकृत्या अतीत-प्रेमी, परंपरा-प्रेमी, समझौता-पसन्द, ढुलमुलयकीन और घोर व्यक्तिवादी होता है। स्वयं प्रेमचन्द का जन्म एक निम्न मध्य-वर्गीय कायस्थ परिवार में हुआ था। अतः वे इस वर्ग की दुर्बलताओं, विडम्बनाओं और कुरीतियों से भली भांति परिचित थे। स्यात् यही कारण है कि प्रेमचन्द किसान पात्रों के पश्चात् इसी वर्ग के चरित्रांकन में सर्वाधिक सफल हुए हैं। 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन' आदि उपन्यासों और 'मांगे की घड़ी', 'आभूषण' आदि अनेकानेक कहानियों में इसी वर्ग की समस्याओं को उठाया गया है। 'बड़े घर की बेटी', 'अलग्योझा', 'पंच परमेश्वर', 'यही मेरी मातृभूमि है' इत्यादि कहानियों में प्रेमचन्द का परंपरा-प्रेम स्पष्ट झलकता है। 'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल' आदि उनके अतीत-प्रेम की प्रत्यायक हैं। मध्य-वर्गीय समझौतावादी मनोवृत्ति भी प्रेमचन्द के साहित्य में प्रचुरता से देखी जा सकती है। प्रेमशंकर ('प्रेमाश्रम') से लेकर अमरकांत ('कर्मभूमि') तक उनके सभी तथाकथित आदर्श चरित्र मध्यवर्गीय और समझौताप्रिय हैं। इसे प्रेमचन्द की अपनी वर्गगत दुर्बलता माना जाए या उनके युग की कमजोरी—बात एक ही है। हालांकि प्रेमचन्द इस समझौतावाद को किसी-न-किसी रूप में अंतिम समय तक अपनाए रहे, लेकिन उनका वैशिष्ट्य इस बात में है कि अपनी इस कमजोरी के बावजूद उन्होंने कभी सामाजिक यथार्थ से समझौता नहीं किया।

प्रेमचन्द-युग की आर्थिक परिस्थितियों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द का साहित्य अपने युग की राजनीतिक ही नहीं आर्थिक हलचलों और संघर्षों का भी एक जीता-जागता दर्पण है, जीवन्त इतिहास है।

सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियाँ—

इसे हम भारत की मिट्टी की विशेषता कहेंगे कि यहां प्राचीन काल से लेकर आधु-

---

१. *India Today*, P. 385

निक युग तक जो भी सामाजिक आंदोलन अथवा समाज-सुधार कार्य हुआ है, वह मुख्यत: धार्मिक आंदोलनों के माध्यम से अथवा धार्मिक प्रचारकों और संतों की प्रेरणा से हुआ है। संभवत: इसका कारण यह है कि यहाँ पर धर्म और सामाजिक ढाँचा परस्पर गुथा हुआ है, अन्योन्याश्रित है। सामाजिक प्रथाएँ यहाँ धार्मिक स्वीकृति (Religious sanction) के कारण ही मानी जाती रही हैं। प्राचीन काल में महावीर, गौतम, कबीर, नानक, दादू आदि संतों द्वारा और आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्त्तित धार्मिक-सामाजिक आंदोलन हमारी इस धारणा के पक्ष में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अत: हम प्रेमचन्द-युग की सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन एक साथ करेंगे।

सामाजिक-धार्मिक (Socio-religious) जागृति की दृष्टि से भी प्रेमचन्द का युग उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना राजनीतिक क्रांति और सामाजिक उथल-पुथल की दृष्टि से। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का आरम्भ वस्तुत विभिन्न सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों के माध्यम से ही हुआ था। शताब्दियों की राजनीतिक दासता के कारण— जो क्रमश: मानसिक जड़ता और बौद्धिक निष्क्रियता में परिणत होती जा रही थी— भारत विभिन्न सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक अंधविश्वासों के जाल में फँसकर अपना लक्ष्य एवं मार्ग खो बैठा था। नवीन विचारो को ग्रहण करने तथा समय की आवश्यकताओं के अनुसार अपने सामाजिक जीवन को ढालने का वह सद्साहस, जिसके अभाव में कोई भी जाति या राष्ट्र अपने अस्तित्व को कायम नही रख सकता, भारतीय समाज—विशेपत. हिन्दू समाज—से पूर्णत: विलुप्त हो गया था। उसमे अब वह ग्रहणशीलता (Receptivity) नही रही जो कभी भारतीयों की अपनी विशेपता थी।

हिन्दुस्तानी समाज के दो अंग सामाजिक अन्याय के सर्वाधिक शिकार रहे हैं— स्त्रियाँ और अछूत।

शताब्दियों के अन्याय, अत्याचार और अशिक्षा के कारण भारतीय नारी चारो ओर से उपेक्षित, तिरस्कृत और अभिशप्त जीवन व्यतीत करने पर विवश हो गई थी। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, बहु विवाह, दहेज, पर्दा, सती, विधवा आदि समस्याओं और कुरीतियो ने उसके व्यक्तित्व-विकास के सभी मार्गों को अवरुद्ध किया हुआ था। समाज में स्त्री की सिर्फ जिन्सी उपयोगिता रह गई थी। घर की चहारदीवारी में बंद उसके जीवन का केवल एक ही उद्देश्य रह गया था—पुरुप के लिए बच्चे पैदा करना और उनकी देखभाल करना ! उसका न पिता के परिवार मे कोई हक था और न पति के परिवार मे। इस प्रकार सामाजिक-व्यवस्था ने स्त्री को समाज का एक उपयोगी अंग बनने के अपने जायज अधिकार से वंचित किया हुआ था।

उधर छुआछूत और जाति-पांति का घातक विप राष्ट्र को सतत् ह्रासोन्मुख बना रहा था। दूसरी ओर मूर्त्तिपूजा, बहुदेववाद, पशुबलि, भूत-प्रेतादि की मान्यता तथा श्राद्ध आदि धार्मिक अंधविश्वास देश की प्रगति में रास्ते के रोड़े बने हुए थे। तीसरी ओर

मादक पदार्थों का सेवन और अशिक्षा के क्षयी कीटाणु उसे पतन के गहन गर्त्त की ओर खींच रहे थे।

इन विभिन्न प्रकार के सामाजिक अन्यायों और धार्मिक संकीर्णताओं से जर्जरित हिन्दू समाज एक लम्बे अर्से से सामाजिक-धार्मिक सुधार की आवश्यकता अनुभव कर रहा था। ऐसे समय आधुनिक भारत में सामाजिक जागृति के अग्रदूत और धार्मिक क्रांति के प्रथम नायक राजा राममोहनराय का आविर्भाव हुआ। प्रेमचन्द के जन्म से ठीक १०८ वर्ष पूर्व सन् १७७२ में राजा राममोहनराय का जन्म हुआ था।[1] भारतीय समाज में एक सर्वाङ्गीण सामाजिक क्रांति ही उनकी अभीष्ट थी। अपने इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए राजा राममोहनराय ने सबसे पहले भारतवासियों के संकीर्ण आचार-विचारों में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की। इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए उन्होंने १८२८ में ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज ने जाति-प्रथा को अप्रजातंत्रीय, अमानवीय तथा अराष्ट्रीय मानकर उसके विरुद्ध एक प्रवल आंदोलन का सूत्रपात किया।[2] भारतीय स्त्री के उद्धार के लिए जितना काम अकेले राजा राममोहनराय ने किया, उतना संभवतः आधुनिक युग में किसी भी अन्य समाज-सुधारक ने नहीं किया होगा। वे विधवा-विवाह और स्त्री के समानाधिकारों के प्रवल समर्थक थे। सती-प्रथा जैसी जघन्य एवं अमानवीय प्रथा को समाप्त कराने का उन्होंने ही बीड़ा उठाया था। इसके इलावा वे वहुदेववाद, मूर्त्ति-पूजा, पशुवलि आदि के भी कट्टर विरोधी थे।

अपनी धार्मिक मान्यताओं में मूलतः उपनिषदों से प्रेरित होते हुए भी ब्रह्म समाज वहुत-कुछ पश्चिम के विचारों तथा ईसाई धर्म से प्रभावित था। राजा राममोहनराय के वाद केशवचन्द्र सेन के समय में यह प्रभाव और भी वढ़ गया था।

वंगाल में राजा राममोहनराय ने जो कार्य आरंभ किया वह शीघ्र ही समस्त देश में फैल गया। १८६७ में महादेव गोविन्द रानाडे ने वंवई में प्रार्थना समाज की स्थापना की।[3] १८८४ में रानाडे की अध्यक्षता में भारतीय सामाजिक कांफ्रेंस (Indian Social Conference) की स्थापना हुई जो आगामी पचास वर्षों तक भारतीय समाज-सुधारकों की प्रमुख केन्द्रीय संस्था रही।[4]

यों तो उपर्युक्त सभी आंदोलन मूलतः भारतीय एवं राष्ट्रीय थे, लेकिन उनका कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत वहुत सीमित था। ये आंदोलन कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रहे, आम जनता तक नहीं पहुँच सके। इसके विपरीत उत्तर-पश्चिमी भारत में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्त्तित आर्य समाज के आंदोलन ने पूरे हिन्दू समाज को प्रभावित

१. A Century of Social Reform in India : S. Natarajan, P. 24 (1959)
२. Social Background of Indian Nationalism, P. 253
३. Ibid, P. 255
४. A Century of Social Reform in India, P. 11

करने का प्रयास किया। अपने समय की एक प्रगतिशील संस्था होते हुए भी आर्य समाज सही अर्थों में राष्ट्रीय संस्था नहीं बन सकी, केवल एक हिन्दू संस्था बन कर रह गई। प्रेमचन्द के जन्म से पूरे ५ वर्ष पूर्व सन् १८७५ में बंबई में आर्य समाज का जन्म हुआ, यद्यपि अंतिम रूप से उसके स्वरूप, सिद्धान्त और विधान का निर्धारण दो वर्ष पश्चात् लाहौर में हुआ।[१] यह उल्लेखनीय है कि इसी वर्ष (सन् १८७५) सर सैयद अहमद खाँ के प्रयत्नों से अलीगढ़ में मुस्लिम एंग्लो-ओरियन्टल कालेज (Muslim Anglo-Oriental College) की स्थापना हुई थी।[२] आर्य समाज में आरंभ से ही राष्ट्र-भक्ति—राष्ट्र का अर्थ इस संदर्भ में हिन्दू राष्ट्र ही है—की उत्कट भावना और भारत की पुराचीन वैदिक सभ्यता के प्रति प्रबल आग्रह था। यद्यपि आर्य समाज ने हिन्दू धर्म एवं समाज में प्रचलित अनेक अंधविश्वासों, कुरीतियों, संकीर्णताओं और पूजा की अर्थहीन प्रणालियों का डटकर विरोध किया; पर वेदों को सभी विद्याओं, कलाओं तथा समस्त ज्ञान—अतीत, वर्त्तमान और भविष्य—का भाण्डार मानने के कारण उसका दृष्टिकोण मूलतः पुनरुत्थानवादी, संकीर्ण एवं रूढ़िवादी ही बना रहा। जाति-प्रथा और ऊँच-नीच की भावना का तीव्र विरोधी होकर भी आर्य समाज ने वेद प्रतिपादित चार वर्णों को यथावत् कायम रखने का प्रयास किया। पुरुष और नारी की समानता का हामी होते हुए भी उसने सह-शिक्षा का घोर विरोध किया। आर्य समाज की संभवतः सबसे बड़ी देन यह है कि उसने हिन्दू धर्म को ब्राह्मणों के चंगुल से छुटकारा दिलाया। विधवा-विवाह को लोकप्रिय बनाने तथा विधवाओं की दयनीय अवस्था में सुधार करने की दिशा में भी उसने बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह की निन्दनीय प्रथाओं के विरुद्ध प्रबल लोकमत उत्पन्न करके उसने हिन्दू-विवाह को एक स्वस्थ एवं बुद्धि-सम्मत (Rational) आधार प्रदान करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। आधुनिक भारत के निर्माण में आर्य समाज के इस प्रगतिशील रोल के प्रेमचन्द बहुत बड़े प्रशंसक थे।[३] उनके 'प्रतिज्ञा' आदि उपन्यासों में आर्य समाज के विभिन्न समाज-सुधार

---

१. The Arya Samaj : Lajpat Rai, P. 57 and 63 (Lahore, 1932)

२. A Century of Social Reform in India : S. Natarajan, P. 80

३. "मैं तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूँ उतनी तहजीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूं। × × कौमी जिन्दगी की समस्याओं को हल करने में उसने जिस दूरंदेशी का सबूत दिया है, उस पर हम गर्व कर सकते हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया। लड़कियों की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति-भेद-भाव और खान-पान के छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्मसमाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा, पर वह थोड़े से अंग्रेजी पढ़े-लिखों तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्यसमाज ने ही उठाया। अन्ध-विश्वास और धर्म के नाम पर किये जाने वाले हजारों अनाचारों की कब्र उसने खोदी, हालांकि मुर्दे को

आंदोलनों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। सन् १९०५ में प्रेमचन्द ने स्वयं एक बाल-विधवा से पुनर्विवाह किया था।

नारी जागरण-आंदोलन की प्रगति के साथ ब्रह्म समाज, आर्य समाज जैसी धार्मिक-सामाजिक संस्थाओं के इलावा कुछ व्यक्तिगत समाज-सुधारकों के नाम भी जुड़े हुए हैं। इनमें श्री धोंदों केशव कर्वे का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सच तो यह है कि महर्षि कर्वे अपने आप में एक संस्था हैं, केवल व्यक्ति नहीं। १८९३ में ही उन्होंने एक विधवा ब्राह्मणी से विवाह करने का साहस किया था। उसी वर्ष उन्होंने विधवा-पुनर्विवाह संघ का सभापतित्व किया। १८९६ में श्री कर्वे के प्रयत्नों से पूना में एक विधवा-सदन की स्थापना हुई।[1] १९०६ से १९१२ तक देश के विभिन्न भागों में अनेक विधवा-सदनों की स्थापना हुई।[2] १९०८ में बंबई में श्रीमती रमाबाई रानाडे की प्रधानता में एक सेवासदन की स्थापना की गई।[3] १९०६ में बंबई सरकार ने स्त्रियों को देवताओं के समर्पित किए जाने में सहायता करने वाले पुजारियों के लिए दंड की व्यवस्था की। १९०९ में मैसूर सरकार ने मंदिरों में नृत्य बंद करवा दिए। १९१६ में श्री कर्वे ने 'भारतीय स्त्री विश्वविद्यालय' (Indian Women's University) की स्थापना की, जो निश्चय ही स्त्री-शिक्षा के प्रचार और प्रसार की दिशा में बहुत ठोस कदम था।[4]

'भारत में समाज-सुधार की एक शताब्दी' (A Century of Social Reform in India) के लेखक एस० नटराजन् अपनी पुस्तक में दहेज की बलिवेदी पर बलिदान होने वाली एक चौदह वर्षीय लड़की स्नेहलता का उल्लेख करते हैं। यह दुर्घटना १९१४ में हुई थी। इस घटना ने नाटकीय ढंग से देश के समस्त समाज-सुधारकों का ध्यान दहेज-प्रथा की ओर आकर्षित कर दिया।[5]

प्रेमचन्द के आरंभिक कृतित्व—'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन' आदि उपन्यास और 'सप्त-सरोज', 'नवनिधि' आदि कहानी-संग्रह—का अध्ययन तथा मूल्यांकन विभिन्न समाज-सुधार आंदोलनों के परिपार्श्व में ही किया जाना चाहिए। हिंदी के जो आलोचक प्रेमचन्द के 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' आदि उपन्यासों के आश्रमपरक अन्त की आलोचना करते नहीं थकते, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि वह युग ही वस्तुतः आश्रमों

उसमें दफन न कर सका और अभी तक उसका जहरीला दुर्गन्ध उड़-उड़कर समाज को दूषित कर रहा है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्यसमाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी संस्था ने उठाया हो।"

—साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचन्द, पृ० १८६-८७

१. A Century of Social Reform in India, P. 96-97
२. Ibid, P. 123-24
३. Ibid, P. 122
४. Social Background of Indian Nationalism, P. 244
५. A Century of Social Reform in India, P. 132

का युग था। इस समय देश में एक प्रकार से आश्रमों की बाढ़-सी आई हुई थी। इस युग के सभी समाज-सुधारक प्रत्येक सामाजिक समस्या का हल किसी-न-किसी 'आश्रम', 'सदन' या 'गृह' में खोजते थे।

इस युग की धार्मिक जागृति के लिए उत्तरदायी महापुरुषों में हम राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द का उल्लेख कर चुके हैं, किन्तु इस दिशा में स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के योगदान को भी नहीं भुलाया जा सकता। स्वामी रामकृष्ण ने सर्व धर्मो की एकता का प्रचार किया। रामकृष्ण मिशन इन्हीं संतों के महान् आदर्शों का प्रतीक है।

हालाँकि कांग्रेस भी कभी-कभी अपने मंच से समाज-सुधार-विषयक प्रस्ताव पास कर दिया करती थी, लेकिन भारत के राष्ट्रीय रंगमंच पर गांधीजी के आगमन से पूर्व साधारणतः सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन भिन्न-भिन्न मार्गों पर ही चल रहे थे। गांधी ने आकर देश के राजनीतिक नेताओं और समाज-सुधारकों को बताया कि राजनीतिक और सामाजिक कार्यक्रमों के मध्य कोई व्यावर्तक रेखा नहीं खींची जा सकती। उन्होंने अपनी स्वाभाविक दूरदर्शिता से देख लिया था कि भारत सच्ची और स्थायी स्वाधीनता राजनीतिक आंदोलनों से अधिक समाज-सुधार के रास्ते ही प्राप्त कर सकता है।[1] इसीलिए महात्मा गांधी ने दलित जातियों का उद्धार, मादक द्रव्यों का निषेध, अस्पृश्यता-निवारण, स्त्रियों की उन्नति, प्रौढ़-शिक्षा आदि सामाजिक विषयों को अपने अट्ठारह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम में सम्मानित स्थान दिया है। महात्मा गांधी के अव्याहत प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में एक नवीन सामाजिक चेतना एवं जागृति का उदय हुआ। इस जागृति और चेतना की स्पष्टतम अभिव्यक्ति समाज के उपेक्षित-से-उपेक्षित अंगों द्वारा भी स्वाधिकारों के रक्षार्थ तथा अत्याचारों के विरुद्ध साहसपूर्वक उठ खड़े होने में देखी जा सकती है। भारतीय नारी को घर की सीमित चौहद्दी से निकालकर जीवन के विशाल प्रांगण में ले आने का श्रेय गांधी को ही है। श्री ए० आर० देसाई के शब्दों में **'समसामयिक भारतीय इतिहास की एक सर्वाधिक विस्मयकारी घटना भारतीय नारी का राजनीति में तीव्र गति से प्रवेश—विशेषतः १९१९ के बाद—है।'**[2] राष्ट्रीय आंदोलन के तूफानी दिनों को स्मरण करते हुए श्री नेहरू अपनी 'आत्मकथा' में लिखते हैं : **"उन दिनों कई अजीब घटनाएँ हुईं, पर निस्सन्देह सबसे अधिक आश्चर्यजनक**

---

१. "समाज-सुधार का मेरा कार्य राजनैतिक समुत्थान से घटकर या उसके अधीन नहीं। ××× इसलिए मैं यह स्वीकार करता हूँ कि समाज-सुधार और आत्मशुद्धि के ये कार्य मुझे विशुद्ध राजनैतिक कार्यों से सैकड़ों गुना अधिक प्यारे हैं।" ('यंग इंडिया' : ६ अगस्त १९२१)

—गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन : आचार्य जे० बी० कृपालानी, पृ० २९ पर उद्धृत (दूसरा संस्करण, १९५६)

२. Social Background of Indian Nationalism, P. 245

स्त्रियों का राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेना था। सार्वजनिक जीवन का आदी
हुए भी वे घरों के एकान्त को त्यागकर बड़ी संख्या में बाहर निकल आईं और
में कूद पड़ीं।"[१]

प्रेमचन्द की स्त्रियाँ भी पुरुषों के कंधे-से-कंधा मिलाकर संघर्ष-पथ पर अग्रस होती हैं; कहीं-कहीं तो वे पुरुषों से आगे बढ़कर उनका पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व भ करती हैं। सलोनी (कर्मभूमि), मुन्नी (कर्मभूमि), सुखदा (कर्मभूमि), जालप (गबन), नोहरी (समर-यात्रा), मृदुला (जेल), गोदावरी (पत्नी से पति), मिसेज़ सकसेना (शराब की दूकान), मिट्ठन बाई (जुलूस), रूपमणि (आहुति) आदि प्रेमचन्द के अनेक स्त्री-पात्रों में भारत का उभरता हुआ नारीत्व मूर्त्त हो उठा है। यह एक विशेष रूप से उल्लेख्य तथ्य है कि प्रेमचन्द के पुरुष-पात्रों की अपेक्षा उनके स्त्री-पात्रों में असन्तोष और संघर्ष की भावना अधिक प्रबुद्ध है। सुमित्रा से लेकर धनिया तक प्रेमचन्द के सभी नारी-पात्रों में एक अपूर्व सामाजिक साहस और राष्ट्रीय चेतना का क्रमिक विकास मिलता है।

प्रेमचन्द-युग की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का यह विवेचन कुछ अधिक विस्तृत हो गया है, पर हम समझते हैं कि उसके इस विस्तार को अनावश्यक या अनुचित नहीं कहा जा सकता। हमारा विश्वास है कि समसामयिक परिस्थितियों के उपर्युक्त अध्ययन की पृष्ठभूमि पर ही प्रेमचन्द-साहित्य का सही अध्ययन किया जा सकता है। प्रेमचन्द-साहित्य की अनेक गुत्थियों और उलझनों को सुलझाने के लिए यह अध्ययन सर्वथा आवश्यक है।

---

१. An Autobiography, P. 214-15

का युग था। इस समय देश में एक प्रकार से आश्रमों की बाढ़-सी आई हुई थी। उस युग के सभी समाज-सुधारक प्रत्येक सामाजिक समस्या का हल किसी-न-किसी 'आश्रम', 'सदन' या 'गृह' में खोजते थे।

इस युग की धार्मिक जागृति के लिए उत्तरदायी महापुरुषों में हम राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द का उल्लेख कर चुके हैं, किन्तु इस दिशा में स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के योगदान को भी नहीं भुलाया जा सकता। स्वामी रामकृष्ण ने सर्व धर्मों की एकता का प्रचार किया। रामकृष्ण मिशन उन्हीं सन्तों के महान् आदर्शों का प्रतीक है।

हालांकि कांग्रेस भी कभी-कभी अपने मंच से समाज-सुधार-विषयक प्रस्ताव पास कर दिया करती थी, लेकिन भारत के राष्ट्रीय रंगमंच पर गांधीजी के आगमन से पूर्व साधारणतः सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन भिन्न-भिन्न मार्गों पर ही चल रहे थे। गांधी ने आकर देश के राजनीतिक नेताओं और समाज-सुधारकों को बताया कि राजनीतिक और सामाजिक कार्यक्रमों के मध्य कोई व्यावर्तक रेखा नहीं खींची जा सकती। उन्होंने अपनी स्वाभाविक दूरदर्शिता से देख लिया था कि भारत सच्ची और स्थायी स्वाधीनता राजनीतिक आंदोलनों से अधिक समाज-सुधार के रास्ते ही प्राप्त कर सकता है।[1] इसीलिए महात्मा गांधी ने दलित जातियों का उद्धार, मादक द्रव्यों का निषेध, अस्पृश्यता-निवारण, स्त्रियों की उन्नति, प्रौढ़-शिक्षा आदि सामाजिक विषयों को अपने अट्ठारह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम में सम्मानित स्थान दिया है। महात्मा गांधी के अव्याहत प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में एक नवीन सामाजिक चेतना एवं जागृति का उदय हुआ। इस जागृति और चेतना की स्पष्टतम अभिव्यक्ति समाज के उपेक्षित-से-उपेक्षित अंगों द्वारा भी स्वाधिकारों के रक्षार्थ तथा अत्याचारों के विरुद्ध साहसपूर्वक उठ खड़े होने में देखी जा सकती है। भारतीय नारी को घर की सीमित चौहद्दी से निकालकर जीवन के विशाल प्रांगण में ले आने का श्रेय गांधी को ही है। श्री ए० आर० देसाई के शब्दों में 'समसामयिक भारतीय इतिहास की एक सर्वाधिक विस्मयकारी घटना भारतीय नारी का राजनीति में तीव्र गति से प्रवेश—विशेषतः १९१९ के बाद—है।'[2] राष्ट्रीय आंदोलन के तूफानी दिनों को स्मरण करते हुए श्री नेहरू अपनी 'आत्मकथा' में लिखते हैं : "उन दिनों कई अजीब घटनाएँ हुईं, पर निस्सन्देह सबसे अधिक आश्चर्यजनक

---

१. "समाज-सुधार का मेरा कार्य राजनैतिक अनुष्ठान से घटकर या उसके अधीन नहीं। ××× इसलिए मैं यह स्वीकार करता हूँ कि समाज-सुधार और आत्मशुद्धि के ये कार्य मुझे विशुद्ध राजनैतिक कार्यों से सैकड़ों गुना अधिक प्यारे हैं।" ('यंग इंडिया' : ६ अगस्त १९२१)
—गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन : आचार्य जे० बी० कृपालानी, पृ० २६ पर उद्धृत (दूसरा संस्करण, १९५३)

२. Social Background of Indian Nationalism, P. 245

स्त्रियों का राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेना था। सार्वजनिक जीवन का आदी न होते हुए भी वे घरों के एकान्त को त्यागकर बड़ी संख्या में बाहर निकल आईं और संघर्ष में कूद पड़ीं।"[1]

प्रेमचन्द की स्त्रियाँ भी पुरुषों के कंधे-से-कंधा मिलाकर संघर्ष-पथ पर अग्रसर होती हैं; कहीं-कहीं तो वे पुरुषों से आगे बढ़कर उनका पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व भी करती हैं। सलोनी (कर्मभूमि), मुन्नी (कर्मभूमि), सुखदा (कर्मभूमि), जालपा (गबन), नोहरी (समर-यात्रा), मृदुला (जेल), गोदावरी (पत्नी से पति), मिसेज़ सकसेना (शराब की दूकान), मिट्ठन बाई (जुलूस), रूपमणि (आहुति) आदि प्रेमचन्द के अनेक स्त्री-पात्रों में भारत का उभरता हुआ नारीत्व मूर्त्त हो उठा है। यह एक विशेष रूप से उल्लेख्य तथ्य है कि प्रेमचन्द के पुरुष-पात्रों की अपेक्षा उनके स्त्री-पात्रों में असन्तोष और संघर्ष की भावना अधिक प्रवुद्ध है। सुमित्रा से लेकर धनिया तक प्रेमचन्द के सभी नारी-पात्रों में एक अपूर्व सामाजिक साहस और राष्ट्रीय चेतना का क्रमिक विकास मिलता है।

प्रेमचन्द-युग की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का यह विवेचन कुछ अधिक विस्तृत हो गया है, पर हम समझते हैं कि उसके इस विस्तार को अनावश्यक या अनुचित नहीं कहा जा सकता। हमारा विश्वास है कि समसामयिक परिस्थितियों के उपर्युक्त अध्ययन की पृष्ठभूमि पर ही प्रेमचन्द-साहित्य का सही अध्ययन किया जा सकता है। प्रेमचन्द-साहित्य की अनेक गुत्थियों और उलझनों को सुलझाने के लिए यह अध्ययन सर्वथा आवश्यक है।

१. An Autobiography, P. 214-15

: ५ :

उपन्यासकार प्रेमचन्द और गांधीवाद

प्रेमचन्द का रचनाकाल इस शताब्दी के लगभग प्रथम चार चरणों में फैला हुआ है। यदि हमें एक शब्द में प्रेमचन्द के जीवन और उनके साहित्य का सार प्रस्तुत करना हो तो वह शब्द होगा : संघर्ष। यही कारण है कि श्री प्रयागराज मेहता के शब्दों में "उनके सभी पात्रों में संघर्ष की जितनी स्वस्थ भावना है उतनी भारत के किसी भी उपन्यासकार में नहीं मिलती।"[1] प्रेमचन्द की लेखनी ने मजदूर के फावड़े की तरह कभी विश्राम करना नहीं जाना। कठिन-से-कठिन संघर्ष और बड़े-से-बड़े लालच तथा प्रलोभन के सामने भी प्रेमचन्द की लेखनी ने झुकना नहीं जाना। उनकी लेखनी के सामने हमेशा एक ही जीवनादर्श रहता था : 'न दैन्यं न पलायनम्।' वे मानते थे कि लेखक का जीवन अनन्त साधना का जीवन होता है—ऐसी साधना जो अपने लिए नहीं, सबके लिए होती है; जो आत्मार्थ नहीं, परार्थ होती है।[2]

आगे के पृष्ठों में हम प्रेमचन्द के उपन्यासों का अध्ययन करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि उन पर गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव कहाँ और कितना है! यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हम अपने अध्ययन को प्रेमचन्द में गांधीवादी तत्त्वों के अन्वेषण तक ही सीमित नहीं रखेंगे, क्योंकि हमारा विश्वास है कि प्रेमचन्द पर गांधी-दर्शन के प्रभाव का सही और वस्तुपरक मूल्यांकन उनके साहित्य में प्राप्त प्रगतिशील तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के प्रकाशन-काल के संबंध में उनके आलोचकों में बहुत अधिक मतभेद है। उदाहरणार्थ 'प्रतिज्ञा' का प्रकाशन-काल आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी[3]

---

१. प्रेमचन्द के पात्र : सं० कोमल कोठारी, विजयदान देथा, पृ० २०२ (जोधपुर, १९५४)

२. "तुम गलती करती हो, रानी! लेखक के पास होता ही क्या है, जिसे वह अलग-अलग बांट दे। लेखक के पास तो उसकी तपस्या ही होती है, वही सबको वह दे सकता है। ××× लेखक तो अपनी तपस्या का कुछ भी अंश अपने लिए नहीं रख छोड़ता। और लोग जो तपस्या करते हैं वह तो अपने लिए। लेखक जो तपस्या करता है, उससे जनता का कल्याण होता है। वह अपने लिए कुछ भी नहीं करता।"

—प्रेमचन्द : घर में, पृ० २५२

३. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० १५६ (१९५६)

के अनुसार सन् १९०५–६, विद्यानिवास मिश्र[1] के अनुसार सन् १९०४ तथा हंसराज 'रहबर'[2] और डॉ० राजेश्वर गुरू[3] के अनुसार सन् १९०६ है। दूसरी ओर डॉ० रामरतन भटनागर के अनुसार अपने वर्त्तमान रूप में 'प्रतिज्ञा' का प्रकाशन सन् १९२९ में हुआ था।[4] श्रीमती गीतालाल के अनुसार भी 'प्रतिज्ञा' हिंदी में सर्वप्रथम १९२९ में ही पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। इससे पूर्व वह '२७–'२८ में 'चाँद' में धारावाहिक रूप से छपा था।[5] प्रेमचन्द के दूसरे उपन्यासों के संबंध में भी उनके आलोचकों में इसी प्रकार की गम्भीर भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं।[6]

यद्यपि किसी लेखक की कृति के रचना-काल और प्रकाशन-काल में भिन्नता का होना आवश्यक नहीं होता, किन्तु फिर भी अन्ततः दोनों में कुछ अन्तर तो होता ही है। और, यह स्पष्ट है कि किसी साहित्यकार के सम्यक् अध्ययन के हेतु उसकी रचनाओं के प्रकाशन-काल का इतना महत्त्व नहीं होता जितना कि उनके रचना-काल का। किसी भी साहित्यकार के विकास-क्रम को जाने बिना उसका सही और वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रेमचन्द के उपन्यासों का हमें अधिकांशतः प्रकाशन-काल ही प्राप्त है, उनके रचना-काल का तो विभिन्न स्रोतों और साक्ष्यों के आधार पर अनुमान ही किया जा सकता है। नवीनतम शोध के आधार पर प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रकाशन-काल इस प्रकार है[7] :—

	उपन्यास का नाम	प्रकाशन-काल
१	वरदान	.........[8]
२	सेवासदन	१९१८ ई०

---

१. निर्मला, भूमिका पृ० १८ (ग्यारहवा संस्करण, १९५५)
२. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २१६, (१९५१)
३. प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १६६ (१९५८)
४. कलाकार प्रेमचन्द, पृ० १४१ (१९५१)
५. साहित्य : जनवरी १९६०, 'प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-संबंधी तिथियों में भ्रान्तियाँ' शीर्षक लेख, पृ० ४४
६. साहित्य : जनवरी १९६०, पृ० ३६ से ४५
७. प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रकाशन-काल देते हुए 'साहित्य' (जनवरी, १९६०) में प्रकाशित प्रो० श्रीमती गीतालाल के लेख से विशेष सहायता ली गई है, जिसके लिए इन पंक्तियों का लेखक आभारी है। श्रीमती लाल से पूर्व प्रेमचन्द के विभिन्न आलोचकों ने उनके उपन्यासों का जो काल-क्रम दिया है, वह अत्यधिक भ्रान्तिपूर्ण और परस्पर-विरोधी है। श्रीमती लाल ने अपने लेख में इन भ्रान्तियों को दूर करने का स्तुत्य प्रयास किया है।
८. प्रेमचन्द के 'वरदान' उपन्यास के प्रकाशन-काल के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। 'जीवन-सार' नामक लेख में स्वयं प्रेमचन्द ने लिखा है : "उपन्यास तो मैंने १९०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १९०२ में निकला और दूसरा १९०४ में; लेकिन गल्प १९०७ से पहिले मैंने एक भी न लिखी।" (कफन, पृ० ६५) १९०२ और १९०४ में

३	प्रेमाश्रम	१९२३ ई०
४	रंगभूमि	१९२५ ई०
५	कायाकल्प	१९२६ ई०
६	निर्मला	१९२७ ई०
७	प्रतिज्ञा	१९२९ ई०
८	गबन	१९३१ ई०
९	कर्मभूमि	१९३२ ई०
१०	गोदान	१९३६ ई०
११	मंगलसूत्र (अपूर्ण)	१९३६ ई०

'मंगलसूत्र' के अतिरिक्त उक्त दस उपन्यासों में से पाँच—'वरदान', 'सेवासदन', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' और 'गबन'—अपनी विषय-वस्तु तथा मूल समस्या की दृष्टि से शेष उपन्यासों से कई अंशों में भिन्न हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द का सम्पूर्ण औपन्यासिक कृतित्व दो स्पष्ट वर्गों में विभाजित-सा आभासित होता है, जिन्हें हम मोटे तौर पर सामाजिक और राजनीतिक वर्ग कह सकते हैं। किन्तु हम यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना जरूरी समझते हैं कि प्रेमचन्द के तथाकथित सामाजिक और राजनीतिक उपन्यासों में कोई मौलिक विभेद नहीं है। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी प्रेमचन्द के राजनीतिक उपन्यासों ('कायाकल्प' और 'गोदान' को छोड़कर) को राष्ट्रीय उपन्यास कहते हैं।[1] 'गोदान' को द्विवेदी जी प्रेमचन्द के उपन्यासों का अकेले अपने में पूर्ण तीसरा खण्ड मानते हैं। 'कायाकल्प' के अतिमानवीय (Supernatural) तत्त्वों के कारण शांतिप्रियजी ने उसे 'सेवासदन' और 'निर्मला' जैसे उपन्यासों के साथ सामाजिक वर्ग में रखा है, किन्तु कहना न होगा कि प्रेमचन्द का 'कायाकल्प' कुल मिलाकर सामाजिक उपन्यास नहीं है।

इसके विपरीत श्री मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्मा ने प्रेमचन्द के उपन्यासों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है उसका आधार वर्ग-संघर्ष का सद्भाव अथवा अभाव है। शांतिप्रिय द्विवेदी ने प्रेमचन्द के जिन उपन्यासों को राष्ट्रीय वर्ग में परिगणित किया है, 'कथाकार प्रेमचन्द' के लेखक-द्वय ने 'कायाकल्प' और 'गोदान' सहित उन्हें प्रथम वर्ग में

निकलने वाले अपने इन उपन्यासों का प्रेमचन्द ने नामोल्लेख नहीं किया है। सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित 'वरदान' के चतुर्थ संस्करण (जुलाई, १९५५) के मुख पृष्ठ पर दी हुई प्रकाशकीय टिप्पणी के अनुसार 'वरदान' का रचना-काल १९०५-६ है। प्रेमचन्द के अधिकांश आलोचक 'वरदान' का रचना-काल १९०४ और १९०६ के बीच में मानते हैं, लेकिन उसके प्रकाशन-काल के संबंध में वे मौन ही हैं।

१. "इन दो प्रगतियों के द्योतक उनके उपन्यासों के दो खण्ड इस प्रकार किए जा सकते हैं:
(१) सामाजिक—'सेवासदन', 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'कायाकल्प', 'निर्मला', 'गबन'।
(२) राष्ट्रीय—'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि'।"—युग और साहित्य, पृ० २९३-९४

रखा है और शेष को द्वितीय में।[1] स्पष्ट है कि इस द्विविध वर्गीकरण में वस्तुत: कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है, सिवाय इसके कि यह उस विशिष्ट आलोचक-वर्ग की मनोवृत्ति का एक सामान्य उदाहरण है जो प्रत्येक आलोच्य-कृति को एक ही साँचे में ढालने का सफल-असफल प्रयास करता है।

अपने युग के सच्चे और जीवन्त प्रतिनिधि होने के कारण प्रेमचन्द की रचनाएँ अपने युग के तीनों चरणों—प्राक् गांधी-युग, गांधी-युग और उत्तर गांधी-युग—का वास्तविक प्रतिनिधित्व करती हैं। उनके तथाकथित सामाजिक उपन्यास ब्रह्म समाज, आर्य समाज इत्यादि संस्थाओं के सामूहिक तथा दूसरे समाज-सुधारकों के व्यक्तिगत प्रयत्नों से अवतरित उस सामाजिक जागृति के द्योतक हैं जो गांधीयुगीन राजनीतिक चेतना की पूर्वगामिनी थी। दूसरी ओर अपने राजनीतिक उपन्यासों में वे कांग्रेस तथा महात्मा गांधी के स्वाधीनता-आंदोलन की विभिन्न हलचलों से प्रभावित हैं। प्रथम वर्ग के उपन्यासों का आधार मुख्यत: मध्यवित्त वर्ग है और दूसरे वर्गान्तर्गत आने वाले उपन्यासों का आधार भारत का सर्वाधिक शोषित और उत्पीड़ित वर्ग कृषक वर्ग है। अत: प्रस्तुत विषय की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों का निम्नोक्त त्रिविध वर्गीकरण किया जा सकता है:—

(क) प्राक् गांधीयुगीन रचनाएँ—'वरदान', 'प्रतिज्ञा'[2] और 'सेवासदन'।

(ख) गांधीयुगीन रचनाएँ—'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'निर्मला', 'गबन' और 'कर्मभूमि'।

(ग) उत्तर गांधीयुगीन रचनाएँ—'गोदान' और 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण)।

इन तीन युगों की द्योतक रचनाओं का काल-क्रम क्रमश: सन् १९०१ से १९१८, सन् १९१८-१९ से १९३२-३३ और सन् १९३३-३४ से अक्टूबर १९३६—प्रेमचन्द के देहावसान काल तक—माना जा सकता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों का यह त्रिविध वर्गीकरण हालांकि अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं माना जा सकता, किन्तु उसका महत्त्व इस बात में है कि वह उपन्यासकार प्रेमचन्द के विकास-क्रम को समझने में हमारा सहायक हो सकता है।

---

१. "(१) वे उपन्यास जिनमें वर्गसंघर्ष बिल्कुल खुलकर दिखलाया गया है—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प और गोदान।
"(२) वे उपन्यास जिनमें वर्गसंघर्ष का कोई खुला रूप दृष्टिगोचर नहीं होता—सेवासदन, वरदान, प्रतिज्ञा, निर्मला, गबन।"

—कथाकार प्रेमचन्द, पृ० ६७५–७६ (प्रथम संस्करण, १९४७)

२. 'प्रतिज्ञा' का प्रकाशन यद्यपि सन् १९२९ में हुआ था, किन्तु इससे पूर्व यह हिंदी और उर्दू में दूसरे नामों से छप चुका था। अत: हमने उसे प्राक् गांधीयुगीन रचनाओं में ही रखा है।

प्राक् गांधीयुगीन कृतियाँ

१. 'वरदान'—

'वरदान' हिंदी में प्रेमचन्द की संभवत: प्रथम रचना है। 'वरदान' की कृत्रिम, पंडिताऊ और संस्कृतनिष्ठ भाषा हमारे इस अनुमान को पुष्ट करती है। भाषा ही नहीं कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी 'वरदान' प्रेमचन्द की एकदम प्रारंभिक रचना ही मानी जाएगी। इसमें प्रेमचन्द एक साथ बंकिम, शरत् और टैगोर, नजीर अहमद, रतननाथ सरशार और अब्दुल हकीम शरर आदि बंगला तथा उर्दू के प्रसिद्ध कथाकारों की शैली को अपनाने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। 'वरदान' का रचना-काल अनेक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का घटना-काल है। स्वदेश में लॉर्ड कर्जन की नीति के कारण भारत की आत्मा विक्षुब्धित हो रही थी और बंगाल के विभाजन के विरोध में एक व्यापक जनांदोलन उठ खड़ा हुआ था। राजभक्त कांग्रेस के कदम भी धीरे-धीरे विद्रोह और असहयोग की डगर पर बढ चले थे। विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के कारण संसार के अधिकांश देश एक भीषण आर्थिक और राजनीतिक संकट का सामना कर रहे थे। भारत की राजनीति में तिलक जैसे उग्र राजनीतिक नेताओं का प्रभाव क्रमश: बढ़ रहा था। इन सब परिस्थितियों के कारण भारत ही नहीं इंग्लैण्ड के दूसरे उपनिवेशों में भी स्वशासन की माँग जोर पकड़ती जा रही थी। 'वरदान' में हमें इन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की झलक मिलती है, यद्यपि वह झलक अत्यन्त प्रभावहीन तथा अस्पष्ट है। यहाँ पर इस बात का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि 'वरदान' के रचना-काल के आस-पास ही सन् १९०६ में गोर्की का विश्व-विश्रुत उपन्यास "माँ" प्रकाशित हुआ था।

'वरदान' के पात्रों का चरित्र-चित्रण तो सर्वथा अप्रौढ़ और प्रभावशून्य है ही, उसके वर्णनों (Descriptions) में भी कलाकारोचित संयम एवं अनुपात का पूर्णत: अभाव है। उसके अधिकांश वर्णन आवश्यकता से अधिक लंबे और अनावश्यक ब्योरे (Details) के कारण बोझिल तथा भावुकतापूर्ण हैं। उदाहरण के लिए बालाजी (प्रताप) के काशी-आगमन पर उनके स्वागत-सत्कार संबंधी पूरे वर्णन का उल्लेख किया जा सकता है।[1] वरदानकार के यहाँ बुलबुलों के मुकाबले में भी लाखों मनुष्य जमा होते हैं और कमलाचरण के 'पट्ठे' को देखकर 'धन्य-धन्य' करते हैं;[2] थानेदार साहब एक ही रस्सी में पूरे गाँव को बाँधकर ले जाते हैं[3] और वृजरानी के प्रथम कविता-संग्रह के प्रकाशित होने पर यूरोप और अमेरिका के प्रतिष्ठित कवि भी उसकी काव्य-मनोहरता पर धन्यवाद देते हैं।[4]

---

१. वरदान, पृ० १४२-१५३ (चतुर्थ संस्करण, १९५५)
२. वही, पृ० ३१–३२
३. वही, पृ० ११८
४. वही, पृ० १४२

'वरदान' के अधिकांश पात्र विरजन और वालाजी के चरणों पर सिर रखकर घंटों रोना चाहते हैं।[1] प्रयाग और अलीगढ़ की टीमों के बीच क्रिकेट मैच का प्रेमचन्द ने जो वर्णन किया है वह भी सर्वथा अविश्वसनीय और अस्वाभाविक है।[2]

उपन्यास के मुख-पृष्ठ पर प्रकाशक की टिप्पणी से और प्रथम अध्याय में सुवामा द्वारा देवी से देश-भक्त पुत्र का वरदान माँगे जाने पर पाठक को विश्वास होने लगता है कि उपन्यास का नायक अवश्य ही कोई बड़ा देश-भक्त होगा, किन्तु जैसे-जैसे पाठक आगे बढ़ता है उसकी यह आशा दुराशा में परिणत होने लगती है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते आशा के स्थान पर निराशा, विश्वास के स्थान पर खीज ही शेष रह जाती है। नायक प्रतापचन्द्र (बाद में वालाजी) एक साधारण ईर्ष्यालु युवक है जो अपनी प्रेमिका विरजन को न पाकर ईर्ष्या और द्वेष की दाहक ज्वाला में जलने लगता है, किन्तु बाद में प्रयाग पहुँचकर वह अकस्मात् ही प्रसिद्ध हो जाता है। कमलाचरण की मृत्यु से एक बार फिर उसके मन में विरजन को प्राप्त करने की आशा जगती है, किंतु विचारमग्ना विधवा विरजन के सौम्य स्वरूप को देखकर वह साधु हो जाता है और अपने आपको समाज-सेवा में लीन कर देता है। लेकिन वालाजी की समाज अथवा देश-सेवा का कोई स्पष्ट रूप पाठक के सामने नहीं आ पाता। एक सामान्य असफल प्रेमी से प्रेमचन्द उसे अचानक ही महापुरुष बना देते हैं। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि उसका यह महान् चारित्रिक परिवर्तन पाठकों में जरा भी विश्वास नहीं जगा पाता। सच तो यह है कि वालाजी उर्फ प्रताप के व्यक्तित्व में हाड़-मांस के स्थान पर उपन्यासकार की कच्ची आदर्शवादिता और भावुकता का ही अनुपातहीन सम्मिश्रण है। वह प्रेमचन्द का सर्वाधिक व्यक्तित्वहीन नायक है। उसकी तुलना उस घड़े से की जा सकती है जिस पर सर्वत्र उसके निर्माता कुंभकार की अंगुलियों के चिह्न हों। वालाजी की देश-भक्ति पाठक के हृदय में जरा भी उत्साह की भावना उत्पन्न नहीं कर पाती। वस्तुतः वालाजी की देश-भक्ति का कोई स्थायी आधार है भी नहीं। किसी अलौकिक शक्ति के वरदान से उद्भूत देश-भक्ति की भावना कितनी वास्तविक, प्रभावकारी और स्थायी हो सकती है?—इसकी कल्पना की जा सकती है। यही कारण है कि 'वरदान' की देश-भक्ति अत्यन्त निरीह देश-भक्ति है।

अंतिम विश्लेषण में 'वरदान' एक दुखान्त प्रेम-कहानी ही ठहरता है, जिसे लेखक ने अपने आदर्शवाद की झोंक में सुखान्त बनाने का प्रयास किया है। उसे किसी भी अर्थ में सामाजिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। वह शुद्ध रोमांस है। सामाजिक समस्या के नाम पर 'वरदान' के लेखक ने अनमेल-विवाह की समस्या को छुआ अवश्य है, किंतु उपन्यास के सम्पूर्ण कथा-प्रवाह और पात्रों के चरित्रांकन से स्पष्ट हो जाता है कि यह उसका मुख्य प्रतिपाद्य नहीं था। यही कारण है कि समस्या आद्योपान्त कहीं भी उभर कर सामने नहीं

---

१. वरदान, पृ० १२५, १४८

२. वही, पृ० ७०-७२

आ पाती। एक सामान्य प्रेम-कथा होने पर भी 'वरदान' की विशेषता यह है कि उसका रचयिता अपने युग के दूसरे रोमांस-लेखकों से सर्वथा भिन्न पथ का अनुसरण करता दृष्टिगत होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक असफल प्रेमी का समाज-सुधारक, देश-सेवक या क्रांतिकारी बन जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना उसका आत्मघात कर लेना। लेकिन प्रेमचन्द की विशेषता यह है कि वे अपने नायक को संहारात्मक (Destructive) मार्ग की ओर नहीं ले जाते—जैसा कि 'देवदास' में शरत् करते हैं। उनका नायक अपने गम को शराब के नशे में भुलाने की कोशिश करने के बजाए दूसरों के दुःख को दूर करने के स्वस्थ एवं सृजनात्मक मार्ग पर चलना पसंद करता है। यही 'वरदान' के लेखक का वैशिष्ट्य है।

प्रारंभिक रचना होने पर भी 'वरदान' में प्रेमचन्द के गंभीर पाठकों को 'प्रेमाश्रम' के प्रेमचन्द की पूर्व-सूचना या संकेत अवश्य मिल जाता है। हम देखते हैं कि उसमें केवल प्रेम का सनातन त्रिकोण (Eternal triangle of love) और उसका घात-प्रतिघात ही नहीं है। गरीबी और अंधविश्वासों में जकड़े हुए किसान, रात-दिन पसीना बहाने पर भी भूखे पेट और नंगे बदन रहने वाले किसान, टूटे-फूटे फूस के झोंपड़े, मिट्टी की दीवारें, ओले-पानी से मारी हुई फसलें, गाली-गलौज और मार-पीट से उगाही जाने वाली लगान, सूदखोर महाजन, पुलिस के हथकडे, झूठे मुकदमे बनाने में पारंगत पुलिस-अधिकारी, रिश्वती थानेदार;[१] कीटगंज और कटरा की दुर्गन्धिपूर्ण गलियाँ और वहाँ रहने वाले निम्न जाति के लोग;[२] प्रगतिशील समाज-सुधार आंदोलन के विरुद्ध नगर के सेठ-साहूकारों और पंडे-पुजारियों का गठ-बन्धन;[३] जाति-सेवा ('वरदान' में प्रेमचन्द ने 'जाति-सेवा' और 'देश-सेवा' शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। दे०—'वरदान' पृष्ठ १६४-१६५) के लिए सरकारी नौकरी से इस्तीफा;[४] प्लेग से सहस्रों मनुष्यों की मृत्यु;[५] बाढ़ के प्रकोप के कारण हजारों बेघरबार,[६] इत्यादि भी उसमें हैं।

'वरदान' के पात्रों में राष्ट्रीय आत्मगौरव की भावना भी पर्याप्त मात्रा में है।[७] मझगाँव से कमलाचरण के नाम विरजन के पत्र कथा-प्रवाह की दृष्टि से अनावश्यक

---

१. मझगाव से कमलाचरण के नाम विरजन के पत्र; वरदान, पृ० ९० से ११०
२. वरदान, पृ० ११२
३. वही, पृ० १६७-१६८
४. वही, पृ० १४९
५. वही, पृ० ८८
६. वही, पृ० १७१
७. प्रेमचन्द दिखाते हैं कि विरजन के श्वशुर डिप्टी श्यामाचरण एक बार अंग्रेज कलक्टर को सलाम करने गए। दो घंटे बाहर प्रतीक्षा करने के बाद साहब बहादुर निकले और फिर कभी आने के लिए कहकर चलते चले गए। डिप्टी साहब भविष्य में फिर कभी किसी अंग्रेज से मिलने नहीं गए।
—वरदान, पृ० २५-२६

और अस्वाभाविक होते हुए भी 'वरदान' से 'प्रेमाश्रम' तक तथा 'प्रेमाश्रम' से 'गोदान' तक प्रेमचन्द के विकास को समझने के लिए अत्यावश्यक हैं। इन पत्रों का महत्त्व इस बात में है कि इनमें प्रेमचन्द की नायिका अपने प्रेमोद्गारों अथवा विरह-व्यथा का प्रकाशन नहीं; बल्कि भारतीय गाँवों की गरीबी और दुर्दशा, ग्रामीणों के अंधविश्वास और कुरीतियों, कर्ज के बोझ से दबे हुए किसानों, उनके तीज-त्यौहारों और गाँव के सरल तथा निश्छल जीवन का वर्णन करती है। यह सब बातें दिखाती हैं कि केवल प्रेम-कहानी कहना ही वरदानकार का मुख्य प्रयोजन और लक्ष्य नहीं था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का आविर्भाव नहीं होता तो भी प्रेमचन्द के साहित्य के मूल स्वरूप में कोई मौलिक अन्तर नहीं आता, क्योंकि हम देख चुके हैं कि 'वरदान' में मूलतः वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जिनका विकास उनके शेष कृतित्व में है। अक्सर यह कहा जाता है (और जो किन्हीं अंशों में सही भी है) कि गांधीजी के आह्वान पर प्रेमचन्द ने अपनी सरकारी नौकरी पर लात मारी, लेकिन हमारा विनम्र मत है कि उनके जीवन की इस महत्त्वपूर्ण घटना पर एकमात्र गांधी का प्रभाव मानना स्यात् उचित न होगा। हमारे इस कथन के प्रमाण 'वरदान' के एक चरित्र बाबू राधाचरण हैं जो देश-सेवा के लिए ही सरकारी नौकरी से इस्तीफा देते हैं।[1]

संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि 'वरदान' का महत्त्व उसके वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण अथवा उद्देश्य के कारण नहीं बल्कि इस बात में है कि इसके रचना-काल में भी प्रेमचन्द उन सब बातों के बारे में सोचने लगे थे जिनका चित्रण उनके बाद के साहित्य में मिलता है। अतः प्रेमचन्द के साहित्यिक और वैचारिक विकास-क्रम को समझने के लिए 'वरदान' का महत्त्व निर्विवाद है।

२. 'प्रतिज्ञा'—

'प्रतिज्ञा' इंडियन प्रेस से सन् १६०४ या १६०५ में प्रकाशित 'प्रेमा' का परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण है, जो स्वयं ('प्रेमा') प्रेमचन्द के 'हमखुरमा हम सवाब' का हिंदी अनुवाद था। यही उपन्यास बाद में उर्दू में 'बेवा' नाम से भी प्रकाशित हुआ था।[2] (इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी और उर्दू में कुल मिलाकर इस उपन्यास का चार बार नामकरण-संस्कार हो चुका है!) यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अपने वर्तमान रूप में 'प्रतिज्ञा' में यह परिवर्द्धन-संशोधन कब किया गया, किन्तु इतना स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर महात्मा गांधी के प्रवेश के

---

१. वरदान, पृ० १४६
२. Premchand : Madangopal, P. 61 (Lahore, 1944)

चाहता। वह सामाजिक संस्थाओं को नवीन परिस्थितियों के परिपार्श्व में, नए रूप मे और नए सिरे से पुनः प्रतिष्ठित करना मात्र चाहता है, उनमें आमूल परिवर्तन नहीं। यद्यपि किन्ही अंशों मे उसका दृष्टिकोण बौद्धिक होता है, लेकिन वह अपनी इस बौद्धिकता का उपयोग प्राचीन समाज-व्यवस्था की मूल उपयोगिता को तर्क, विवेक तथा युक्ति के सहारे सिद्ध करने की चेष्टा में करता है। वस्तुतः उसकी बौद्धिकता एक गहरी श्रद्धा पर आधृत होती है, सन्देह पर नहीं। प्राचीन महान् ऋषि-मुनियो द्वारा निर्णीत समाज-विधान में उसका अखण्ड विश्वास होता है। वह मानता है कि उनके द्वारा बनाई गई समाज-व्यवस्था अपने आप में सर्वथा निर्दोष, सर्वाङ्गीण और आदर्श व्यवस्था है। दोष मूलतः व्यवस्था का नही बल्कि कालांतर में उसमें प्रविष्ट दुर्गुणों एवं कुप्रथाओं का है। उसका दृष्टिकोण इस प्रकार कुल मिलाकर पुनरुत्थानवादी ही होता है।

आर्य समाज तथा दूसरी समाज-सुधार संस्थाओं अथवा व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत विधवा-समस्या का समाधान स्वभावतः अपने आप में सुधारवादी समाधान ही है। मूल व्याधि को छोड़कर रोग के ऊपरी लक्षणों का निदान कितना स्थायी हो सकता है—यह सहज अनुमेय है। विधवा-समस्या अपने आप में कोई मूल समस्या नही है। यह तो केवल उस समाज-व्यवस्था का एक विशिष्ट परिणाम मात्र है जो पुरुष और स्त्री के लिए पृथक्-पृथक् नैतिक एवं सामाजिक मानदण्डों का नियमन करके पुरुष को स्त्री का भाग्य-विधाता तथा उसका स्वामी घोषित करती है। वर्त्तमान दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था के इस जर्जरित भवन की दीवारों पर इधर-उधर सीमेंट का प्लास्तर करने मात्र से उसकी रक्षा नहीं की जा सकती; हाँ, कुछ समय के लिए उसकी जीवनावधि अवश्य बढ़ाई जा सकती है। वस्तुतः सुधारवाद की यह स्वाभाविक सीमा और अनिवार्य दुर्बलता है। आर्य समाज प्रभृति संस्थाओं ने भी इसी स्तर पर इस विकट सामाजिक समस्या का समाधान खोजने का प्रयास किया और उन्होने विधवा-समस्या के समाधान-स्वरूप विधवा-विवाह का प्रचार किया। लेकिन आर्य समाज जैसी संस्थाओं की सुधारवादी सीमाओं और उनके कार्यक्रम की दुर्बलताओं को स्वीकार करते हुए भी नए भारत के निर्माण मे उनके योगदान को अस्वीकार नही किया जा सकता।

प्रेमचन्द पर आर्य समाज से अधिक गांधीजी की विचारधारा का प्रभाव है। यही कारण है कि 'प्रतिज्ञा' मे उन्होने विधवा-समस्या के समाधान-स्वरूप विधवा-विवाह को मान्यता नही दी है। 'प्रतिज्ञा' के पूर्वरूप 'प्रेमा' मे प्रेमचन्द पूर्णा का पुनर्विवाह करवा देते हैं,[1] लेकिन आज जिस रूप में उपन्यास हमारे सम्मुख है उसमें लेखक ऐसा न करके पूर्णा को अमृतराय के विधवाश्रम मे भिजवा देता है और उसे कृष्ण-भक्ति रूपी आध्यात्मिक आश्रय प्रदान करके उपन्यास का पर्यवसान कर देता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रतिज्ञा' का रचयिता प्रौढ विधवा-विवाह के द्वारा भारतीय नारी को उसके सतीत्व के उच्चादर्श से

---

१. प्रेमचन्द की उपन्यास-कला : प्रो० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', पृ० १० (तृतीय संस्करण, १९४६)

गिराना नहीं चाहता था। नारी के सतीत्व तथा पवित्रता (Purity) के आदर्श के संबंध में प्रेमचन्द के विचारों पर गांधीजी की अत्यन्त गहरी छाप है। यद्यपि सुमित्रा ('प्रतिज्ञा') से लेकर धनिया ('गोदान') तक उनके स्त्री-पात्रों में हमें विद्रोह और संघर्ष की भावना प्रचुर परिमाण में मिलती है, किन्तु कुल मिलाकर नारी के आदर्श के संबंध में परंपरागत भारतीय विचारधारा ही उनका आदर्श थी। श्री मदनगोपाल के शब्दों में प्रेमचन्द के नारी-आदर्श को तीन शब्दों में कहा जा सकता है—बलिदान, सेवा तथा पवित्रता।[1] गांधीजी भी सभी विधवा-स्त्रियों के पुनर्विवाह के समर्थक नहीं थे,[2] क्योंकि स्वेच्छापूर्वक विधवा रहने को वे हिन्दू धर्म की अनमोल देन मानते थे।[3] किन्तु वर्तमान समाज-व्यवस्था में स्त्री के लिए वैधव्य को स्वेच्छापूर्वक ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसे इतना अधिकार ही कहाँ है कि वह इस या इसी प्रकार की अन्य प्रथाओं का स्वेच्छया ग्रहण अथवा त्याग कर सके ?

'प्रतिज्ञा' को आद्योपान्त पढ़ जाने के पश्चात् एक प्रश्न जो बहुत तीव्रता से किसी भी विचारशील पाठक के मन में उठता है वह यह कि उपन्यास के आरंभ से ही लेखक जिस घटना की तैयारी इतने जोर-शोर से करता है, अंत में उसे पूरा क्यों नहीं किया जाता ? कहना न होगा कि उपन्यास के विधुर नायक अमृतराय द्वारा **'वैधव्य के भँवर में पड़ी हुई अबलाओं के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन करने'**[4] के लिए आर्य मन्दिर में की गई प्रतिज्ञा ही उपन्यास की मूल धुरी है, अमृतराय द्वारा विधवाश्रम की स्थापना नहीं। उपन्यास में एक विधवा चरित्र लाने के लिए ही लेखक इतने अस्वाभाविक ढंग से पूर्णा के पति पण्डित वसन्तकुमार का गला घोटता है। लेकिन फिर भी वह अपने नायक की उक्त प्रतिज्ञा को पूरा नहीं करवाता। इसका कारण क्या हम यह मानें—जैसा कि डॉ० राजेश्वर गुरु सुझाते हैं—कि **'समाज के सामने इस क्रांतिकारी हल की संभावना बताकर इसे किसी के जीवन में घटित करके दिखाने का साहस प्रेमचन्द में नहीं था ?'** अथवा इसे हम प्रेम-

---

१. Premchand, P. 40

२. "I have never advocated widow remarriage on a wholesale scale."
—Women and Social Injustice : M. K. Gandhi, P. 105
(Fourth Enlarged Edition, 1954)

३. (क) "I do believe that a real Hindu widow is a treasure. She is one of the gifts of Hinduism to humanity."
—Women and Social Injustice, P. 105

(ख) "Voluntary widowhood is a priceless boon in Hinduism; enforced widowhood is a curse."
—Women & Social Injustice, P. 117

४. प्रतिज्ञा, पृ० ६

चन्द की वर्गगत दुर्बलता अर्थात् 'मध्यवर्गीय कथनी और करनी का फर्क' मानें?[1] 'प्रतिज्ञा' में पूर्णा का पुनर्विवाह न करवा पाने के लिए प्रेमचन्द को चाहे सुधारवादी कहा जाए या आदर्शवादी (जो कि वे हैं भी) या परंपरागत भारतीय नारी के आदर्श के पृष्ठपोषक, किन्तु कम-से-कम इसे हम प्रेमचन्द में 'कथनी और करनी के मध्यवर्गीय फर्क' का द्योतक नहीं मान सकते। 'प्रतिज्ञा' को वर्त्तमान रूप देने से बहुत पूर्व एक बाल-विधवा से स्वयं अपना विवाह रचाकर वे अपने नैतिक साहस तथा कथनी और करनी की एकता का परिचय दे चुके थे। हमारे मत में इस प्रश्न का उत्तर प्रेमचन्द पर महात्मा गांधी की विचारधारा के प्रभाव में खोजना चाहिए, अन्यत्र नहीं।

गांधीजी यद्यपि पुनर्विवाह के प्रश्न पर स्त्री और पुरुष को समानाधिकार दिए जाने के समर्थक थे, किन्तु साथ ही वे यह भी मानते थे कि प्रौढ़ावस्था में पुनर्विवाह—चाहे स्त्री करे या पुरुष—पाप है।[2] इस प्रकार सिद्धान्ततः प्रौढ़ विधवा-विवाह के समर्थक होकर भी व्यवहार में गांधीजी उसे प्रोत्साहित नहीं करते थे। विधवा-विवाह के प्रश्न पर गांधीजी के विचारों को समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस समस्या पर विचार करते हुए वे प्रौढ़ विधवा तथा बाल विधवा के बीच एक विभाजक रेखा खींच देते हैं। यदि विधवा-विवाह संबंधी गांधीजी के विचारों पर समग्रतः विचार किया जाए तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि जहाँ-जहाँ उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया है वहाँ-वहाँ बाल विधवा-विवाह ही का समर्थन किया है, प्रौढ़ विधवा-विवाह का नहीं। स्पष्ट है कि ऐसा उन्होंने भारतीय नारी के परंपरागत आदर्श की रक्षा के हेतु किया है। इसी आदर्श की रक्षा के लिए 'प्रतिज्ञा' का लेखक विधवा-विवाह के प्रश्न से अपनी कथा आरंभ करके भी उसका अन्त विधवाश्रम की स्थापना के साथ करता है।

'प्रतिज्ञा' में विधवा-समस्या का यह आश्रमपरक समाधान प्रेमचन्द के अध्येता के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। अपने अन्य उपन्यासों में भी उन्होंने इसी प्रकार के पलायनवादी समाधान प्रस्तुत किए हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से भिन्न आदर्शवादी विचारधारा से अनुप्राणित होने के कारण प्रेमचन्द का दृष्टिकोण मूलतः सुधारवादी था, जो किसी-न-किसी रूप एवं अंश में 'गोदान' तक वर्त्तमान रहा। प्रारंभिक कृति होने के कारण 'प्रतिज्ञा' में उनके इस सुधारवाद की अभिव्यक्ति अत्यन्त स्थूल रूप में हुई है। यही कारण है कि उपन्यास का नायक अमृतराय हाड़-मांस से रहित एक विशिष्ट आदर्श का प्रतीक

---

१. प्रेमचन्द : एक अध्ययन : डॉ० राजेश्वर गुरु, पृ० १७४

२. "......स्त्रियों के लिये भी वही नियम लागू होना चाहिये जो पुरुषों के लिये हो। अगर पचास साल का बूढ़ा विधुर दुबारा शादी कर सकता है, तो उसी उम्र की विधवा को भी वैसा ही करने की छूट होनी चाहिये। यह बिलकुल दूसरी बात है कि मेरी राय में पुनर्विवाह करके दोनों ही पाप करेंगे।"

(महात्मा गांधी)

—स्त्रियां और उनकी समस्यायें : संपादक-भारतन् कुमारप्पा, पृ० ६३

(अहमदाबाद, १९५९)

मात्र है, जिसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। उपन्यासकार के आदर्शवादी दृष्टिकोण और उस पर पड़े आर्य समाज तथा गांधीवाद के प्रभाव ने सम्मिलित रूप से मिलकर अमृतराय जैसे निर्जीव एवं निष्प्राण चरित्र की सृष्टि कर दी है। किन्तु फिर भी 'प्रतिज्ञा' में एक ऐसा पात्र है जो प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता तथा प्रश्न को अपने मूल रूप में देखने की उनकी क्षमता का परिचायक है। सुमित्रा की चरित्र-रेखा द्वारा प्रतिज्ञाकार यह स्पष्ट कर देता है कि वह भारतीय नारी में फैल रही जागृति, अपने अधिकारों के प्रति सजगता और क्रमशः उद्बुद्ध हो रही अन्याय-प्रतिकार की चेतना से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं है। सुमित्रा में विद्रोह की भावना आश्चर्यजनक रूप से अत्यन्त प्रखर है। उसे रह-रहकर यह प्रश्न सताता है कि "आखिर पुरुष अपनी स्त्री पर क्यों इतना रोब जमाता है ?"[1] वर्त्तमान पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था में एक स्त्री द्वारा इस प्रश्न का उठाया जाना अपने आप में कितना महत्त्वपूर्ण एवं क्रांतिकारी है—यह कहने की आवश्यकता नहीं। इस व्यवस्था ने स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग नैतिक, सामाजिक एवं वैवाहिक मानदण्डों का ही नियमन नहीं किया है, वरन् स्त्री के समस्त स्वत्वों को छीनकर उसे सम्पूर्णतः पुरुष की आश्रिता तथा मात्र उपभोग की वस्तु बना दिया है। महात्मा गांधी भी यह अनुभव करते थे कि हिन्दू संस्कृति ने पत्नी को आवश्यकता से अधिक पति की आश्रिता और उस पर अवलंबित बनाकर गलती की है।[2] पर्याप्त सोच-विचार के उपरान्त सुमित्रा इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि स्त्री की वर्तमान सामाजिक दुर्गति तथा अपमानपूर्ण पारिवारिक जीवन का मूल कारण उसकी आर्थिक परवशता है।[3] अपने दुराचारी 'पतिदेव' के अत्याचारों के सम्मुख आत्म-समर्पण करने के स्थान पर वह साहसपूर्वक उनका विरोध करती है। घर से निकाल देने की धमकी भी उसे नहीं झुका पाती।[4] पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था

---

१. प्रतिज्ञा, पृ० ९८

२. "Hindu culture has erred on the side of excessive subordination of the wife to the husband, and has insisted on the complete merging of the wife in the husband. This has resulted in the husband sometimes usurping and exercising authority that reduces him to the level of the brute." —Women and Social Injustice, P. 83

३. "पूर्णा—× × × × मर्द कमाकर खिलाता है, क्या रोब जमाने से भी जाय !
"सुमित्रा—बस-बस, तुमने लाख रुपये की बात कह दी। यही मैं भी समझती हूं। बेचारी औरत कमा नहीं सकती, इसीलिए उसकी यह दुर्गति है। लेकिन मैं कहती हूं, अगर मर्द अपने परिवार भर को खिला सकता है, तो क्या स्त्री अपनी कमाई से अपना पेट भी नहीं भर सकती ?"

—प्रतिज्ञा, पृ० १००-१०१

४. "सुमित्रा—बाप का घर जब था तब था; अब यही घर है। मैं अदालत से लड़कर ५००) महीना ले लूंगी लाला, इस फेर में न रहना। पैर की जूती नहीं हूं कि नयी थी तो पहना, पुरानी हो गई तो निकाल फेंका।"

—प्रतिज्ञा, पृ० १०४

में पालित-पोषित कमलाप्रसाद स्वभावत: पुरुष की स्वेच्छाचारिता पर स्त्री का यह आक्रमण सहन नहीं कर सकता था, किन्तु स्वाभिमानिनी सुमित्रा की तेजस्विता के सम्मुख उसे पराभूत होना पड़ता है। गांधीजी भी स्वीकार करते थे कि वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में अशिक्षित ही नहीं शिक्षित पति भी स्त्री पर पुरुष के स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन में विश्वास करते हैं, जो किसी भी दशा में स्पृहणीय अवस्था नहीं कही जा सकती।[1]

एक बात हम यहाँ पर स्पष्ट कर दें। सुमित्रा से प्रेमचन्द ने स्त्री-स्वातंत्र्य, स्त्री-पुरुष समानता, स्त्री की आर्थिक परवशता, पुरुष की स्वेच्छाचारिता आदि पर जो बड़ी-बड़ी (High-sounding) बातें कहलवाई हैं वे उपन्यास में खप नहीं पाई हैं। उन्हें यदि पूरे उपन्यास की पृष्ठभूमि में और स्वयं सुमित्रा के पूरे चरित्र की पृष्ठभूमि में रखकर देखा जाए तो वे नितान्त अस्वाभाविक और असंगत लगती हैं। वर्तमान समाज-व्यवस्था में स्त्री की अवस्था पर सुमित्रा द्वारा इतनी महत्त्वपूर्ण बातें कहलवाकर और मूलभूत प्रश्न उठवाकर भी प्रेमचन्द उपन्यास के सामाजिक स्वर को अपेक्षित प्रखरता तथा ऊँचाई नहीं प्रदान कर सके हैं। इसे हम प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना की दुर्बलता ही मानेंगे कि वे एक ज्वलंत सामाजिक प्रश्न को पूरी तीव्रता से उठाकर उसे निभा नहीं सके हैं। कुल मिलाकर 'प्रतिज्ञा' एक साधारण प्रेम-कथा से ऊँचे नहीं उठ सकी है और उसका सामाजिक स्वर दबा-दबा ही रह गया है। किन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रतिज्ञा' में हमें उसके प्रणेता के सामाजिक यथार्थ की पकड़ के दर्शन और सेवासदनकार का पूर्वाभास अवश्य हो जाता है।

प्रत्येक युग और देश के समाज-सुधारकों को—चाहे वह गौतम बुद्ध हो या कबीर, तुलसी हो या दयानन्द, राजा राममोहनराय हो या गांधी—पंडे-पुजारियों तथा सनातन मतावलम्बियों के उचित-अनुचित सभी प्रकार के विरोध का सामना करना पड़ा है। यह कोई नवीन बात नहीं है, निहित स्वार्थों ने सदा प्रत्येक नवीन समाज-सुधार के मार्ग में बाधाएँ डालने का भरसक प्रयास किया है। आर्य समाज को भी स्वभावत: विधवा-विवाह आदि अपने सुधारों के लिए समाज के रूढ़िवादी तत्त्वों के घोर विरोध का सामना करना पड़ा था। उसके प्रचारकों को सनातन धर्म के समर्थकों से वाद-विवाद और शास्त्रार्थ ही नहीं करना पड़ता था बल्कि व्यक्तिगत गाली-गलौज और मार-पीट तक सहनी पड़ती थी। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचन्द ने सनातन धर्म के ठेकेदारों के इन हथकंडों का खुलकर वर्णन किया है। वे दिखाते हैं कि अमृतराय द्वारा विधवाश्रम की स्थापना के लिए चंदा एकत्रित करने के लिए आयोजित सभा में किस तरह गुण्डे और लठैत भेजे जाते हैं, किस तरह शहर के रईसों और अधिकारियों को फोड़ा जाता है।[2] विधवाश्रम की स्थापना के समर्थक के रूप में गुण्डों के विरुद्ध प्रेमा को सार्वजनिक मंच पर लाकर प्रेमचन्द सलोनी, गुलदा, मुन्नी,

१. Women and Social Injustice, P. 90

२. प्रतिज्ञा, पृ० ८६–८७, ९०, ९३–९४

नैना ('कर्मभूमि'), जालपा ('गबन'), नोहरी ('समर-यात्रा') आदि अपने आगामी स्त्री-पात्रों की एक झलक दे देते हैं। प्रेमा के द्वारा वे दिखाते हैं कि भारत का नारीत्व अब घर की चहारदीवारी को छोड़कर बाहर आ रहा है। गुण्डों के हृदय पर प्रेमा के भाषण का चमत्कारी प्रभाव गांधीजी के इस विश्वास का प्रत्यायक है कि 'स्त्री त्याग की मूर्ति है, जब वह कोई चीज शुद्ध और सही भावना से करती है तो पहाड़ों को हिला देती है।'[1] अपने इसी विश्वास के कारण गांधीजी शराब और विदेशी कपड़े की दुकानों पर पिकेटिंग के लिए स्त्रियों को ही अधिक उपयुक्त समझते थे।[2]

इस प्रकार संक्षेप में हमने देखा कि 'प्रतिज्ञा' की रचना मूलतः यद्यपि प्राक् गांधी-युग में हुई, किन्तु वर्त्तमान रूप उसे गांधी-युग में ही प्रदान किया गया। स्वभावतः उसमें हमें 'बुड्ढे गांधी' का मात्र उल्लेख ही नहीं वरन् उसके विचारों का भी यत्र-तत्र प्रभाव मिलता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों पर विचार करते हुए उनके आलोचक प्रायः उनकी कृतियों को दो वर्गों में विभक्त कर देते हैं : सामाजिक और राजनीतिक। राजनीतिक वर्ग में आने वाली कृतियो पर मुख्यतः कांग्रेस और महात्मा गांधी का प्रभाव माना जाता है तथा सामाजिक वर्ग में आने वाली कृतियों पर मुख्यतः आर्य समाज आदि विभिन्न समाज-सुधार संस्थाओं का।[3] किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण करते हुए प्रायः यह भुला दिया जाता है कि किसी भी युग अथवा देश की समाजनीति और राजनीति के मध्य किसी व्यावर्तक रेखा का खींचा जाना न तो संभव ही है और न उचित ही; क्योंकि प्रायः सामाजिक जागृति राजनीतिक जागृति की पूर्वगामिनी तथा पूरक हुआ करती है। यही कारण है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने न केवल राजनीतिक आंदोलनों का ही दमन किया बल्कि शुद्ध सामाजिक आंदोलनों को भी संदेह एवं अविश्वास की दृष्टि से देखा। इस संबंध में दूसरी उल्लेख-नीय बात यह है कि महात्मा गांधी केवल राजनीतिक आंदोलनकर्ता ही नहीं प्रत्युत एक महान् समाज-सुधारक भी थे; जिनका नाम राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद आदि आधुनिक भारत के युग-प्रवर्त्तक समाज-सुधारकों के साथ लिया जा सकता है। गांधीजी मानते थे कि राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए सामाजिक बुराइयों से मुक्ति आवश्यक है। यही कारण है कि अस्पृश्यता-निवारण, मद्य-निषेध, प्रौढ़-शिक्षा, आदि-वासियों की सेवा, स्त्रियों की उन्नति, स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा जैसे सामाजिक प्रश्न उनके अट्ठारह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम के अभिन्न अंग हैं। और यही कारण है कि 'प्रतिज्ञा' आदि प्रेमचन्द के तथाकथित सामाजिक उपन्यासों पर भी महात्मा गांधी का इतना अधिक प्रभाव है।

---

१. स्त्रियां और उनकी समस्यायें : सं० भारतन् कुमारप्पा, पृ० ३१

२. वही, पृ० ४६

३. युग और साहित्य : शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० २९३–९४

३. 'सेवासदन'—

'सेवासदन' उपन्यासकार प्रेमचन्द की हिंदी-जगत् को प्रथम महत्त्वपूर्ण भेंट है जिसने हिंदी के पाठकों को पहले-पहल युगनिर्माता प्रेमचन्द के वास्तविक स्वरूप का भान करवाया। जैसा कि हम अध्याय तीन में देख चुके हैं 'सेवासदन' का रचना-काल भारतीय राजनीति में निष्क्रियता का काल था। कांग्रेस दो दलों में विभक्त हो चुकी थी और उसका नेतृत्व उदार-दलीय राजभक्त नेताओं के हाथ में चला गया था। सन् पन्द्रह में गोखले का स्वर्गवास हो जाने के कारण कांग्रस प्रायः नेतृत्वविहीन हो चली थी। गांधीजी अभी भारत की राजनीति के विभिन्न पक्षों का अध्ययन ही कर रहे थे। उधर प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो चुका था। 'सेवासदन' के रचना-काल को हम भारतीय राजनीति का संक्रांति-काल कह सकते हैं, जब कि गोखले की मृत्यु के रूप में कांग्रेस में एक युग का अन्त हो चुका था और गांधी के आविर्भाव के रूप में दूसरे युग का सूत्रपात हो रहा था।

'सेवासदन' प्रेमचन्द की एक प्रगतिशील सुधारवादी कृति है जिसमें उन्होंने वेश्याओं की समस्या पर यथार्थ-मिश्रित आदर्शवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। यह समस्या (वेश्या-समस्या) उपन्यास पर इतनी अधिक छाई हुई है कि सहज ही पाठक का ध्यान अपने प्रति केन्द्रित कर लेती है और यही कारण है कि आलोचक इसे ही उपन्यास की केन्द्रीय समस्या समझ बैठते हैं। उपन्यास की नायिका सुमन का चरित्र आद्योपांत समस्त उपन्यास पर इतना अधिक छाया हुआ है कि स्वभावतः यह प्रतीत होने लगता है कि उपन्यास वेश्या-समस्या पर ही लिखा गया है। इसे चाहे उपन्यासकार के वस्तु-कौशल की अपरिपक्वता माना जाए या चरित्र-चित्रण में अनुपातहीनता का दोष, किन्तु तथ्य यही है कि सुमन के जीवन की यह दुर्घटना उपन्यास के सम्पूर्ण वस्तु-विधान पर इतनी अधिक हावी हो गई है कि मूल समस्या किन्हीं अंशों में गौण बन गई है। लेकिन 'सेवासदन' की मूल समस्या वस्तुतः कुछ और है, महत्त्वपूर्ण चाहे यह भी हो। उपन्यास के अंतिम पृष्ठों में प्रेमचन्द ने गजानंद (पहले गजाधर) से कहलवाया है : "ईश्वर वह दिन कब लावेगा कि हमारी जाति में स्त्रियों का आदर होगा।"[1] यह प्रेमचन्द के जीवन की उच्चतम आकांक्षा और पवित्रतम स्वप्न था। इस एक वाक्य में उन्होंने अपने समस्त जीवन की संचित साध को उंडेल दिया है। और, इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचन्द की यह अभिलाषा ही 'सेवासदन' की मूल समस्या है। भारतीय नारी की पराधीनता और वर्त्तमान समाज-व्यवस्था—जिसमें स्त्री कहने को गृहलक्ष्मी और गृहदेवी किन्तु व्यवहार में पुरुष की सम्पत्ति मात्र है, जिसका अपना कोई अधिकार नहीं, कोई अस्तित्व नहीं; जहां वह केवल अपने तन को बेचकर ही रह सकती है चाहे पति को बेचे अथवा दालमंडी में, जहां केवल स्त्री के रमणीत्व का ही आदर है उसके नारीत्व और मातृत्व का नहीं—का खोखलापन दिखाना ही 'सेवासदन' का प्रतिपाद्य है। वेश्याओं का प्रश्न भी इसी व्यापक प्रश्न के साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध है।

---

१. सेवासदन, पृ० ३४७

प्रेमचन्द इस सूक्ति में विश्वास करते थे कि किसी पूरे समाज की स्वाधीनता का अनुमान उस समाज की स्त्रियों की स्वाधीनता से लगाया जा सकता है। उनके पूरे साहित्य में हमें भारतीय नारी की स्वाधीनता के लिए संघर्ष की उत्तरोतर तीव्र होती हुई भावना के दर्शन होते हैं। किन्तु स्त्री की स्वाधीनता के संबंध में उनका दृष्टिकोण भारतीय विचारधारा के सर्वथा विरुद्ध नहीं था—यह हम 'प्रतिज्ञा' पर विचार करते हुए देख चुके हैं।

वेश्या-समस्या को 'सेवासदन' की मूल समस्या चाहे स्वीकार किया जाए अथवा नहीं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह उसकी एक ज्वलन्त समस्या अवश्य है। यों तो यह समस्या सर्वकालिक एवं सर्वदेशीय है किन्तु आधुनिक युग के जटिल, कृत्रिम एवं आडम्बर-प्रिय विलासी नागरिक जीवन के कारण इसने एक भीषण रूप धारण कर लिया है। अपने वर्तमान रूप में यह सामन्तवाद और पूजीवादी समाज-व्यवस्था की सम्मिलित देन है। प्राचीन काल से ही यह समस्या समाज-सुधारकों के कार्यक्रम का एक प्रधान अंग रही है। एक समाज-सुधारक के रूप में महात्मा गांधी ने भी इस समस्या की भयंकरता और गंभीरता को अनुभव किया था। लेकिन दूसरी सामाजिक-आर्थिक समस्याओं की तरह इस प्रश्न के संबंध में भी उनका दृष्टिकोण मूलत: नैतिक था। वे व्यर्थ के विवाद-विस्तार में न जाकर एक सीधा-सच्चा प्रश्न करते हैं: हमारी अपनी बहिनों और इन अभागी स्त्रियों में क्या कोई अंतर है? यदि नहीं तो फिर किसी भी व्यक्ति को—और समाज का निर्माण व्यक्तियों से ही होता है–इस अनैतिक पशुवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए।[१] गांधी-जी का विश्वास था कि जब तक हम इस विषाक्त एवं कृत्रिम आधुनिक सभ्यता के स्थान पर पुन: अधिक सादे, प्राकृतिक और स्वस्थ ग्रामीण जीवन—जिसका प्रतीक चर्खा है—को नहीं अपनाते तब तक यह तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याएँ हमारे नैतिक, मानसिक एवं सामाजिक अधःपतन का कारण बनती रहेंगी।[२] वे मानते थे कि पुरुष की चिर अतृप्त

---

१. "What difference can there be between them and our own blood sisters? And if we do not allow our own sisters to be used for immoral purposes, how dare we allow these to be so used?"
—Women and Social Injustice, P. 142

२. "All of us men must hang our heads in shame, so long as there is a single woman whom we dedicate to our lust. I will far rather see the race of man extinct than that we should become less than beasts by making the noblest of God's creation the object of our lust, But this is not a problem merely for India, it is a world problem. And if I preach against the modern artificial life of sensual enjoyment and ask men and women to go back to the simple life epitonised in the *charkha*, I do so because I

विलास-कामना ही समाज में वेश्याओं की स्थिति का प्रधान कारण है। अपनी पाशविक इच्छाओं की पूर्ति के हेतु ही पुरुष ने मातृत्व पर यह कलंक लगाया है। उनका मत था कि यदि भारत का पुरुषवर्ग वेश्याओं के प्रति अपने उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य-कर्म को जान ले तो यह बुराई आज समाप्त हो सकती है।[१] गांधीजी का यह दृष्टिकोण निश्चय ही मध्ययुगीन धार्मिक संतों की परंपरा में आता है। किन्तु गांधीजी केवल धार्मिक संत ही नहीं एक व्यावहारिक समाज-सुधारक भी थे। यही कारण है कि इस समस्या के निवारणार्थ उन्होंने एक द्विमुखी समाधान भी प्रस्तुत किया है। वेश्या-समस्या के स्थायी समाधान के लिए वे दो बातें आवश्यक मानते थे : पुरुष अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रखना सीखें और इन अभागी बहिनों के लिए किसी सम्मानपूर्ण धंधे का प्रबंध किया जाए।[२] लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तुत वेश्या-समस्या का यह विश्लेषण-समाधान अधूरा तो है ही—अनुपयोगी भी है। एक सामाजिक-आर्थिक (Socio-economic) समस्या—जिसकी जड़ें वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में दूर-दूर तक और बहुत नीचे तक फैली हुई हैं—पर विचार करने के लिए नैतिक दृष्टिकोण एक गलत दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण से सोचने पर हम वेश्या-समस्या ही नहीं विश्व की सभी कुरीतियों, सभी खराबियों, सभी खामियों—संक्षेप में सभी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि समस्याओं का समाधान व्यक्ति की इच्छाओं के दमन और उसकी आवश्यकताओं के घटाने में खोजने लगते हैं। विश्व की दूसरी आदर्शवादी विचारधाराओं की भाँति

---

know that without an intelligent return to simplicity there is no escape from our descent to a state lower than brutality."

—Women and Social Injustice, P. 125

१. "It is a matter of bitter shame and sorrow, of deep humiliation, that a number of women have to sell their chastity for man's lust. Man the law-giver will have to pay a dreadful penalty for the degradation he has imposed upon the so called weaker sex. ××××× Let the Indian man ponder over the fate of the thousands of sisters who are destined to a life of shame for his unlawful and immoral indulgence. ××××× It is an evil which cannot last for a single day, if we men of India, realize our own dignity."

—Ibid, P. 139-40

२. "Before these unfortunate sisters can be weaned from their degradation, two conditions have to be fulfilled. We men must learn to control our passions, and these women should be found a calling that would enable them to earn an honourable living."

—Ibid, P. 130

सुधार में विश्वास नहीं है।[1] जब पद्मसिंह वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थानों से हटाकर बस्ती से दूर बसाने के अपने प्रस्ताव पर सैयद शफाकतअली की उस तरमीम को स्वीकार कर लेते हैं कि ऐसा करने से पहले उन्हें विवाह करने अथवा कोई हुनर सीखने के लिए नौ मास का समय दिया जाए तो विट्ठलदास, प्रभाकरराव आदि उनके (पद्मसिंह के) कट्टर विरोधी हो जाते हैं। यहाँ तक कि वे पद्मसिंह को जनता में बदनाम करने और उन पर झूठे लांछन लगाने से भी नहीं चूकते।[2] किन्तु प्रेमचन्द कुंवर अनिरुद्धसिंह के द्वारा स्पष्ट कर देते हैं "मुख्य प्रस्ताव इस तरमीम के बिना नश्तर का वह घाव है जिस पर मरहम नहीं।"[3] लेकिन वे लोग भला इस संशोधन को कैसे स्वीकार कर सकते थे, जिन्हें वेश्याओं के सुधार में इतनी दिलचस्पी नहीं थी जितनी उन्हें नगर से बाहर निकालने में, ताकि मध्यवर्गीय युवक और युवतियों पर उनका बुरा प्रभाव न पड़े। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द विट्ठलदास मार्का इस संकीर्ण तथा किन्हीं अंशों में हिन्दू-पुनरुत्थानवादी सुधारवाद से सहमत नहीं थे। वे अपनी इस असहमति को डॉ० श्यामाचरण के द्वारा इन शब्दों में प्रकट करते हैं : "विट्ठलदासजी की बात सुनकर बोले, मेरे योग्य जो सेवा हो वह मैं करने को तैयार हूं। लेकिन उद्योग यह होना चाहिए कि उन कुप्रथाओं का सुधार किया जाय जिनके कारण ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती हैं। इस समय आप एक की रक्षा कर ही लेंगे तो इससे क्या होगा? यहाँ तो नित्य ही ऐसी दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। मूल कारणों का सुधार होना चाहिए।"[4]

कलाकार के रूप में प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता—जो आज भी हिंदी साहित्य में दुर्लभ है—यह है कि वे अपने घोरतम आदर्शवादी रूप में भी सामाजिक यथार्थ को हाथ से नहीं छूटने देते। यही कारण है कि 'सेवासदन' में सुमन को दालमंडी के कोठे से निकाल कर सेवासदन की अध्यक्षा बनाकर भी प्रेमचन्द यह दिखाना नहीं भूलते कि सामाजिक दृष्टि से वह अब भी एक अस्पृश्य ही है, कि इस लंबी नाक वाले समाज में उसका अब भी कोई स्थान नहीं है, कि समाज ने अब भी सुमन को एक सम्मानित एवं उपयोगी सदस्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है। एक महान् यथार्थवादी कलाकार की सूक्ष्मदर्शिता के साथ वे दिखाते हैं कि जो सदन वेश्या सुमन के दरवाजे पर नाक रगड़ते नहीं लजाता था वही अब उससे इस प्रकार बचता है जैसे हम कुष्ट रोगी से बचते हैं।[5] शान्ता भी अभी उस पर अविश्वास करती है और वे दोनों (सदन और शान्ता) चाहते हैं कि किसी तरह यह

---

१. सेवासदन, पृ० २६४
२. सेवासदन, पृ० २७४–७५
३. सेवासदन, पृ० २७०
४. सेवासदन, पृ० १०८
५. सेवासदन, पृ० ३१६

आस्तीन का सांप (?) आँखों से दूर हो जाए।[1] सुमन के कारण मल्लाह लोग सदन के घर का पानी नहीं पीते; उनकी औरतें सुमन के पास नहीं आतीं और लाला भगतराम सदन के घर में बैठकर भी बाहर से मँगवाकर पानी पीना पसन्द करते हैं।[2] सुमन के कारण ही उमानाथ और सुभद्रा सदन के यहाँ नहीं आते।[3] पंडित पद्मसिंह भी अभी सुमन से दूर-दूर भागते हैं।[4] इस प्रकार प्रेमचन्द इन छोटे-छोटे सूक्ष्म (Subtle) संकेतों द्वारा यह स्पष्ट कर देते हैं कि 'सुमन' के 'उद्धार' का काम अभी पूरा नहीं हुआ है। अभी वह अधूरा ही पड़ा है और संभवतः उस दिन तक अधूरा रहेगा जब तक समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद रहेगा। जिस दिन इन सबका अन्त होगा सुमन के उद्धार का काम भी उसी दिन पूरा होगा, उससे पहले नहीं।[5]

वेश्याओं को नगर से बाहर बसाने, नगर के मुख्य सैर के स्थानों और पार्कों में उनके प्रवेश पर पाबन्दी लगाने तथा उनके नाच-मुजरों पर भारी टैक्स लगाने के प्रस्ताव की उपयोगिता के संबंध में भी सेवासदनकार पूर्णतः आश्वस्त नहीं है। स्वयं प्रस्तावक पद्मसिंह शर्मा के मन में प्रस्ताव की उपयोगिता के विषय में संकल्प-विकल्प उठते दिखाकर प्रेमचन्द यह संकेत करना नहीं भूलते कि उक्त प्रस्ताव को उपन्यासकार का हार्दिक समर्थन नहीं प्राप्त है।[6] स्वयं प्रस्तावकर्ता के मन में इस प्रकार की शंकाएँ और तर्क-

---

१. सेवासदन, पृ० ३१६
२. सेवासदन, पृ० ३२०
३. सेवासदन, पृ० ३२१, ३२२
४. सेवासदन, पृ० ३५२
५. सेवासदन, पृ० २७०
६. (क) "पद्मसिंह ने यह प्रस्ताव उठा तो दिया, लेकिन वह इस पर जितना ही विचार करते थे, उतने ही अन्धकार में पड़ जाते थे। उन्हें यह विश्वास न होता था कि वेश्याओं के निर्वासन से आशातीत उपकार हो सकेगा। संभव है, उपकार के बदले अपकार हो।"

—सेवासदन, पृ० १५०

(ख) "ज्यों-ज्यों दिन (बोर्ड में प्रस्ताव पेश होने का) निकट आता था पद्मसिंह का चित्त अशांत होता जाता था। उन्हें अनुभव होता था कि केवल इस प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने से ही उद्देश्य पूरा न होगा।"

—सेवासदन, पृ० २६८ (कोष्ठकबद्ध शब्द लेखक के)

(ग) "ज्यों-ज्यों उसके पास होने की आशा बढ़ती थी, उनका अविश्वास भी बढ़ता जाता था। × × × अपना प्रस्ताव उन्हें कुछ व्यर्थ-सा मालूम होता था। व्यर्थ ही नहीं, कभी-कभी उन्हें उससे लाभ के बदले हानि होने का भय होता था।"

—सेवासदन, पृ० २५०

वितर्क उठाकर प्रेमचन्द यह भली भाँति स्पष्ट कर देते हैं कि वे प्रस्ताव को वेश्या-समस्या का कोई वास्तविक समाधान नहीं समझते। इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचन्द के स्थान पर यदि कोई और आदर्शवादी साहित्यकार होता तो वह भी वेश्या-समस्या का यही अथवा इससे मिलता-जुलता अन्य कोई सुधारपरक समाधान ही सुझाता, लेकिन प्रेमचन्द की महानता इस बात में है कि वे अपनी वर्ग एवं युगजन्य आदर्शवादी और सुधार-वादी सीमाओं में रहते हुए भी सामाजिक यथार्थ से अपने साहित्य का संबंध-विच्छेद नहीं होने देते। यही कारण है कि वे स्वयं अपने द्वारा प्रस्तुत समाधानों के प्रति भी अपने विचारशील पाठकों के मन में संदेह की भावना जगाते चलते हैं। यही नहीं, प्रेमचन्द इससे आगे बढ़कर यह भी दिखाते हैं कि पद्मसिंह ने मूलतः यह प्रस्ताव वेश्याओं के प्रति घृणा से प्रेरित होकर पेश किया था।[1] प्रस्ताव के पीछे काम करने वाली पद्मसिंह की मनःस्थिति का इस प्रकार रहस्योद्घाटन करके प्रेमचन्द स्पष्ट कर देते हैं कि वे इस प्रस्ताव से संतुष्ट नहीं थे। क्या हम इस प्रस्ताव के आधार पर प्रेमचन्द को मध्यवर्गीय सुधारवादी प्रवृत्ति की कठोर भर्त्सना करने वाले आलोचकों से पूछ सकते हैं कि वह प्रस्ताव जिसके मूल में वेश्याओं के प्रति प्रेम, स्नेह अथवा सहानुभूति नहीं बल्कि घृणा की भावना हो, उसे प्रेमचन्द की विचारधारा का प्रतिनिधि कैसे माना जा सकता है?

'सेवासदन' पर आलोचकों का दूसरा आरोप यह है कि इसमें समस्या के आर्थिक पक्ष की पूर्ण अवहेलना की गई है। सेवासदनकार की युगजन्य सीमाओं को देखते हुए इसे गंभीर आरोप नहीं माना जा सकता, हालांकि प्रेमचन्द ने वेश्या-समस्या के आर्थिक पहलू की नितान्त उपेक्षा नहीं की है। वे कुवर अनिरुद्धसिंह द्वारा स्पष्टतम शब्दों में कहलवाते हैं: **"जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद हो? × × × जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अन्त होगा, उसी दिन दालमण्डी उजड़ जायगी, वे चिड़ियाँ उड़ जायँगी—पहले नहीं।"**[2] इन शब्दों के लेखक की प्रगतिशीलता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

स्वयं सुमन तथा 'सेवासदन' के कतिपय अन्य पात्रों की कुछ उक्तियों से संभवतः यह आभास हो सकता है कि सुमन के वेश्या बनने का कारण सामाजिक उतना नहीं जितना कि व्यक्तिगत है। आत्म-विगर्हणा की दाहक ज्वाला में जलते हुए सुमन के लग-भग सभी संबंधी और परिचित—पिता कृष्णचन्द्र, पति गजाधर, मामा उमानाथ तथा

(घ) "उन्हें अब यह निश्चय होता जाता था कि वर्तमान सामाजिक दशा के होते हुए इस प्रस्ताव से जो आशाएँ की गयी थी उनके पूरे होने की संभावना नहीं है।"

—सेवासदन, पृ० २७३

१. सेवासदन, पृ० २६३
२. सेवासदन, पृ० २७०

पद्मसिंह शर्मा—उसके वेश्या होने का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लेने लगते हैं,[1] किन्तु सुमन के जीवन-क्रम की पूर्वापरता सर्वथा इसके विपरीत है। सुमन ने भोली के पथ का अनुसरण 'केवल इन्द्रियों के सुखभोग'[2] अथवा अपनी 'विलास-तृष्णा' को शान्त करने[3] अथवा अपने हृदय की 'वासनाओं, लालसाओं और दुष्कामनाओं' को पूरा करने के लिए[4] अथवा अपने 'पूर्वजन्म के पापों' के कारण[5] नहीं किया था, जैसा कि वह अपने माथे पर लगे कलंक के टीके (Stigma) की भयंकरता को देखकर कालांतर में सोचने लगती है। व्यक्तिगत स्तर पर वास्तव में दोष न उसका है और न उसके पिता का, न उसके पति का और न उसके मामा का—दोष सबका है! अर्थात् दोष किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था का है। उपन्यास के लगभग सभी प्रमुख पात्र सुमन के जीवन की इस दुर्घटना के लिए अपने आपको जिम्मेदार ठहराते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द ने अप्रत्यक्ष रूप से यह दिखाने का प्रयास किया है, सुमन द्वारा वेश्यावृत्ति अपनाने का उत्तरदायित्व सम्मिलित रूप से सब पर है, किसी एक पर नहीं। दहेज की कुप्रथा—फलतः अनमेल विवाह—परिणामतः पति द्वारा स्त्री पर संदेह और उसे घर से निकलने पर विवश करना—अन्त में दालमंडी की देहरी। क्या इनमें अन्योन्याश्रित संबंध नहीं है? क्या सुमन केवल अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए ही दालमण्डी में कोठा सजाकर बैठती है? स्पष्ट है कि नहीं।

सुमन में और कुछ विशेषता हो या न हो लेकिन इतनी बात अवश्य है कि वह एक स्वाभिमानिनी लड़की है, जो अपना अपमान नहीं देख सकती—अपमानकर्ता चाहे

---

१. (क) कृष्णचन्द्र : "उसने जो कुछ किया, उसका दोष मुझ पर है।"

—सेवा०, पृ० २२८

× × ×

(ख) "गजाधर बोले, इसका कारण मेरा अन्याय था। यह सब मेरी निर्दयता और अमानुषीय व्यवहार का फल है।"

—सेवा०, पृ० २३२

× × ×

(ग) उमानाथ : "......लेकिन उमानाथ चिन्तासागर में डूबे हुए थे। उनका मन कह रहा था कि सुमन का सर्वनाश मेरे ही कारण हुआ।"

—सेवा०, पृ० १६४

× × ×

(घ) "पद्मसिंह—नहीं साहब, वह स्वभाव की बुरी स्त्री नहीं है। × × × × सच पूछिए तो हमारे पापों का दण्ड उसे भोगना पड़ा।"

—सेवा०, पृ० २०३

२. वही, पृ० ३४२
३. वही, पृ० २५६
४. वही, पृ० २६८
५. वही, पृ० २८२

स्वयं उनका पति ही क्यों न हो ! सुमन प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य की प्रथम विद्रोहिणी नारी है। वह अपने नित्य प्रति के जीवन में देखती है कि समाज में उसके समान एक सद्-गृहिणी का कोई सम्मान नहीं, कोई प्रतिष्ठा नहीं। वह कोई ऐसा आधार खोजना चाहती है जिसके बल पर अपने को भोली से अधिक सम्मान्य एवं श्रेष्ठ सिद्ध कर सके, किन्तु उसे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्यमिश्रित दुःख और खेद होता है कि धन ही नहीं धर्म भी भोली के कृपा-कटाक्ष का आकांक्षी है। रामनौमी के दिन जन्मोत्सव पर मंदिर में भोली का आदर-सत्कार देखकर उसका रहा-सहा भ्रम भी दूर हो जाता है।[1] जन्मोत्सव और मौलूद के अवसर पर, बेनी-बाग और ठाकुरद्वारे में और पद्मसिंह के यहां—सभी स्थानों पर भोली का सम्मान देखकर सुमन बार-बार अपने से पूछती है कि भोली का इतना आदर क्यों है और उसका क्यों नहीं ? सुमन द्वारा इस प्रश्न का उठाया जाना ही अपने आप में 'सेवासदन' और उसके रचयिता की सबसे बड़ी उपलब्धि है। सुमन के इस प्रश्न का प्रेमचन्द की उस आकांक्षा—जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है—से सीधा संबंध है।

स्पष्ट है कि गांधीजी का दृष्टिकोण मध्ययुगीन संतों का दृष्टिकोण है जब कि प्रेमचन्द का दृष्टिकोण एक प्रगतिशील समाज-सुधारक का दृष्टिकोण है। महात्मा गांधी एक धार्मिक संत की भाषा में अपनी इच्छाओं और तृष्णाओं पर अधिकार तथा संयम द्वारा इस समस्या का समाधान चाहते हैं जब कि प्रेमचन्द समस्या के सामाजिक कारणों का मुख्य रूप से एवं आर्थिक कारणों का आनुषंगिक रूप से विश्लेषण करते हुए वेश्याओं के सुधार द्वारा समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं। 'सेवासदन' के रचनाकाल तक गांधीवाद जैसे किसी सुनिश्चित जीवन-दर्शन का उदय या विकास नहीं हुआ था। लेकिन क्योंकि गांधीजी के मूल सिद्धान्त प्राचीन भारतीय संस्कृति के चिर परिचित सिद्धान्त हैं और प्रेमचन्द मूलतः उसी आदर्शवादी परंपरा में आते हैं, अतः 'सेवासदन' में उन तत्त्वों का मिलना आश्चर्य का विषय नहीं होना चाहिए।

भारतीय संस्कृति में सेवा, प्रेम और त्याग का आदर्श उतना ही प्राचीन है जितना

---

१. "रामनौमी के दिन सुमन कई सहेलियों के साथ एक वड़े मन्दिर में जन्मोत्सव देखने गयी। ×××मन्दिर के आंगन में तिल धरने की भी जगह न थी। ××× सुमन ने खिड़की से आंगन में झांका तो क्या देखती है कि वही उसकी पड़ोसिन भोली बैठी हुई गा रही है। सभा में एक-से-एक वड़े आदमी बैठे हुए थे, कोई वैष्णव तिलक लगाये, कोई भस्म रमाये, कोई गले में कंठी-माला डाले और रामनाम की चादर ओढ़े, कोई गेरुए वस्त्र पहने। उनमें से कितनों ही को सुमन नित्य गंगा-स्नान करते देखती थी। ×××भोली जिसकी ओर कटाक्षपूर्ण नेत्रों से देखती थी वह मुग्ध हो जाता था, मानों साक्षात् राधाकृष्ण के दर्शन हो गये। इस दृश्य ने सुमन के हृदय पर वज्र का-सा आघात किया। उसका अभिमान चूर-चूर हो गया। वह आधार जिस पर वह पैर जमाये खड़ी थी पैरों के नीचे से सरक गया। सुमन वहां एक क्षण भी खड़ी न रह सकी।"

—सेवासदन, पृ० २९-३०

कि नगराज हिमालय। यद्यपि सेवा, प्रेम और त्याग सहज मानवीय गुण हैं और इन्हें किसी वाद-विशेष के साथ संवद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु गांधी-दर्शन का सम्पूर्ण भवन इन्हीं पर खड़ा है। सेवासदनकार ने अंतिम निष्कर्ष में इन्हीं मानवीय गुणों के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। अंत में पद्मसिंह के हृदय में सच्ची सेवा की भावना का उदय होता है और वे लोक-निन्दा का भय त्यागकर वेश्याओं के सुधार-कार्य में रत हो जाते हैं। वे अनुभव करने लगते हैं कि वेश्याओं का सुधार घृणा से नहीं बल्कि प्रेम और सेवा से ही हो सकता है।[1] पं० पद्मसिंह के चार-पाँच मास के सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप तीन वेश्याएँ अपनी समस्त सम्पत्ति अनाथालय को दान कर देती हैं, बीस-पच्चीस वेश्याएँ अपनी लड़कियों को अनाथालय में भेजना स्वीकार कर लेती हैं और पाँच वेश्याएँ निकाह करने पर राजी हो जाती हैं।[2] इस प्रकार प्रेमचन्द दिखाते है कि निःस्वार्थ सेवा और सच्ची हित-कामना कभी निष्फल नहीं जाती, लेकिन दूसरी आत्माओं को प्रकाश-ज्योति से आलोकित करने के लिए पहले अपनी आत्मा का दिव्य एवं उज्ज्वल होना आवश्यक है।[3]

वेश्या-समस्या और भारतीय नारी की पराधीनता की समस्या के अतिरिक्त 'सेवासदन' में अन्य सामयिक राजनीतिक तथा आर्थिक हलचलों का भी चित्रण मिलता है। उदाहरणार्थ पद्मसिंह के प्रस्ताव को लेकर बोर्ड के हिन्दू और मुस्लिम सदस्यों द्वारा उसे जिस प्रकार साम्प्रदायिक रंग देने का प्रयास किया जाता है उससे तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक जीवन में प्रविष्ट साम्प्रदायिकता के संक्रामक कीटाणुओं का अच्छा परिचय मिलता है। विदेशी शासकों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन की इस दुर्बलता को पहचानकर भारत में अपने साम्राज्य की नींव इसी पारस्परिक फूट तथा वैमनस्य पर रखने का आयोजन किया था। यही कारण है कि 'सेवासदन' में सत्ताधारी वर्ग के कुछ व्यक्तियों द्वारा वेश्या-समस्या जैसे सामाजिक प्रश्न को भी साम्प्रदायिक रंग में रंगकर भारत की सामाजिक प्रगति को अवरुद्ध करने का प्रयास किया जाता है। किन्तु प्रेमचन्द इसके मूल में काम करने वाली प्रवृत्ति से पूरी तरह परिचित थे। रुस्तमभाई से उन्होंने कहलवाया है : "मुझे यह देखकर शोक हो रहा है कि आप लोग एक सामाजिक प्रश्न को हिन्दू-मुसलमानों के विवाद का स्वरूप दे रहे हैं। सूद के प्रश्न को भी यह रंग देने की चेष्टा की गयी थी। ऐसे राष्ट्रीय विषयों को विवादग्रस्त बनाने से कुछ हिन्दू साहूकारों का भला हो जाता है, किन्तु इससे राष्ट्रीयता को जो चोट लगती है उसका अनुमान करना कठिन है।"[4]

---

१. सेवासदन, पृ० २६४
२. सेवासदन, पृ० ३२३
३. सेवासदन, पृ० ३२३-२४
४. सेवासदन, पृ० १८०

'सेवासदन' का लेखक शोषण और अत्याचार के विरुद्ध कमर कस रहे भारत के किसानों को भी नहीं भूला है। प्रस्तुत उपन्यास का चेतू 'प्रेमाश्रम' के मनोहर और बलराज का पूर्वरूप है। वह भारत के उठते हुए किसान का प्रतिनिधि है। महन्त रामदास का सारा कारोबार 'श्री बांकेबिहारीजी' के नाम पर चलता है। "श्री बांकेबिहारीजी' लेन-देन करते थे और ३२) सैकड़े से कम सूद न लेते थे। वही मालगुजारी वसूल करते थे, वही रेहननामे-बैनामे लिखाते थे। 'श्री बांकेबिहारीजी' की रकम दबाने का किसी को साहस न होता था और न अपनी रकम के लिए कोई दूसरा आदमी उनसे फड़ाई कर सकता था। 'श्री बांकेबिहारीजी' को रुष्ट करके उस इलाके में रहना कठिन था।"[1] ३२) सैकड़े का सूद लेने वाले 'श्रीबांकेबिहारीजी' का यह व्यंग्यपूर्ण वर्णन प्रेमचन्द के तीव्र संवेदनशील हृदय के आलोड़न का सजीव चित्र है, जो दिखाता है कि सेवासदनकार धन और धर्म के इस अपवित्र गठबंधन (Unholy alliance) से पूरी तरह परिचित है। यज्ञ के नाम पर जमीदार महन्तजी अपने इलाके के प्रत्येक आसामी से हल पीछे पांच रुपया चन्दा उगाहने की आज्ञा देते हैं। किसी ने राजी से दिया, किसी ने उधार लेकर और जिसके पास न था उसे रुक्का ही लिखना पड़ा। भला 'श्री बांकेबिहारीजी' की आज्ञा को, जो उनकी जमीन के ही नही जमीर के भी मालिक हैं, कौन टाल सकता था? लेकिन चेतू अहीर धन और धर्म के सम्मिलित प्रतीक 'श्री बांकेबिहारीजी' की आज्ञा को टालने का दुस्साहस करता है। परिणाम इसका वही होता है जो होना चाहिए। इस दुस्साहस और अवज्ञा के बदले उस बूढ़े, दरिद्र किसान को ठाकुरद्वारे के सामने ठाकुरजी की साक्षी में मार ही नही सहनी पड़ती, बल्कि अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है।[2]

'सेवासदन' में साम्प्रदायिक वैमनस्य और जमींदार-किसान-संघर्ष के इस वर्णन के साथ पराधीन भारत की आत्म-ग्लानि और विदेशियों द्वारा उसके शोषण का चित्रण भी मिलता है। शान्ता मुगलसराय स्टेशन पर देखती है कि "उसके देशवासी सिर पर बड़े-बड़े गट्ठर लादे एक सकरे द्वार पर खड़े हैं और बाहर निकलने के लिए एक दूसरे पर गिरे पड़ते हैं। एक दूसरे तंग दरवाजे पर हजारों आदमी खड़े अन्दर आने के लिए धक्कमधक्का कर रहे हैं। लेकिन दूसरी ओर एक चौड़े दरवाजे से अंग्रेज लोग छड़ी घुमाते कुत्तों को लिये आते-जाते हैं। कोई उन्हें नहीं रोकता, कोई उनसे नहीं बोलता।"[3] विदेशी शासकों द्वारा स्वयं भारत के निवासियों के प्रति इस प्रकार का अन्यायपूर्ण और भेदभावपूर्ण व्यवहार उन दिनों एक बहुत ही सामान्य बात थी, लेकिन प्रेमचन्द ऊपर से अमहत्त्वपूर्ण दिखाई देने वाली इस तरह की छोटी-छोटी बातों की भी कथा-प्रवाह में

---

१. सेवासदन, पृ० ७
२. सेवासदन, पृ० ८
३. सेवासदन, पृ० २६५-६६

उपेक्षा नहीं करते। इस तरह के वर्णन दिखाते हैं कि प्रेमचन्द कथा कहते हुए अपने आस-पास के जीवन की कठोर विषमताओं और सामाजिक यथार्थ पर अपनी पैनी आलोचक-दृष्टि डालते चलते थे। ये वर्णन दिखाते हैं कि प्रेमचन्द की सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना कितनी विकसित एवं प्रबुद्ध थी। प्रेमचन्द के समस्त साहित्य में—और विशेषकर उपन्यास-साहित्य में, जहाँ कि इस प्रकार के वर्णनों के लिए अधिक गुंजाइश होती है—सामाजिक यथार्थ के ऐसे अनेकानेक खंड-चित्र बिखरे पड़े हैं।

भारत को स्वाधीन हुए एक दशाब्दी से भी तीन वर्ष ऊपर हो चुके हैं, लेकिन आज भी हम (अर्थात् भारत का शिक्षित वर्ग) अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी संस्कृति के उतने ही—बल्कि उससे कहीं अधिक—गुलाम हैं जितने लगभग आधी शताब्दी पहले 'सेवासदन' के प्रणयन-काल के समय थे। सन् १९१४-१८ के लगभग 'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने लिखा था : "यह हमारे साथ कितना बड़ा अन्याय है, हम कैसे ही चरित्रवान् हों, कितने ही बुद्धिमान् हों, कितने ही विचारशील हों, पर अंग्रेजी भाषा का ज्ञान न होने से उनका कुछ मूल्य नहीं, हमसे अधम और कौन होगा जो इस अन्याय को चुपचाप सहते हैं।"[1] कुँवर अनिरुद्धसिंह के द्वारा प्रेमचन्द ने भारत के शिक्षित वर्ग से उस समय जो प्रश्न पूछा था वह आज भी अनुत्तरित ही है : "मेरी समझ में नहीं आता कि अंग्रेजी भाषा बोलने और लिखने में लोग क्यों अपना गौरव समझते हैं ?"[2] प्रेमचन्द इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि 'जबान की गुलामी ही असली गुलामी है।'[3] दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा के चतुर्थ उपाधि वितरणोत्सव के अवसर पर अपने दीक्षान्त भाषण में उन्होंने घोषित किया था : "हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। × × × अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सकें, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा।"[4] इसी भाषण में उन्होंने यह भी कहा था कि "जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायेंगे।"[5] स्पष्ट है कि शासकों के रूप में अंग्रेजों के भारत से चले जाने के बाद भी अभी 'वह दिन' नहीं आया है।

राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता और उसका स्वरूप तथा अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से भारत का कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है—आदि प्रश्नों पर महात्मा गांधी और प्रेमचन्द के विचारों में अद्भुत साम्य मिलता है। हिंदी साहित्य सम्मेलन के आठवें अधिवेशन के सभापति-पद से सन् १९१८ में गांधीजी ने घोषित किया था : "जब तक हम

---

१. सेवासदन, पृ० २८८
२. वही, पृ० २५२
३. साहित्य का उद्देश्य, पृ० १७५
४. वही, पृ० १५०
५. वही, पृ० १५३

हिंदी भापा को राष्ट्रीय और अपनी अपनी प्रान्तीय भाषाओं को अुनका योग्य स्थान नहीं देते, तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रीय और प्रान्तीय भापाओं को उनका प्राप्य उस समय तक नहीं मिल सकता जब तक अंग्रेजी भापा का प्रभुत्व इसी तरह कायम रहता है। गांधीजी मानते थे कि "कुछ सौ अमल-दारों या हाकिमों की सहूलियत के लिअे करोड़ों लोगों को अेक परदेशी भापा सीखनी पड़ती है, यह वेहूदेपन की हद है।"[2] यह उल्लेखनीय है कि गांधीजी ने सन् १६०८ से ही इस प्रश्न पर विचार करना आरभ कर दिया था। 'हिन्द स्वराज्य' नामक अपनी पुस्तिका मे, जिसे उन्होने सन् १६०८ मे लदन से साउथ अफ्रीका लौटते हुए लिखा था, उन्होने अपने देशवासियो को चेतावनी दी थी कि यदि अग्रेजी भापा का बोल-बाला इसी तरह बढता रहा तो आने वाली पीढियां एक दिन हमे कोसेगी।[3] यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रेमचन्द के समान ही गांधीजी ने भी अग्रेजी भापा का विरोध उसके प्रति किसी प्रकार के द्वेष से प्रेरित होकर नही किया है। वे मानते थे कि "अंग्रेजी का ज्ञान भारतवासियों के लिअे वहुत आवश्यक है। लेकिन अिस भापा को अुसका अुचित स्थान देना अेक वात है, अुसकी जड़ पूजा करना दूसरी वात है।"[4] इसमे सन्देह नही कि भारत के तत्कालीन राजनीतिक नेताओ मे गांधीजी ही पहले व्यक्ति थे जिन्होने भारत की राष्ट्रीय भापा के प्रश्न पर शुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण से विचार किया। उन्ही के प्रयत्नों से कांग्रेस के अधिवेशनों मे पहले-पहल अग्रेजी के स्थान पर हिंदी (जिसे गांधीजी उस समय हिन्दुस्तानी कहते थे) का व्यवहार आरभ हुआ। श्रीमती एनी वेसेण्ट द्वारा कांग्रेस के अधिवेशनो मे हिन्दुस्तानी के प्रयोग के विरोध का गांधीजी ने जो करारा उत्तर दिया था वह आज भी भारत के अंग्रेजी-भक्त नेताओं के लिए एक चुनौती है।[5] भारत में

१. राष्ट्रभापा हिन्दुस्तानी : गांधीजी, पृ० १५ (अहमदावाद, १६५६)
२. राष्ट्रभापा हिन्दुस्तानी, पृ० १६
३. Hind Swaraj or Indian Home Rule, P.65-66
४. राष्ट्रभापा हिन्दुस्तानी, पृ० १३
५. "मै देखता हू कि अवकी काग्रेस का सारा काम खासकर हिन्दुस्तानी मे होने की वजह से श्रीमती अेनी वेसेण्ट नाराज हुअी है, और वे अिस आश्चर्यजनक परिणाम पर पहुची है कि अिससे काग्रेस राष्ट्रीय न रहकर अेक प्रान्तीय सभा बन गई है।......

"सन् १६१५ से मै अेक के सिवा काग्रेस की सभी बैठकों में शामिल हुआ हू। ×××× मैने सैकड़ों प्रतिनिधियों और हजारों प्रेक्षकों से अिसकी चर्चा की है; लोकमान्य तिलक और श्रीमती वेसेण्ट सहित सभी लोकसेवकों की अपेक्षा मै शायद सारे देश मे ज्यादा घूमा-फिरा हूं और पढे-लिखों व अनपढों को मिलाकर सबसे ज्यादा लोगों से मिला हू; और मै सोच-समझ-कर अिस नतीजे पर पहुचा हू कि राष्ट्र का कारबार चलाने के लिअे या विचार-विनिमय के लिअे हिन्दुस्तानी को छोडकर दूसरी कोअी भापा शायद ही राष्ट्रीय माध्यम बन सके। ×××× साथ ही व्यापक अनुभव के आधार पर मेरी यह पक्की राय बनी है कि पिछले दो सालों को छोडकर बाकी सब सालों में काग्रेस का करीब-करीब सारा ही काम अंग्रेजी मे चलाने से राष्ट्र

अंग्रेजी के प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए सन् १९०८ में गांधीजी ने अपने देशवासियों के विचारार्थ जो योजना रखी थी वह स्वतन्त्र भारत की भाषा-संबंधी गुत्थी सुलझाने के लिए संभवत: सर्वाधिक व्यावहारिक योजना है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास में सामान्यत: और हिंदी या हिन्दुस्तानी के विकास में विशेषत: गांधीजी का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचन्द इस तथ्य से परिचित थे। सन् १९३४ में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था : "मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गांधी के सिवा किसी भी दिमाग ने कौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी और उस पर जोर नहीं दिया।"[2]

'सेवासदन' का लेखक अपने आगामी कार्यक्रम की सूचना देना भी नहीं भूला है। चेतू अहीर वाली घटना का उल्लेख किया जा चुका है। 'सेवासदन' के अंतिम पृष्ठों में वह दिखाता है कि किस तरह एक संगीत पाठशाला में 'दयामयि भारत को अपनाओ' आदि गीत सुनकर सदनसिंह के हृदय में किसानों की सेवा के भाव उठते हैं, किन्तु जब उसे मालूम होता है कि कुंवर अनिरुद्धसिंह एक 'कृषि सहायक सभा' खोलने वाले हैं तो किसानों के प्रति उसकी समस्त सहानुभूति एक क्षण में काफूर हो जाती है और वह जमींदारों के स्वत्वों पर इस हमले से अपने वर्ग की रक्षा करने के उपाय सोचने लगता है। प्रेमचन्द कहते हैं : "वह जमींदार था और कृषकों पर दया करना चाहता था, पर उसे मंजूर न था कि कोई उसे दबाये और किसानों को भड़काकर जमींदारों के विरुद्ध खड़ा कर दे।"[3]

को बहुत नुक़सान अुठाना पड़ा है। × × × × अिसका अेक आश्चर्यजनक परिणाम यह हुआ है कि अिन तमाम वर्षों के लम्बे समय में कांग्रेस दिखाने भर को राष्ट्रीय रही है; लोकशिक्षा की सच्ची कसौटी पर अुसे कसें, अुसकी क़ीमत कूतें, तो कहना होगा कि वह कभी राष्ट्रीय नहीं थी।"

(यंग अिंडिया, २१-१-१९२०)

—राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, पृ० १५-१६-१७

१. "Every cultured Indian will know in addition to his own provincial language, if a Hindu, Sanskrit ; if a Mahomedan, Arabic ; if a Parsee, Persian ; and all, Hindi. Some Hindus should know Arabic and Persian ; some Mahomedans and Parsees, Sanskrit. Several Northerners and Westerners should learn Tamil. A universal language for India should be Hindi, with the option of writing it in Persian or Nagri characters. In order that the Hindus and the Mahomedans may have closer relations, it is necessary to know both the characters. And, if we can do this, we can drive the English language out of the field in a short time."

—Hind Swaraj or Indian Home Rule, P. 67

२. साहित्य का उद्देश्य, पृ० १८३

३. सेवासदन, पृ० ३३६

चेतू अहीर वाली घटना के द्वारा अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष के लिए तत्पर हो रहे भारतीय किसान के अदम्य साहस का चित्रण प्रेमचन्द का अभीष्ट था। लेकिन सदनसिंह की इस प्रतिक्रिया के द्वारा वे यह दिखाते हैं कि व्यक्ति के रूप में उदार से उदार जमींदार भी अपने वर्ग के अधिकारों के प्रश्न पर कितनी जल्दी परोपकारिता (Philanthropy) और उदारता की नकाब को उतार फेंकता है। 'प्रेमाश्रम' में चित्रित जमींदार-किसान-संघर्ष के यही दो पहलू हैं।

गांधीयुगीन कृतियाँ

१. 'प्रेमाश्रम'—

'प्रेमाश्रम' एक साथ कई दृष्टियों से हिंदी में एक सर्वथा नवीन एवं क्रांतिकारी प्रयोग है। यह जमींदार ज्ञानशंकर और उसके कारिन्दे गौस खाँ और फैजुल्लाह खाँ तथा विदेशी शासन के प्रतिनिधि डिप्टी ज्वालासिंह, तहसीलदार, थानेदार दयाशंकर और अदालती अमलों के विरुद्ध लखनपुर के किसानों के संघर्ष की गाथा है। इसमें सन्देह नहीं कि इतने व्यापक एवं प्रगतिशील स्तर पर किसान-जीवन का चित्रण हिंदी कथा-साहित्य के उस युग में ही नहीं, आज भी विरल है। लेकिन 'प्रेमाश्रम' केवल जमींदार-किसान-संघर्ष का चित्रण प्रस्तुत करने वाला उपन्यास ही नहीं है, वह अपने युग के सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थ को रूपायित करने वाला एक अपूर्व महाकाव्य भी है। यही कारण है कि प्रेमाश्रमकार व्यक्ति नायक और खलनायक के स्थान पर उपन्यास में दो वर्गों को—शोषक और शोषित वर्गों को—ही आमने-सामने खड़ा कर देता है। व्यक्ति के स्थान पर पूरे वर्ग को प्रमुखता दे देना कलात्मक दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' का एक दोष माना जा सकता है, लेकिन इसमें दो मत नहीं हो सकते कि वर्ग-विभाजित समाज का एक संश्लिष्ट वस्तुवादी यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। 'प्रेमाश्रम' एक व्यक्ति की कहानी नहीं बल्कि पूरे समाज की कहानी है। यही कारण है कि उसमें वर्ग-संघर्ष इतना अधिक उभरकर सामने आ सका है। हिंदी कथा-साहित्य में तो 'प्रेमाश्रम' एक सीमा-चिह्न है ही, स्वयं कथाकार प्रेमचन्द के साहित्यिक-जीवन के विकास-पथ में भी वह एक 'लैंड-मार्क' (Land mark) है। हिंदी का तो वह प्रथम राजनीतिक उपन्यास है ही, बंकिम के 'आनन्दमठ' को छोड़कर शायद भारत का भी प्रथम राजनीतिक उपन्यास है।

महात्मा गांधी का प्रथम असहयोग-आंदोलन, जिसके फलस्वरूप भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक अपूर्व राजनीतिक और सामाजिक जागृति का उदय एवं प्रसार हुआ, ही 'प्रेमाश्रम' का प्रेरणा स्रोत है। गांधीजी ने भारत के स्वाधीनता-संग्राम को नागर राजनीतिज्ञों की आरामकुर्सी-मार्का राजनीति की सीमित परिधि से निकालकर देश की कोटि-कोटि जनता तक पहुँचाया। उन्होंने कहा कि गाँव ही भारत के प्राण हैं, अतः उनकी उपेक्षा करके हम अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। प्रो० एन० जी० रंगा के

शब्दों में कांग्रेस ने सन् १६०५–'१६ के युग में भारतीय किसानों की कठिनाइयों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया था जितना उद्योगपतियों की आवश्यकताओं की ओर।[1] सच तो यह है कि गांधीजी से पूर्व कांग्रेस के जितने भी उदार या अनुदार दलीय नेता हुए, भारतीय समाज के इस सर्वाधिक शोषित अंग—किसानों—की ओर उनका ध्यान गया ही नहीं। प्रेमचन्द ने एक बार अपनी पत्नी से कहा था कि गांधीजी राजनीति के माध्यम से भारत के किसानों और मजदूरों के सुख-चैन के लिए जो प्रयत्न कर रहे हैं, 'प्रेमाश्रम' उन्हीं प्रयत्नों का साहित्यिक रूपान्तर है।[2] 'प्रेमाश्रम' को यद्यपि गांधीवाद का साहित्यिक रूपान्तर तो नहीं माना जा सकता, किन्तु इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उसका लेखक गांधी-दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित है। महात्मा गांधी के पश्चात् प्रेमचन्द ही भारतीय दरिद्रनारायण के हृदय की धड़कन को इतनी सहृदयता एवं निकटता से सुन और पहचान सके हैं। ग्राम्य-जीवन का इतना बड़ा चितेरा हिंदी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी नहीं है। लेकिन प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में जिस किसान-आंदोलन का चित्रण किया है, उसकी कल्पना उन्हें गांधीजी से नहीं मिली थी। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में "कांग्रेस के मंच से सबसे प्रथम हमें सन् १६३० में जनता से संबंध रखने वाले आर्थिक प्रश्नों की चर्चा सुनायी देती है और यह चर्चा उठी महात्माजी द्वारा लार्ड इरविन के सम्मुख रखी गयी मांगों के रूप में। यह मांग थी लगान को कम से कम ५० फीसदी कम कर देने की। इस मांग का कारण यही था कि किसानों की आवाज अब कांग्रेस तक आने लगी थी। आर्थिक प्रश्नों की ओर कांग्रेस का ध्यान इस समय से बढ़ने लगता है। करांची कांग्रेस में और उसके बाद लखनऊ कांग्रेस में पं० नेहरू ने जनता से संबंध रखने वाले प्रश्नों को कांग्रेस द्वारा हाथ में लेने की आवश्यकता पर जोर दिया। इसका कारण यह था कि इसके पहले बारडोली (गुजरात) और यू० पी० में किसानों की समस्या राजनीतिक क्षेत्र में आकर हमारी राष्ट्रीय लड़ाई का मुख्य

---

१. "The Indian National Congress 'did not lay as much stress on the need for relief for our peasants during 1905—19 as it did on the needs of Indian *industrialists*', *such as protection, etc.* (N. G. Ranga) Especially, the Indian nationalists, on the whole, avoided reference to the mass of tenants living under the Zemindari. 'Lord Curzon's challenge to Romesh Chandra Dutt, an ex-president of the Congress, that it was the government which had done more to protect tenants from the rapacity of the zemindars remained unanswered.'" (N. G. Ranga)

—Social Background of Indian Nationalism, P. 165

२. प्रेमचन्द : घर में, पृ० ६५

हथियार बन गयी थी।"[1] यद्यपि भारत के किसानों में सन् १९१८ से ही राजनीतिक चेतना का विकास होने लगा था और उन्होने अपना संगठन करना शुरू कर दिया था,[2] लेकिन कांग्रेस ने बारदोली से पूर्व उनकी आर्थिक माँगों को मनवाने के लिए किसी व्यापक किसान-आंदोलन का आश्रय लेने की दिशा में नहीं सोचा था। सन् १९१८ में प्रयाग में श्रीधर बलवन्त जोधपुरकर उर्फ बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में एक किसान-सभा स्थापित की गई थी। सन् '२० तक आते-आते किसान-सभा का काम तेजी से आगे बढ़ने लगा। प्रयाग से आरंभ होकर यह किसान-आदोलन परतापगढ, जौनपुर, रायबरेली आदि अवध के जिलों में भी फैल गया। किसानो की माँगें थीं—(१) बेदखली पर रोक; (२) दस्तूर से ज्यादा अबवाब न हो, (३) बेगार पर रोक; (४) जुर्मानों का बन्द होना; तथा (५) गैरकानूनी टैक्सो का बन्द होना। किसानो को प्रतिज्ञा लेनी पडती थी कि वे सदा शान्त रहेगे, गैरकानूनी टैक्स नही देगे; बिना मजदूरी लिए बेगार नही करेगे; भूसा, रसद आदि बाजार-भाव पर ही देगे; नजराना नही देगे, बेदखल खेत को दूसरा किसान नही लेगा; लगान ठीक समय पर देगे इत्यादि। इस किसान-आंदोलन के संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि वह साम्प्रदायिकता से सर्वथा मुक्त था। किसानों के दृढ संगठन को देखकर अधिकारियों को उनकी कुछ माँगें स्वीकार करनी पड़ी थी।[3] अस्तु,

किसान-आंदोलन की कल्पना प्रेमचन्द को चाहे गांधीजी से न मिली हो, लेकिन इतना स्पष्ट है कि 'प्रेमाश्रम' मे उन्होने किसान-समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है वह उनकी विचारधारा पर गाधीवाद के प्रभाव का स्पष्ट परिचायक है। उपन्यास का नायक प्रेमशंकर प्रेमचन्द के गांधीवादी आदर्शों का ही प्रतीक है।

जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं अपने वर्तमान रूप में जमींदारी प्रथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन है। जमीदार यहाँ पहले भी थे लेकिन वे जमीन के मालिक नही थे। अतः उन्हे किसानों को बेदखल करने का कोई अधिकार नही था। भारत आकर अंग्रेजों

---

१. राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० १३८

२. "It was after 1918 that the kisans began to develop political consciousness, take part in organized national struggles and subsequently even build up their own organizations under their own flag and programme, and organized struggles for the fulfilment of that programme under their own leadership.

"There had, however, taken place before 1918, a number of peasant movements which were spontaneous, spasmodic, and having limited and local economic aims."

—Social Background of Indian Nationalism, P. 164

३. राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० १११–११२

ने जल्द ही यह महसूस कर लिया कि साम्राज्य की सुरक्षा के लिए किसानों और शास के मध्य एक ऐसे शक्तिशाली वर्ग की नितान्त आवश्यकता है, जो उनके शासन त शोषण में मुख्य सहायक ही नहीं बल्कि सामाजिक पुश्ता (Social buttress) भी ब सके। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द एक बहुत ही सूक्ष्म संकेत के द्वारा दिखाते हैं कि सन् १८५ के स्वाधीनता-संग्राम में तन-मन से अंग्रेजों की सहायता करने वाले देशद्रोही ही आज जमींदार, ताल्लुकेदार और रायसाहब बने हुए हैं।[1]

प्रेमचन्द मानते थे कि किसान और शासन के मध्य किसी तीसरे वर्ग की को आवश्यकता नहीं है। उपन्यास का गांधीवादी नायक प्रेमशंकर उनके इसी दृष्टिकोण क प्रतिनिधि है। वह डिप्टी ज्वालासिंह से कहता है : "**भूमि उसकी है जो उसको जोते शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शान्ि और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती हो ही नहीं सकती। किसी तीस वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।**"[2] प्रेमशंकर यद्यपि समाज में किसी तीसरे वर्ग क आवश्यकता स्वीकार नहीं करता, किन्तु गांधीय आदर्शों से अनुप्राणित होने के कारए वह वर्त्तमान व्यवस्था के लिए जमींदार वर्ग को दोषी नहीं ठहराता। वह मानता है वि दोष जमींदारों, ताल्लुकेदारों और रईसों का नहीं बल्कि प्रथा का है, जिसके कारए समाज का बल, बुद्धि और विद्या में श्रेष्ठ तथा हृदय और मस्तिष्क के गुणों से अलंकृत यह अंग आलस्य, विलास और अविचार के बंधनों में जकड़ा हुआ है।[3] मायाशंकर भी उपन्यासकार की इसी विचारधारा का प्रतिनिधि है। वह मानता है कि '**भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है।**'[4] किसी तीसरे उपजीवी वर्ग को किसानों के परिश्रम पर ऐश

---

१. "इसे रियासत कहना भूल है। यह निरी दलाली है। ×××× नवाबों के जमाने में किसी सूबेदार ने इस इलाके की आमदनी वसूल करने के लिए मेरे दादा को नियुक्त किया था। मेरे पिता पर भी नवाबों की कृपा-दृष्टि बनी रही। इसके बाद अंग्रेजों का जमाना आया और यह अधिकार पिताजी के हाथ से निकल गया। लेकिन राज-विद्रोह के समय पिताजी ने तनमन से अंग्रेजों की सहायता की। शांति स्थापित होने पर हमें वही पुराना अधिकार फिर मिल गया। यही इस रियासत की हकीकत है।"

—प्रेमाश्रम, पृ० २६५

२. प्रेमाश्रम, पृ० १४२

३. प्रेमाश्रम, पृ० १४२

४. "भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष रूप में ले या कोई इससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य-पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्त्तमान समाज-व्यवस्था का कलंक चिन्ह समझना चाहिए।"

—प्रेमाश्रम, पृ० ३८२

करने का अधिकार दिया जाना किसी भी अवस्था में न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार 'प्रेमाश्रम' के लेखक ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बिना किसी लाग-लपेट के अपना मत प्रकट कर दिया है कि जमीन पर अधिकार उसे जोतने वाले किसान का ही होना चाहिए, किसी अन्य व्यक्ति या वर्ग का नहीं।[1] 'प्रेमाश्रम' का सन्देश यह है कि किसान को अपने परिश्रम के फल का साधिकार उपभोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। ऐसी समाज-व्यवस्था—जिसमें मेहनत करे मनोहर, बलराज, बिलासी, कादिर, दुखरन भगत, सुक्खू कुर्मी, डपटसिंह आदि और उसका फल भोगें ज्ञानशंकर, रानी गायत्री, राय कमलानंद, गौस खाँ, डिप्टी ज्वालासिंह, वकील इर्फान अली, डाक्टर प्रियनाथ, तहसीलदार, थानेदार दयाशंकर आदि—का अन्त जितना शीघ्र हो उतना ही अच्छा। प्रेमाश्रमकार निस्सन्देह इस घृणित समाज-व्यवस्था का अन्त चाहता है, लेकिन गांधी के आदर्शों से प्रभावित होने के कारण अपने इस लक्ष्य तक वह हृदय-परिवर्तन के अहिंसात्मक सुधारवादी मार्ग पर चलकर ही पहुँचना चाहता है। प्रेमशंकर और मायाशंकर के चरित्र की अवतारणा के द्वारा उसने अपने इसी विश्वास की प्रतिष्ठा की है। प्रेमशंकर का चरित्र गांधी-दर्शन के इस विश्वास का उज्ज्वल प्रमाण है कि एक अकेला व्यक्ति भी अपनी त्यागपूर्ण और निस्स्वार्थ सेवा के द्वारा एक महान् रक्तहीन क्रांति का अगुआ बन सकता है तथा पूरे समाज के जीवन की धारा को मोड़ सकता है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि प्रेमशंकर के जीवन से प्रेरणा ग्रहण करके मायाशंकर अपने राज्य-तिलक के अवसर पर स्वेच्छापूर्वक अपना सपूर्ण इलाका किसानों में बाँट देता है।[2] इस प्रकार मायाशंकर के इस दैवी किन्तु कृत्रिम त्याग और उधर प्रेमशकर के निरन्तर सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप लखनपुर और हाजीपुर में आदर्श रामराज्य स्थापित हो जाता है। उपन्यास के उपसंहार के रूप में प्रेमचन्द ने जिस समृद्ध लखनपुर का मोहक चित्र अंकित किया है वह गांधीजी की कल्पना के आदर्श ग्राम से अत्यधिक साम्य रखता है। दो ही सालों में लखनपुर का

---

१. "'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने 'ज़मीन जोतने वालों की' सिद्धान्त का जोरों के साथ प्रतिपादन किया है और अपनी दृढ़ राय व्यक्त की है कि जमींदारी प्रथा का अन्त होना चाहिए; उसके बिना न तो भारत का सामाजिक जीवन उन्नत हो सकता है, न किसान सुखी और संपन्न हो सकता है।"
—'प्रेमाश्रम' के मुख पृष्ठ पर प्रकाशक की टिप्पणी

२. "मुझे किसानों की गर्दन पर अपना जुआ रखने का कोई अधिकार नहीं है। × × × × मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करता हूँ जो प्रथा, नियम और समाज व्यवस्था ने मुझे दिये हैं। मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बंधन से मुक्त करता हूँ। वह न मेरे असामी हैं, न मैं उनका ताल्लुकेदार हूँ। वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं, आज से वह अपनी जोत के स्वयं जमींदार हैं। अब उन्हें मेरे कारिन्दों के अन्याय और मेरी स्वार्थ-भक्ति की यन्त्रणाएँ न सहनी पड़ेंगी। वह इजाफे, एखराज, बेगार की विडम्बनाओं से निवृत्त हो गये।"
—प्रेमा०, पृ० ३८३

कायाकल्प हो जाता है। वहाँ अब विपन्नता के स्थान पर सम्पन्नता का राज्य है।[1] २० बीघे का काश्तकार कादिर पहले १००) लगान देता था और दस-बीस रुपये साल ऊपर से नजराने में निकल जाते थे। वही कादिर अब केवल २०) लगान देता है। सबसे बड़ी बात यह कि उसे अब किसी की धौंस नहीं सहनी पड़ती। घर में हांड़ियों की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन आ गए हैं।[2] इस अहिंसात्मक क्रांति से प्रेरित होकर सुक्खू चौधरी अपनी चालीस बीघे जमीन गाँव के भूमिहीनों में बाँट देता है।[3] आने रुपये का व्याज लेने वाला बिसेसर साह अब रुपये सैंकड़ का ही सूद लेता है।[4] गाँव में अब एक वाचनालय भी है जिसमें कई अच्छे-अच्छे पत्र आते हैं।[5] पहले जहाँ परस्पर द्वेष, ईर्ष्या, फूट, अहंकार आदि का बोलबाला था वहाँ अब सद्भाव, सहयोग और आत्मनिर्भरताजन्य सुख, शांति तथा आत्मोल्लास है।[6]

इसमें संदेह नहीं कि 'प्रेमाश्रम' के इस 'यूटोपियन' (Utopian) अंत की प्रेरणा प्रेमचन्द को गांधीजी से मिली थी। उपन्यास का नवयुवक किसान पात्र बलराज माया-शंकर से कहता है: "अब आपकी दया से गाँव में रामराज है।"[7] यहाँ पर प्रेमचन्द ने केवल 'रामराज्य' शब्द ही गांधी से ग्रहण नहीं किया है, बल्कि उस शब्द के पीछे महात्मा गांधी का जो एक निश्चित जीवन-दर्शन है उसे भी ग्रहण कर लिया है। अर्थात् प्रेमाश्रम-कार ने रामराज्य का लक्ष्य ही नहीं वरन् उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन भी गांधी से ग्रहण किए हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि भारतीय लोक-जीवन में रामराज्य शब्द के प्रयोग का इतिहास गांधी से ही आरंभ नहीं होता। भारतीय जनता स्यात् शताब्दियों से रामराज्य को आदर्श राज्य और राम को आदर्श राजा के रूप में स्मरण करती आई है। रामराज्य को आदर्श राज्य अथवा 'मानव सभ्यता तथा संस्कृति के उच्चतम सोपान' के रूप में ग्रहण करना शायद विकासवाद के नियमों के विरुद्ध हो

---

१. "दो साल हो गये हैं। संध्या का समय है। बाबू मायाशंकर घोड़े पर सवार लखनपुर में दाखिल हुए। उन्हें वहाँ बड़ी रौनक और सफाई दिखायी दी। प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे उनमें बड़े-बड़े तख्ते बिछे हुए थे। अधिकांश घरों पर सुफेदी हो गयी थी। फूस के झोंपड़े गायब हो गए थे। अब सब घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिए पक्की चरनियाँ बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बंधे हुए नजर आते थे। पुराने चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कुंआ और धर्मशाला थी।"

—प्रेमाश्रम, पृ० ३८६

२. प्रेमाश्रम, पृ० ३८७

३. प्रेमाश्रम, पृ० ३८८

४. प्रेमाश्रम, पृ० ३८८

५. प्रेमाश्रम, पृ० ३८६

६. प्रेमाश्रम, पृ० ३८६

७. प्रेमाश्रम, पृ० ३८६

(क्योंकि रामराज्य को यदि एक ऐतिहासिक घटना मान भी लिया जाए—जो कि काफी संदिग्ध है—तब भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस बीच मानव ने कोई प्रगति नहीं की है),[१] लेकिन जन-साधारण की मान्यताएँ और विश्वास सदा विकासवाद के नियमों से ही परिचालित नहीं होते। अपनी कल्पना के आदर्श समाज के लिए एक शुद्ध हिन्दू धार्मिक शब्द अपनाकर महात्मा गांधी ने राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचय नहीं दिया—इसमें संदेह नहीं। इस शब्द के प्रयोग ने कतिपय मुसलमानों की इस आशंका को बल ही प्रदान किया कि कांग्रेस और गांधीजी भारत में एक हिन्दू तानाशाही स्थापित करना चाहते हैं।

स्वभावत. यहाँ यह प्रश्न उठता है कि लखनपुर का यह तथाकथित रामराज्य वास्तविक, संभव और सामाजिक रूप से व्यावहारिक है या नहीं ? क्या समस्त जमींदार वर्ग अर्थात् शोपक वर्ग को भावुक और आदर्शवादी मायाशंकर के समान अपने विशिष्टाधिकारों एवं व्यक्तिगत संपत्ति का स्वेच्छापूर्वक त्याग करने पर राजी किया जा सकता है ?[२] इस प्रश्न के उत्तर पर ही पहले प्रश्न का उत्तर निर्भर करता है। हिंदी में 'रामराज्य' शब्द जिस विशिष्ट अर्थ एव भावना को द्योतित करता है अंग्रेजी में उसके लिए Utopia शब्द है, जिसका अर्थ ही अव्यवहार्य, काल्पनिक और असंभव है।[३] स्पष्ट

---

१. प्रगतिवाद का रूपरेखा : मन्मथनाथ गुप्त, पृ० २४५ (दिल्ली, १९५२)

२. "......मान लिया इस क्षेत्र में सौभाग्य से एक ऐसा जमींदार मिल गया, जिसने स्वेच्छापूर्वक अपने शोपणाधिकार का त्याग दिया, और इस प्रकार सारी समस्यायें हल हो गई, किन्तु जहा ऐसे जमींदार न मिले जो इस प्रकार आदर्शवाद में आकर अपना सर्वस्व स्वाहा करने को तैयार हों......उन लाख में ९९९९९ क्षेत्रों मे क्या हल है ? अवश्य ही प्रेमाश्रम के लेखक के निकट इसका कोई उत्तर नहीं है, न इसका कोई उत्तर उस विचारधारा के पास है, जो इस रंगीन आशा का पोपण करती है कि जो भक्षक हैं वे ही रक्षक और ट्रस्टी होंगे।"

—कथाकार प्रेमचन्द, पृ० ७०७ (प्रथम संस्करण, १९४७)

३. "Utopian : काल्पनिक, अव्यवहार्य।"

—A Comprehensive English-Hindi Dictionary :
Raghu Vira, P. 1513

× × ×

"Utopia : An impossibly ideal scheme, esp. for social improvement." —The Oxford English Dictionary, Vol. XI. P. 486

× × ×

"Utopia : an ideal commonwealth whose inhabitants exist under perfect conditions. Hence *Utopian* is used to denote a visionary reform, which fails to recognize defects in human nature. The word first occurs in Sir Thomas More's *Utopia*,......... ....(1516)"

—Encyclopaedia Britannica, Vol. 22 P. 915

है कि जिस शब्द का अर्थ ही अव्यवहार्य और काल्पनिक हो, उसकी व्यावहारिकता और वास्तविकता का प्रश्न नहीं उठता !

यहाँ पर यह संकेत कर देना अनुचित नहीं होगा कि हमारा अभिप्रेत यह सिद्ध करना नहीं है कि लखनपुर में प्रेमचन्द ने 'पृथ्वी पर स्वर्ग' की जो कल्पना की है वह अवास्तविक अथवा अव्यवहार्य है। इसके विपरीत हमारा मन्तव्य केवल इतना है कि जिन साधनों के द्वारा प्रेमाश्रमकार ने यह भू-स्वर्ग अवतरित किया है वे अव्यवहार्य और अवास्तविक हैं। अर्थात् हमारा मतभेद साध्य से नहीं साधनों से है।

पीछे संकेत किया जा चुका है कि गांधी-दर्शन मूलतः एक आध्यात्मिक जीवन-दर्शन है। अतः वह मानता है कि घोरतम पतन की अवस्था में भी प्रत्येक मनुष्य में दैवी अंश—जिसे अधिक व्यापक शब्दों में मनुष्यता भी कहा जा सकता है—वर्त्तमान रहता है। अतएव सत्याग्रही अपनी दृढ़ सत्यनिष्ठा और सहिष्णुतापूर्वक कष्ट-सहन की अनन्त क्षमता के कारण एक-न-एक दिन अवश्य अन्यायी और शोषक की पशुता पर विजय प्राप्त करने में सफल हो सकता है। गांधीजी के अनुसार बड़े-से-बड़ा अन्यायी भी आवश्यक रूप से 'मनुष्य' होता है। लेकिन उसकी यह मनुष्यता किन्हीं कारणों से नीचे दब जाती है। ध्यान रखना चाहिए कि केवल दब जाती है, पूर्णतः विलुप्त कभी नहीं होती। अपने इसी विश्वास के कारण गांधीवाद पापी से नहीं वरन् उसके पापों से घृणा करने की प्रेरणा देता है। पाप अथवा दुष्कृत्य सदा आत्मा की अज्ञानावस्था में ही किए जाते हैं और इस अज्ञानावस्था के दूर हो जाने पर कोई कारण नहीं कि आत्मा अपने पापों के लिए पश्चात्ताप न करे। संक्षेप में महात्मा गांधी का हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त यही है।

हृदय-परिवर्तन के इस गांधीय सिद्धान्त में 'प्रेमाश्रम' के लेखक का अविचल विश्वास है। उपन्यास के अंत तक पहुँचते-पहुँचते प्रायः सभी छोटे-बड़े और भले-बुरे पात्रों का हृदय-परिवर्तन हो जाता है, चीते के दाग मिट जाते हैं। और, जिनका हृदय-परिवर्तन नहीं हो पाता उन्हें आत्महत्या के द्वारा उपन्यास से हटा दिया जाता है, जैसे ज्ञानशंकर। 'प्रेमाश्रम' में जितने हृदय-परिवर्तन हुए हैं अथवा करवाए गए हैं उतने हृदय-परिवर्तन प्रेमचन्द के किसी भी अन्य उपन्यास में नहीं हैं। इस संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि 'प्रेमाश्रम' के लगभग सभी हृदय-परिवर्तनों का एकमात्र केन्द्रीय प्रेरणा-स्रोत प्रेमशंकर का चरित्र है। प्रेमशंकर के आत्मत्याग, उदारता, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, निस्स्वार्थ सेवा-वृत्ति, परदुःखकातरता आदि उच्च मानवीय गुणों का प्रभाव उसके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर (वकील इर्फान अली, डा० प्रियनाथ, बिसेसर साह, थानेदार दयाशंकर, सैयद ईजाद हुसैन, डिप्टी ज्वालासिंह, जमींदार मायाशंकर, मस्ता कोरी, भोला अहीर, दमड़ी पासी आदि) निरपवाद रूप से पड़ता है। प्रेमशंकर के निस्पृह और त्यागमय जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर इर्फान अली और प्रियनाथ अपने वर्त्तमान जीवन को त्याग कर प्रेमाश्रम में आ जाते हैं और एक नवीन जीवन का सूत्रपात करते हैं। वकील साहब

(क्योंकि रामराज्य को यदि एक ऐतिहासिक घटना मान भी लिया जाए—जो कि काफी संदिग्ध है—तब भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस बीच मानव ने कोई प्रगति नहीं की है),[1] लेकिन जन-साधारण की मान्यताएँ और विश्वास सदा विकासवाद के नियमों से ही परिचालित नहीं होते। अपनी कल्पना के आदर्श समाज के लिए एक शुद्ध हिन्दू धार्मिक शब्द अपनाकर महात्मा गांधी ने राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचय नहीं दिया—इसमें संदेह नहीं। इस शब्द के प्रयोग ने कतिपय मुसलमानों की इस आशंका को बल ही प्रदान किया कि कांग्रेस और गांधीजी भारत में एक हिन्दू तानाशाही स्थापित करना चाहते हैं।

स्वभावत: यहाँ यह प्रश्न उठता है कि लखनपुर का यह तथाकथित रामराज्य वास्तविक, संभव और सामाजिक रूप से व्यावहारिक है या नहीं? क्या सशक्त जमींदार वर्ग अर्थात् शोषक वर्ग को भावुक और आदर्शवादी मायाशंकर के समान अपने विशिष्टाधिकारों एवं व्यक्तिगत संपत्ति का स्वेच्छापूर्वक त्याग करने पर राजी किया जा सकता है?[2] इस प्रश्न के उत्तर पर ही पहले प्रश्न का उत्तर निर्भर करता है। हिंदी में 'रामराज्य' शब्द जिस विशिष्ट अर्थ एवं भावना को द्योतित करता है अंग्रेजी में उसके लिए Utopia शब्द है, जिसका अर्थ ही अव्यवहार्य, काल्पनिक और असंभव है।[3] स्पष्ट

---

१. प्रगतिवाद की रूपरेखा : मन्मथनाथ गुप्त, पृ० २८५ (दिल्ली, १९५२)

२. "......मान लिया इस क्षेत्र में सौभाग्य से एक ऐसा जमींदार मिल गया, जिसने स्वेच्छापूर्वक अपने शोषणाधिकार का त्याग किया, और इस प्रकार सारी समस्याएँ हल हो गईं, किन्तु जहाँ ऐसे जमींदार न मिलें जो इस प्रकार आदर्शवाद में आकर अपना सर्वस्व त्याग करने को तैयार हों......उन लाखों में [illegible] क्षेत्रों में क्या हल है? अवश्य ही प्रेमाश्रम के लेखक के निकट इसका कोई उत्तर नहीं है, न इसका कोई उत्तर उस विचारधारा के पास है, जो इस रंगीन आशा का पोषण करती है कि जो भक्षक हैं वे ही रक्षक और ट्रस्टी होंगे।"

—कथाकार प्रेमचन्द, पृ० ७०७ (प्रथम संस्करण, १९४१)

३. "Utopian : काल्पनिक, अव्यवहार्य।"

—A Comprehensive English-Hindi Dictionary :
Raghu Vira, P. 1513

× × ×

"Utopia : An impossibly ideal scheme, esp. for social improvement." —The Oxford English Dictionary, Vol. XI. P. 486

× × ×

"Utopia : an ideal commonwealth whose inhabitants exist under perfect conditions. Hence *Utopian* is used to denote a visionary reform, which fails to recognize defects in human nature. The word first occurs in Sir Thomas More's *Utopia*,......... ....(1516)"

—Encyclopaedia Britannica, Vol. 22 P. 915

है कि जिस शब्द का अर्थ ही अव्यवहार्य और काल्पनिक हो, उसकी व्यावहारिकता और वास्तविकता का प्रश्न नहीं उठता !

यहाँ पर यह संकेत कर देना अनुचित नहीं होगा कि हमारा अभिप्रेत यह सिद्ध करना नहीं है कि लखनपुर में प्रेमचन्द ने 'पृथ्वी पर स्वर्ग' की जो कल्पना की है वह अवास्तविक अथवा अव्यवहार्य है। इसके विपरीत हमारा मन्तव्य केवल इतना है कि जिन साधनों के द्वारा प्रेमाश्रमकार ने यह भू-स्वर्ग अवतरित किया है वे अव्यवहार्य और अवास्तविक हैं। अर्थात् हमारा मतभेद साध्य से नहीं साधनों से है।

पीछे संकेत किया जा चुका है कि गांधी-दर्शन मूलतः एक आध्यात्मिक जीवन-दर्शन है। अतः वह मानता है कि घोरतम पतन की अवस्था में भी प्रत्येक मनुष्य में दैवी अंश—जिसे अधिक व्यापक शब्दों में मनुष्यता भी कहा जा सकता है—वर्त्तमान रहता है। अतएव सत्याग्रही अपनी दृढ़ सत्यनिष्ठा और सहिष्णुतापूर्वक कष्ट-सहन की अनन्त क्षमता के कारण एक-न-एक दिन अवश्य अन्यायी और शोषक की पशुता पर विजय प्राप्त करने में सफल हो सकता है। गांधीजी के अनुसार बड़े-से-बड़ा अन्यायी भी आवश्यक रूप से 'मनुष्य' होता है। लेकिन उसकी यह मनुष्यता किन्हीं कारणों से नीचे दब जाती है। ध्यान रखना चाहिए कि केवल दब जाती है, पूर्णतः विलुप्त कभी नहीं होती। अपने इसी विश्वास के कारण गांधीवाद पापी से नहीं वरन् उसके पापों से घृणा करने की प्रेरणा देता है। पाप अथवा दुष्कृत्य सदा आत्मा की अज्ञानावस्था में ही किए जाते हैं और इस अज्ञानावस्था के दूर हो जाने पर कोई कारण नहीं कि आत्मा अपने पापों के लिए पश्चात्ताप न करे। संक्षेप में महात्मा गांधी का हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त यही है।

हृदय-परिवर्तन के इस गांधीय सिद्धान्त में 'प्रेमाश्रम' के लेखक का अविचल विश्वास है। उपन्यास के अंत तक पहुँचते-पहुँचते प्रायः सभी छोटे-बड़े और भले-बुरे पात्रों का हृदय-परिवर्तन हो जाता है, चीते के दाग मिट जाते हैं। और, जिनका हृदय-परिवर्तन नहीं हो पाता उन्हें आत्महत्या के द्वारा उपन्यास से हटा दिया जाता है, जैसे ज्ञानशंकर। 'प्रेमाश्रम' में जितने हृदय-परिवर्तन हुए हैं अथवा करवाए गए हैं उतने हृदय-परिवर्तन प्रेमचन्द के किसी भी अन्य उपन्यास में नहीं हैं। इस संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि 'प्रेमाश्रम' के लगभग सभी हृदय-परिवर्तनों का एकमात्र केन्द्रीय प्रेरणा-स्रोत प्रेमशंकर का चरित्र है। प्रेमशंकर के आत्मत्याग, उदारता, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, निस्स्वार्थ सेवा-वृत्ति, परदुःखकातरता आदि उच्च मानवीय गुणों का प्रभाव उसके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर (वकील इर्फान अली, डा० प्रियनाथ, बिसेसर साह, थानेदार दयाशंकर, सैयद ईजाद हुसैन, डिप्टी ज्वालासिंह, जमींदार मायाशंकर, मस्ता कोरी, भोला अहीर, दमड़ी पासी आदि) निरपवाद रूप से पड़ता है। प्रेमशंकर के निस्पृह और त्यागमय जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर इर्फान अली और प्रियनाथ अपने वर्त्तमान जीवन को त्याग कर प्रेमाश्रम में आ जाते हैं और एक नवीन जीवन का सूत्रपात करते हैं। वकील साहब

अब केवल सच्चे मुकदमे ही लेते हैं और अपनी दैनिक आवश्यकताओं से अधिक पारिश्रमिक नहीं लेते। अब उन्हें संचय और संग्रह की चिन्ता नहीं है।[1] डॉक्टर साहब अब देहातों में घूम-घूमकर रोगियों की मुफ्त चिकित्सा करते हैं।[2] उधर डिप्टी ज्वालासिंह भी सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर प्रेमशंकर के आश्रम में आ जाते हैं। उनकी पत्नी शीलमणि डिप्टी साहब के इस पद-त्याग का जो कारण बताती है उससे स्पष्ट हो जाता है कि गांधीजी के असहयोग-आंदोलन से प्रेरणा ग्रहण करके ही ज्वालासिंह ने यह साहसिक कदम उठाया था।[3] ज्वालासिंह अब प्रेमाश्रम में नए प्रकार के करघों पर कपड़ा बुनते हैं और हाजीपुर के कुछ युवकों को बुनना सिखाते हैं।[4] प्रेमशंकर के प्रभाव से थानेदार दयाशंकर का भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वह अपनी बाकी उम्र प्रेमशंकर की खिदमत में काटने का फैसला करता है।[5] सैयद ईजाद हुसैन भी झूठे चंदे वसूल करना और स्वाँग भरना छोड़कर अब हिन्दू-मुस्लिम एकता का सच्चा प्रचारक हो जाता है।[6] गौसखाँ की हत्या के मुकदमे में झूठी गवाही देकर सारे गाँव को फँसाने वाले बिसेसर साह को भी अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप होने लगता है और वह प्रेमशंकर के पास आकर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है।[7] नागरिक ही नहीं भोला, मस्ता, दुर्गा, दमड़ी आदि ग्रामीण भी अपनी गाँजा, चरस, शराब, जुआ, चोरी आदि की बुरी आदतों को छोड़कर ईमानदार और मेहनतपसन्द आदमी बन जाते हैं।[8] और, इन सबसे ऊपर राय कमलानंद, रानी

१. प्रेमाश्रम, पृ० ३६८
२. प्रेमाश्रम, पृ० ३६६
३. "शीलमणि—अब तो इस्तीफा देकर आये हैं और बाबू प्रेमशंकर के साथ रहना चाहते हैं। उन्हें इन पर असीम भक्ति है। पहले जब इस्तीफा देने की चर्चा करते तो समझती थी काम से जी चुराते हैं, राजी न होती थी; लेकिन इन तीन वर्षों में मुझे अनुभव हो गया कि इस नौकरी के साथ आत्म-रक्षा नहीं हो सकती। जाति के नेतागण प्रजा के उपकार के लिए जो उपाय करते हैं सरकार उसी में विघ्न डालती है, उसे दबाना चाहती है। उसे अब भय होता है कि कहीं यहाँ के लोग इतने उन्नत न हो जायँ कि उसका रोब न मानें। इसीलिए वह प्रजा के भावों को दबाने के लिए, उसका मुँह बंद करने को नये-नये कानून बनाती रहती है। नेताओं ने देश को दरिद्रता के चंगुल से छुड़ाने के लिए चरखों और करघों की व्यवस्था की। सरकार उसमें बाधा डाल रही है। स्वदेशी कपड़े का प्रचार करने के लिए दुकानदारों और ग्राहकों को समझाना अपराध ठहरा दिया गया है। नशे की चीजों का प्रचार कम करने के लिए नशेबाजों और ठेकेदारों से कुछ कहना-सुनना भी अपराध है। × × × जब मैंने यह हाल देखा तो आप ही जिद करके इस्तीफा दिलवा दिया।"

—प्रेमाश्रम, पृ० ३२५-२६

४. प्रेमाश्रम, पृ० ३६६
५. प्रेमाश्रम, पृ० ३६० तथा ३६२
६. प्रेमाश्रम, पृ० ३६६
७. प्रेमाश्रम, पृ० २७८
८. प्रेमाश्रम, पृ० १८६

गायत्री तथा ज्ञानशंकर की सम्मिलित जमींदारी के उत्तराधिकारी मायाशंकर का हृदय-परिवर्तन है जो स्वेच्छापूर्वक अपने अधिकारों को त्यागकर राजा से रंक बन जाता है।

'प्रेमाश्रम' में हृदय-परिवर्तनों के इस जमघट को देखकर पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना सहज स्वाभाविक है कि आखिर इन परिवर्तनों की सामाजिक उपयोगिता क्या है? थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाए कि 'प्रेमाश्रम' के उक्त सभी हृदय-परिवर्तन स्वाभाविक हैं, तो भी हमारी शंका यथावत् वर्त्तमान रहती है। असली प्रश्न हृदयों के परिवर्तन का नहीं, व्यवस्था के परिवर्तन का है। जब तक पूरी समाज-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता तब तक दो-चार या दस-पाँच या सौ-पचास व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन कोई सामाजिक महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि शोषण के कारण व्यक्ति में नहीं, व्यवस्था में निहित हैं। कुछ व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन वर्त्तमान शोषण और अत्याचार के मूल कारणों को नष्ट नहीं कर सकता—यह विवादातीत है।

गांधीवाद के दूसरे प्रमुख सिद्धान्त ट्रस्टीशिप में भी 'प्रेमाश्रम' के रचयिता की आस्था है—मायाशंकर के अपूर्व त्याग से यह स्पष्ट हो जाता है। मायाशंकर द्वारा अपने जमींदारी अधिकारों का त्याग करवाकर प्रेमचन्द ने वस्तुतः गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को ही कार्यरूप में परिणत किया है। महात्मा गांधी के अनुसार आज के युग में राजा अपनी प्रजा का संरक्षक बनकर ही रह सकता है, स्वामी बनकर नहीं।[1] निस्संदेह सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का अन्त गांधीजी का चरम लक्ष्य है, किन्तु अहिंसक साधनों से इस उद्देश्य की सिद्धि होने तक के संक्रमण-काल में वे सम्पत्ति के प्रति वर्त्तमान दृष्टिकोण में अपेक्षित परिवर्तन स्वीकार करके भी संतोष करने को तैयार हैं। वे चाहते हैं कि **"जब तक मनुष्य अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के त्याग के लिए तैयार नहीं है, उन्हें सम्पत्ति की ओर अपना रुख बदल देना चाहिए और सम्पत्ति के स्वामी की तरह नहीं, उसके संरक्षक (ट्रस्टी) की तरह आचरण करना चाहिए और सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए करना चाहिए।"**[2] गांधीजी के इस सिद्धांत के संबंध में अनेक प्रश्न और शंकाएँ उठती हैं: क्या यह सिद्धान्त व्यक्तिगत स्वामित्व को आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप ढालने, उसे न्यायोचित सिद्ध करने और परंपरागत शोषण को स्थिर रखने का ही एक Subtle प्रयास नहीं है? क्या शोषक वर्ग इसका अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं करेगा? जो व्यक्ति अपनी अतिरिक्त (और फिर अतिरिक्त का मापदण्ड भी क्या है?) सम्पत्ति के त्याग के लिए सहमत नहीं है, वह सम्पत्ति के प्रति अपने दृष्टिकोण को ही भला क्यों बदलेगा? एक बात और, ट्रस्टीशिप के

---

१. "यदि राजा अपना धर्म पालन करे और रैयत का ट्रस्टी बनकर रहे तब तो वह रह सकेगा और यदि मालिक बनकर रहेगा तो वह इस युग में नहीं रह सकता।"

—गांधी-साहित्य, भाग १ : प्रार्थना-प्रवचन, पृ० २०४ (दूसरी बार, १९५३)

२. सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन : डॉ० गोपीनाथ धावन, पृ० ८५

अब केवल सच्चे मुकदमे ही लेते हैं और अपनी दैनिक आवश्यकताओं से अधिक पारिश्रमिक नहीं लेते। अब उन्हें संचय और संग्रह की चिन्ता नहीं है।[1] डॉक्टर साहब अब देहातों में घूम-घूमकर रोगियों की मुफ्त चिकित्सा करते हैं।[2] उधर डिप्टी ज्वालासिंह भी सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर प्रेमशंकर के आश्रम में आ जाते हैं। उनकी पत्नी शीलमणि डिप्टी साहब के इस पद-त्याग का जो कारण बताती है उससे स्पष्ट हो जाता है कि गांधीजी के असहयोग-आंदोलन से प्रेरणा ग्रहण करके ही ज्वालासिंह ने यह साहसिक कदम उठाया था।[3] ज्वालासिंह अब प्रेमाश्रम में नए प्रकार के करघों पर कपड़ा बुनते हैं और हाजीपुर के कुछ युवकों को बुनना सिखाते हैं।[4] प्रेमशंकर के प्रभाव से थानेदार दयाशंकर का भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वह अपनी बाकी उम्र प्रेमशंकर की खिदमत में काटने का फैसला करता है।[5] सैयद ईजाद हुसैन भी झूठे चंदे वसूल करना और स्वाँग भरना छोड़कर अब हिन्दू-मुस्लिम एकता का सच्चा प्रचारक हो जाता है।[6] गौसखाँ की हत्या के मुकदमे में झूठी गवाही देकर सारे गाँव को फंसाने वाले बिसेसर साह को भी अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप होने लगता है और वह प्रेमशंकर के पास आकर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है।[7] नागरिक ही नहीं भोला, मस्ता, दुर्गा, दमड़ी आदि ग्रामीण भी अपनी गांजा, चरस, शराब, जुआ, चोरी आदि की बुरी आदतों को छोड़कर ईमानदार और मेहनतपसन्द आदमी बन जाते हैं।[8] और, इन सबसे ऊपर राय कमलानंद, रानी

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० ३६६

२. प्रेमाश्रम, पृ० ३६६

३. "शीलमणि—अब तो इस्तीफा देकर आये हैं और बाबू प्रेमशंकर के साथ रहना चाहते हैं। उन्हें इन पर असीम भक्ति है। पहले जब इस्तीफा देने की चर्चा करते तो समझती थी काम से जी चुराते हैं, राजी न होती थी; लेकिन इन तीन वर्षों में मुझे अनुभव हो गया कि इस नौकरी के साथ आत्म-रक्षा नहीं हो सकती। जाति के नेतागण प्रजा के उपकार के लिए जो उपाय करते हैं सरकार उसी में विघ्न डालती है, उसे दबाना चाहती है। उसे अब भय होता है कि कहीं यहा के लोग इतने उन्नत न हो जायें कि उसका रोब न मानें। इसीलिए वह प्रजा के भावों को दबाने के लिए, उसका मुंह बंद करने को नये-नये कानून बनाती रहती है। नेताओं ने देश को दरिद्रता के चंगुल से छुड़ाने के लिए चरखों और करघों की व्यवस्था की। सरकार उसमें बाधा डाल रही है। स्वदेशी कपड़े का प्रचार करने के लिए दुकानदारों और ग्राहकों को समझाना अपराध ठहरा दिया गया है। नशे की चीजों का प्रचार कम करने के लिए नशेबाजों और ठेकेदारों से कुछ कहना-सुनना भी अपराध है। × × × जब मैंने यह हाल देखा तो आप ही जिद्द करके इस्तीफा दिलवा दिया।"

—प्रेमाश्रम, पृ० ३२५-२६

४. प्रेमाश्रम, पृ० ३६६

५. प्रेमाश्रम, पृ० ३६० तथा ३६२

६. प्रेमाश्रम, पृ० ३६६

७. प्रेमाश्रम, पृ० २७८

८. प्रेमाश्रम, पृ० १८६

गायत्री तथा ज्ञानशंकर की सम्मिलित जमींदारी के उत्तराधिकारी मायाशंकर का हृदय-परिवर्तन है जो स्वेच्छापूर्वक अपने अधिकारों को त्यागकर राजा से रंक बन जाता है।

'प्रेमाश्रम' में हृदय-परिवर्तनों के इस जमघट को देखकर पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना सहज स्वाभाविक है कि आखिर इन परिवर्तनों की सामाजिक उपयोगिता क्या है? थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाए कि 'प्रेमाश्रम' के उक्त सभी हृदय-परिवर्तन स्वाभाविक हैं, तो भी हमारी शंका यथावत् वर्त्तमान रहती है। असली प्रश्न हृदयों के परिवर्तन का नहीं, व्यवस्था के परिवर्तन का है। जब तक पूरी समाज-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता तब तक दो-चार या दस-पाँच या सौ-पचास व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन कोई सामाजिक महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि शोषण के कारण व्यक्ति में नहीं, व्यवस्था में निहित हैं। कुछ व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन वर्त्तमान शोषण और अत्याचार के मूल कारणों को नष्ट नहीं कर सकता—यह विवादातीत है।

गांधीवाद के दूसरे प्रमुख सिद्धान्त ट्रस्टीशिप में भी 'प्रेमाश्रम' के रचयिता की आस्था है—मायाशंकर के अपूर्व त्याग से यह स्पष्ट हो जाता है। मायाशंकर द्वारा अपने जमींदारी अधिकारों का त्याग करवाकर प्रेमचन्द ने वस्तुतः गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को ही कार्यरूप में परिणत किया है। महात्मा गांधी के अनुसार आज के युग में राजा अपनी प्रजा का संरक्षक बनकर ही रह सकता है, स्वामी बनकर नहीं।[1] निस्संदेह सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का अन्त गांधीजी का चरम लक्ष्य है, किन्तु अहिंसक साधनों से इस उद्देश्य की सिद्धि होने तक के संक्रमण-काल में वे सम्पत्ति के प्रति वर्त्तमान दृष्टिकोण में अपेक्षित परिवर्तन स्वीकार करके भी संतोष करने को तैयार हैं। वे चाहते हैं कि "जब तक मनुष्य अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के त्याग के लिए तैयार नहीं हैं, उन्हें सम्पत्ति की ओर अपना रुख बदल देना चाहिए और सम्पत्ति के स्वामी की तरह नहीं, उसके संरक्षक (ट्रस्टी) की तरह आचरण करना चाहिए और सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए करना चाहिए।"[2] गांधीजी के इस सिद्धांत के संबंध में अनेक प्रश्न और शंकाएँ उठती हैं: क्या यह सिद्धान्त व्यक्तिगत स्वामित्व को आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप ढालने, उसे न्यायोचित सिद्ध करने और परंपरागत शोषण को स्थिर रखने का ही एक Subtle प्रयास नहीं है? क्या शोषक वर्ग इसका अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं करेगा? जो व्यक्ति अपनी अतिरिक्त (और फिर अतिरिक्त का मापदण्ड भी क्या है?) सम्पत्ति के त्याग के लिए सहमत नहीं है, वह सम्पत्ति के प्रति अपने दृष्टिकोण को ही भला क्यों बदलेगा? एक बात और, ट्रस्टीशिप के

---

१. "यदि राजा अपना धर्म पालन करे और रैयत का ट्रस्टी बनकर रहे तब तो वह रह सकेगा और यदि हाकिम बनकर रहेगा तो वह इस युग में नहीं रह सकता।"

—गांधी-साहित्य, भाग १ : प्रार्थना-प्रवचन, पृ० २०४ (दूसरी बार, १९५३)

२. सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन : डॉ० गोपीनाथ धावन, पृ० ८५

अन्तर्गत जमींदार 'जमींदार' ही रहेंगे, पूंजीपति 'पूंजीपति' ही और मालिक 'मालिक' ही। 'प्रेमाश्रम' का मायाशंकर अब भी किसानों का 'मालिक' और 'स्वामी' ही है।[1] अर्थात् शोषक अब भी 'शोषक' है और शोषित 'शोषित' ही।

महात्मा गांधी आज की शिक्षा-पद्धति के घोर विरोधी थे। वे मानते थे कि **"आज जिस रीति से शिक्षा दी जाती है उसमें पैसे और समय के व्यय के परिमाण में फल नगण्य मिलता है।"**[2] उनके अनुसार **"सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम आत्मा को, अपने आपको, ईश्वर को, सत्य को पहचानें............विद्यामात्र का उद्देश्य आत्म-दर्शन होना चाहिए।"**[3] गांधीजी का कहना था कि विद्या का ध्येय अधिकाधिक धन-संग्रह और पद-लोलुपता तथा दूसरी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं में वृद्धि नहीं होना चाहिए। वास्तविक विद्या वही है जो हमें क्षुद्र और व्यक्तिगत स्वार्थों से मुक्त करे। 'सा विद्या या विमुक्तये'।[4] लेकिन वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली का ध्येय इस आदर्श के सर्वथा प्रतिकूल है। निस्सन्देह आज की शिक्षण-पद्धति में कुछ अच्छाइयाँ भी हैं, पर कुल मिलाकर शिक्षार्थियों पर उसका अनिष्टकारी प्रभाव ही पड़ता है।[5] पश्चिमी सभ्यता (पश्चिम ने भारत को जो सभ्यता दी है उसे हम अधिक वैज्ञानिक शब्दों में पूंजीवादी सभ्यता भी कह सकते हैं) की देन धनलिप्सा और जड़वाद के प्रति अपने विरोध के कारण प्रेमचन्द भी वर्त्तमान शिक्षण-पद्धति के विरोधी थे। इसीलिए वे 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर की अंध धनोपासना, निर्मम स्वार्थपरता और हृदयहीनता का श्रेय उसकी शिक्षा को देते हैं। इस संबंध में ज्ञानशंकर के चाचा प्रभाशंकर के विचार प्रेमचन्द के ही विचार हैं। प्रभाशंकर मानते हैं कि ज्ञानशंकर में दया, विनय, सौजन्य आदि मानवीय गुणों की आशा करना व्यर्थ है, क्योंकि 'वह पश्चिमी सभ्यता का मारा हुआ है।'[6] ज्ञानशंकर के ससुर रायसाहब कमलानन्द का भी यही मत है। वे कहते हैं : **"यह तुम्हारा दोष नहीं, तुम्हारी धर्म-विहीन शिक्षा का दोष है। तुम्हें आदि से ही भौतिक शिक्षा मिली। × × × × तुम जो कुछ हो, अपनी शिक्षा-प्रणाली के बनाए हुए हो।"**[7]

---

१. (क) "सुख—बड़ी कृपा की ! हमारे धन्य-भाग कि घर बैठे स्वामी के दर्शन होते हैं।"
—प्रेमाश्रम, पृ० ३८६

(ख) "दुखरन—छिपाऊँ क्यों ? मालिक से कौन परदा ? यह सब उन्हीं का अकबाल तो है।"
—प्रेमाश्रम, पृ० ३८७

२. गांधी-साहित्य, भाग ५ : धर्मनीति, पृ० २२०
३. गांधी-साहित्य, भाग ५ : धर्मनीति, पृ० २३६
४. अगर मैं डिक्टेटर होता : महात्मा गांधी, पृ० ३३
५. गांधी और गांधीवाद, भाग १ पृ० १५
६. प्रेमाश्रम, पृ० १६६
७. प्रेमाश्रम, पृ० २६३

लेकिन प्रेमचन्द के इन विचारों को निश्चय ही बिना किसी संशोधन के स्वीकार हीं किया जा सकता। हम यह नहीं कहते कि वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली निर्दोष है। नस्सन्देह उसमें अनेक खामियाँ, कमियाँ और दोष हैं, जिनका परिमार्जन अत्यावश्यक । पर यह कहना और मानना बिल्कुल गलत है कि ज्ञानशंकर जो कुछ है वह अपनी ाक्षा के कारण है। ज्ञानशंकर के अतिरिक्त भी 'प्रेमाश्रम' में जमींदार वर्ग के दो प्रति-नधि और हैं: राय कमलानंद तथा रानी गायत्री। और, वे दोनों भी किसानों के प्रति पने व्यवहार में उतने ही निर्मम, क्रूर एवं हृदयहीन हैं जितने कि ज्ञानशंकर।[1] ज्ञानशंकर ी भाँति ही रायसाहब भी अपने किसानों से बेगार लेते हैं, डाँड़-बाज भी लेते हैं, दखली या इजाफा लगान का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते, असामियों पर अपना ोब जमाने के लिए अधिकारियों की खुशामद भी करते हैं।[2] उधर रानी गायत्री मानती कि हालाँकि निर्दयता कोई अच्छी बात नहीं, लेकिन यदि जमींदार असामियों पर नर्दयता करते हैं तो इसमें उनका कोई दोष नहीं। आखिर रुपये कैसे वसूल हों ?[3] वह ताती है कि उसके पति यद्यपि बड़े ही सज्जन पुरुष थे, द्वार से किसी भिक्षुक को निराश ाहीं लौटने देते थे, सत्कार्यों में हजारों रुपये खर्च कर डालते थे, कोई दिन ऐसा नहीं ाता था जब कि सौ-पचास साधुओं को भोजन न कराते हों, हजारों रुपये चन्दे में दे ालते थे; लेकिन वे भी असामियों की मुश्कें कसवाकर पिटवाते थे और उनके घरों में ाग लगवा देते थे।[4] गायत्री स्वीकार करती है कि उसे भी अब वही करना पड़ता है जो सके स्वर्गीय पति करते थे।[5] रानी गायत्री के पतिदेव के इस व्यंग्यपूर्ण वर्णन के द्वारा मचन्द दिखाते हैं कि धर्म शोषण और अत्याचार में सहायक ही होता है, बाधक नहीं। ातः जब राय कमलानंद ज्ञानशंकर की स्वार्थपरता के लिए उसकी धर्म-विहीन शिक्षा ो उत्तरदायी ठहराते हुए कहते हैं कि "तुमने धर्म और भक्ति का प्रकाश कभी नहीं ेखा, जो मन पर छाये हुए तिमिर को नष्ट करने का एक ही साधन है;"[6] तो विचार-

---

. "विद्या—उस साल जब अकाल पड़ा और प्लेग भी फैला, तब हम लोग इलाके पर गये। ×× उन दिनों बाबूजी की निर्दयता देखकर मेरे रोयें खड़े हो जाते थे। असामियों से रुपए वसूल न होते और हमारे यहां नित्य नाच-रंग होता रहता था। बाबूजी को उड़ाने के लिए रुपए न मिलते तो वह चिढ़कर असामियों पर गुस्सा उतारते। सौ-सौ मनुष्यों को एक पांति में खड़ा करके हण्टर से मारने लगते। बेचारे तड़प-तड़पकर रह जाते; पर उन्हें तनिक भी दया न आती थी।"

—प्रेमाश्रम, पृ० ७३

. प्रेमाश्रम, पृ० ८१

. प्रेमाश्रम, पृ० ७३

. प्रेमाश्रम, पृ० ७३

. प्रेमाश्रम, पृ० ७६

. प्रेमाश्रम, पृ० २६३

शील पाठक व्यंग्य से मुसकराए बिना नहीं रह पाता। स्पष्ट है कि ज्ञानशंकर की बुराइयों के लिए उसकी शिक्षा को दोषी मानना किसी भी अवस्था में उचित नहीं ठहराया जा सकता। जो शिक्षा ज्ञानशंकर को मिली है वही ज्वालासिंह को भी मिली है, लेकिन वह डिप्टीगिरी पर लात मारकर प्रेमाश्रम के सरल, संतोषमय और निस्पृह जीवन को अपना लेता है।[1]

'प्रेमाश्रम' के जिन दो पात्रों पर गांधीवाद का सर्वाधिक प्रभाव माना जा सकता है, वे हैं प्रेमशंकर और कादिर मियाँ। 'प्रेमाश्रम' पर गांधीवाद के प्रभाव के सम्यक् अध्ययन के लिए उनके चरित्रों का अध्ययन आवश्यक है। अतः यहाँ उनके चरित्रों का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

पहले हम प्रेमशंकर को लें। प्रेमशंकर यद्यपि रानी गायत्री, राय कमलानंद और ज्ञानशंकर के वर्ग (जमींदार वर्ग) से संबंधित है, पर वह इन सबसे सर्वथा भिन्न स्वभाव तथा प्रकृति का व्यक्ति है। ज्ञानशंकर की तरह वह जघन्य व्यक्तिवादी और कुटिल स्वार्थी नहीं है। रायसाहब की भाँति उसकी कथनी और करनी में विभेद भी नहीं है। गायत्री की तरह वह जमींदारों के अत्याचारों को न्यायपूर्ण और आवश्यक नहीं मानता। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसमें वर्गगत दुर्बलताएँ नहीं हैं। प्रेमाश्रमकार ने उसकी वर्गगत कमजोरियों की ओर बहुत स्पष्टता से संकेत किया है। वह दिखाता है कि सिद्धान्तरूप से धन और ऐश्वर्य की अवहेलना करने पर भी प्रेमशंकर की रुचि उसी ओर थी।[2] अपनी इसी जन्मजात आभिजात्य प्रकृति के कारण वह मायाशंकर को उच्च शिक्षा के लिए विदेश भेजना चाहता है, आश्रम के दूसरे विद्यार्थियों की अपेक्षा उसे अधिक सुविधाएँ दिए जाने में कोई अनौचित्य नहीं समझता, भिन्न-भिन्न विषयों के लिए पृथक् अध्यापक और हवा खाने के लिए फिटन आवश्यक समझता है। और, यह सब इसलिए कि आखिर प्रतिष्ठा का भी तो कुछ ध्यान रखना है।[3] प्रेमशंकर सामन्तवाद का एक हद तक विरोध अवश्य करता है, पर वह स्वयं सामन्तवाद की उपज वर्त्तमान रीति-रिवाजों और वर्णाश्रम धर्म का समर्थन भी करता है।[4] इसका अर्थ यह हुआ कि रूढ़िवादी प्राचीन सड़ीगली परंपराओं के प्रति उसका अब भी यथावत् मोह है। इस वर्ग के सभी सुधारकों की भाँति प्रेमशंकर के विचारों में भी वैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव है। जड़ पर कुठाराघात करने के स्थान पर वह पत्तों और टहनियों को काटकर समझ लेता है कि समस्या का समाधान हो गया। किन्तु इन सब बातों के आधार पर प्रेमशंकर के उद्देश्य की ईमानदारी पर सन्देह नहीं किया जा सकता। वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही स्वराज्य-

---

१. प्रेमचन्द के पात्र, पृ० ८८–८९
२. प्रेमाश्रम, पृ० १०३
३. प्रेमाश्रम, पृ० ३२३
४. प्रेमाश्रम, पृ० १०६

आंदोलन में सक्रिय भाग लेने लगता है। विदेश से उच्च कृषि-शिक्षा प्राप्त करके स्वदेश लौटने पर वह अपने पैतृक जमींदारी-अधिकारों को स्वेच्छापूर्वक त्यागकर किसान-आंदोलन में भाग लेता है और हाजीपुर के निकट प्रेमाश्रम की—जिसे हम आधुनिक शब्दावली में सहयोगी कृषि फार्म (Co-operative Agricultural Farm) कह सकते हैं—स्थापना द्वारा किसानों की समस्याओं का एक व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है। ज़मींदार के विरुद्ध किसानों के संघर्ष में वह आगे बढ़कर भाग लेता है और किसानों के साथ जेल भी जाता है। जमींदारी प्रथा को अनावश्यक समझता है और हाथ से काम करने में उसे कोई शर्म महसूस नहीं होती। यद्यपि प्रेमशंकर के विचारों में दृढ़ता और सुलझाव नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका एकमात्र उद्देश्य किसानों की सेवा है। और, इस सेवा में उसका कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वार्थ निहित नहीं है। गांधीवादी सिद्धान्तों तथा कार्य-विधि के आधार पर वह हाजीपुर में एक ऐसी मूक अहिंसात्मक क्रांति को जन्म देता है जो शीघ्र ही लखनपुर सहित मायाशंकर की समस्त रियासत में फैल जाती है।

प्रेमशंकर को किसानों से अपार सहानुभूति है, किन्तु जैसा कि वह अपने जमींदार बंधु ज्ञानशंकर से कहता है 'इसका यह आशय नहीं कि उसे जमींदारों से कोई द्वेष है।'[1] यह गांधी-दर्शन की स्पष्ट स्वीकृति है। गांधीवाद किसी भी व्यक्ति से–चाहे वह शोषक वर्ग से ही सम्बद्ध क्यों न हो—घृणा करने की अनुमति नहीं देता। गांधीजी की विचारधारा में स्वभावतः घृणा, द्वेष, कटुता इत्यादि विभाजक प्रवृत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। गांधी-दर्शन स्वयं कष्ट सहकर भी अपने विरोधी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाने में विश्वास करता है। इस विश्वास से प्रेरित होने के कारण ही प्रेमशंकर क्रुद्ध भीड़ के हाथों स्वयं चोट खाकर भी डाक्टर प्रियनाथ की रक्षा करता है।[2]

गांधीवादी नैतिकता के मापदण्ड से प्रेमशंकर के चरित्र में सबसे प्रमुख गुण यह है कि वह अपनी भूलों को स्वीकार कर सकता है, उन पर पश्चात्ताप कर सकता है। गांधीवाद के अनुसार पश्चात्ताप या आत्म-विगर्हणा की अग्नि में दहकर ही आत्मा का विकास हो सकता है। प्रेमशंकर अपनी इसी नैतिक विशेषता के कारण किसानों के शोषण में सहयोगी न बनकर उनके सुधार के कार्यक्रम में प्रवृत्त होता है। अपनी इसी विशेषता के कारण वह ज्ञानशंकर, बिसेसर साहु, दयाशंकर, डाक्टर प्रियनाथ आदि के संबंध में मिथ्या धारणा बना लेने के लिए क्रम-क्रम से अपने आप को धिक्कारता है। लेकिन प्रेमशंकर के ये पश्चात्ताप अधिकांशतः भावुकता और आवेशजन्य ही हैं, विचार-पूर्वक बुद्धि-जनित नहीं। समाचार-पत्रों द्वारा गोरखपुर के सनातन धर्ममहोत्सव का समाचार पाकर ही प्रेमशंकर को धूर्त ज्ञानशंकर की सत्यनिष्ठा और धर्म-परायणता

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० १५२
२. प्रेमाश्रम, पृ० २६८

का पूर्ण विश्वास हो जाता है और ऐसी दिव्य एवं विमल आत्मा पर अनुचित सन्देह करने के कारण अपनी संकीर्णता पर खेद होने लगता है। इतना ही नहीं, ज्ञानशंकर के प्रति उसके हृदय में भक्ति की तरंगें-सी उठने लगती हैं।[1] किन्तु 'प्रेमाश्रम' का पाठक जानता है कि ज्ञानशंकर की इस सत्यनिष्ठा और धर्मपरायणता की वास्तविकता क्या है ? अतः वह प्रेमशंकर के इस पश्चानुताप को भावुकताजन्य प्रलाप ही समझता है, इससे अधिक नहीं !

प्रेमशंकर में यद्यपि युग और वर्गगत दुर्बलताएँ हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि वह 'प्रेमाश्रम' का आदर्श चरित्र है। उसे हम प्रेमचन्द के सामाजिक-आर्थिक विचारों का प्रतिनिधि भी मान सकते हैं। यही कारण है कि प्रेमचन्द ने उसे अपने अन्य कतिपय उपन्यासों और कहानियों में भी दोहराने का प्रयत्न किया है; उदाहरणार्थ 'रंगभूमि' में विनय, 'कायाकल्प' में चक्रधर और 'कर्मभूमि' में अमरकांत के रूप में। किन्तु पता नहीं क्यों 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' के इन तीनों ही चरित्रों में वह निष्ठा, विश्वास, ईमानदारी और दृढ़ता नहीं आ सकी है जो प्रेमशंकर के चरित्र में है। 'प्रेम-पचीसी' में संगृहीत 'पशु से मनुष्य' नामक अपनी कहानी में भी प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' के अपने इस प्रिय चरित्र को दोहराया है। 'पशु से मनुष्य' का नायक भी प्रेमशंकर है, जो कई साल अमेरिका रहकर कृषि-विज्ञान का अध्ययन कर चुका है और स्वदेश लौटकर कृषि को ही अपनी जीविका का आधार बनाता है।[2] 'पशु से मनुष्य' के प्रेमशंकर और 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर के विचारों में कोई मौलिक विरोध अथवा अन्तर नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि 'प्रेमाश्रम' के नायक की अपेक्षा 'पशु से मनुष्य' का नायक अपने सामाजिक-आर्थिक विचारों को अधिक स्पष्टता और विस्तार के साथ प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि यह कहानी 'कहानी' से अधिक एक 'भाषण' बन गई है।

कादिर 'प्रेमाश्रम' का सबसे प्यारा, मानवीय और स्वाभाविक चरित्र है। प्रेमचन्द ने यद्यपि कादिर मियाँ का चरित्र-चित्रण उतने मनोयोग एवं विस्तार के साथ नही किया है जितने कि प्रेमशंकर का, और न उसके चरित्र में गांधीवाद की समस्त विशेषताओं को ही एक साथ समाहित करने का प्रयास किया है, किन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि उसे उपन्यासकार की सर्वाधिक सहानुभूति प्राप्त है। वह प्रेमचन्द की हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना का आदर्श प्रतीक है। अपने सभी उपन्यासों में प्रेमचन्द ने किसानों का नेतृत्व उच्च मध्यवर्गीय नवयुवकों के उस वर्ग के हाथमें रखा है, जिसे 'कथाकार प्रेमचन्द' के लेखक-द्वय 'पेटि बुर्जुआ वर्ग' कहते हैं।[3] 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर इसी वर्ग से संबंधित है। कादिर मियाँ ही प्रेमचन्द-साहित्य में अकेला एक ऐसा चरित्र है जो हमारे इस कथन

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० २७७
२. प्रेम-पचीसी, पृ० १८ (बनारस, १९५८)
३. कथाकार प्रेमचन्द, पृ० ३७३

का अपवाद हो सकता है। स्वयं काश्तकार होकर भी वह लखनपुर के किसानों का नेतृत्व करता है। गाँव के दूसरे किसानों की भाँति कादिर भी एक छोटा-सा किसान है, पर वह उन सबसे बहुत भिन्न है। वह सदा दूसरों की सहायता करने को तत्पर रहता है। गाँव के उग्र नवयुवकों को समझा-बुझाकर वह गाँव में शांति ही नहीं बनाए रखता, बल्कि अवसर पड़ने पर जमींदार के विरुद्ध संघर्ष करने को भी उद्यत रहता है। जमींदार ज्ञानशंकर द्वारा इजाफा लगान की नालिशें दायर किए जाने पर बूढ़ा कादिर भरी पंचायत में सबको ललकार कर कहता है: **"इसी धरती में सब कुछ होता है और सब कुछ इसी में समा जाता है। हम भी इसी धरती से पैदा हुए हैं और एक दिन इसी में समा जायेंगे। फिर यह चोट क्यों सहें? धरती के ही लिए छत्रधारियों के सिर गिर जाते हैं, हम भी अपना सिर गिरा देंगे।"**[1] गौस खाँ को जान से मारने पर तुले हुए डपट के पैरों पर गिरकर कादिर उसे वैसा करने से रोकता ही नहीं[2] बल्कि गौस खाँ की हत्या करने वाले मनोहर की बुराई सुनकर गाँव वालों को बुरा-भला भी कहता है।[3] एक ओर यदि वह थाने में सूचना देने की धमकी देकर बलराज और उसके साथियों को जमींदार के कारिन्दे की मरम्मत करने से विरत करता है[4] तो दूसरी ओर मुचलके के भय से बलराज के विरुद्ध झूठी गवाही देने वाले गाँव वालों को रोकता है। वह उन्हें समझाता है कि मुचलके की तो बात ही क्या, यदि सच कहने से जेल जाना पड़े तो भी नहीं डरना चाहिए।[5] अपनी दृढ़ता से वह समस्त गाँव को एकता के सूत्र में बांधे रखता है।[6]

कादिर के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उसकी परदुःखकातरता है। तहसीलदार की आज्ञा से दुखरन भगत को जूतों से पिटते देखकर वह चपरासी के आगे स्वयं अपना सिर झुका देता है।[7] उसके हृदय में किसानों की वर्त्तमान दुरवस्था के प्रति घोर असन्तोष की भावना है।[8] कादिर का यह असन्तोष और विद्रोहात्मकता उसे गांधीवाद

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० १३४
२. प्रेमाश्रम, पृ० १६५
३. प्रेमाश्रम, पृ० २०४
४. प्रेमाश्रम, पृ० ४७
५. प्रेमाश्रम, पृ० ८६
६. प्रेमाश्रम, पृ० ८६
७. प्रेमाश्रम, पृ० १७२
८. "अरे जो अल्लाह को यही मंजूर होता कि हम लोग इज्जत-आबरू से रहें तो काश्तकार क्यों बनाता? जमींदार न बनाता, चपरासी न बनाता, थाने का कानिसटिबिल न बनाता कि बैठे-बैठे दूसरों पर हुकुम चलाया करते? नहीं तो यह हाल है कि अपना कमाते हैं, अपना खाते हैं, फिर भी जिसे देखो धौंस जमाया करता है। सभी की गुलामी करनी पड़ती है। क्या जमींदार, क्या सरकार, क्या हाकिम सभी की निगाह हमारे ऊपर टेढ़ी है और शायद अल्लाह भी नाराज है,......।"

—प्रेमाश्रम, पृ० १७१

का पूर्ण विश्वास हो जाता है और ऐसी दिव्य एवं विमल आत्मा पर अनुचित सन्देह करने के कारण अपनी संकीर्णता पर खेद होने लगता है। इतना ही नहीं, ज्ञानशंकर के प्रति उसके हृदय में भक्ति की तरंगें-सी उठने लगती हैं।[1] किन्तु 'प्रेमाश्रम' का पाठक जानता है कि ज्ञानशंकर की इस सत्यनिष्ठा और धर्मपरायणता की वास्तविकता क्या है ? अतः वह प्रेमशंकर के इस पश्चानुताप को भावुकताजन्य प्रलाप ही समझता है, इससे अधिक नहीं !

प्रेमशंकर में यद्यपि युग और वर्गगत दुर्बलताएँ हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि वह 'प्रेमाश्रम' का आदर्श चरित्र है। उसे हम प्रेमचन्द के सामाजिक-आर्थिक विचारों का प्रतिनिधि भी मान सकते हैं। यही कारण है कि प्रेमचन्द ने उसे अपने अन्य कतिपय उपन्यासों और कहानियों में भी दोहराने का प्रयत्न किया है; उदाहरणार्थ 'रंगभूमि' में विनय, 'कायाकल्प' में चक्रधर और 'कर्मभूमि' में अमरकांत के रूप में। किन्तु पता नहीं क्यों 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' के इन तीनों ही चरित्रों में वह निष्ठा, विश्वास, ईमानदारी और दृढ़ता नहीं आ सकी है जो प्रेमशंकर के चरित्र में है। 'प्रेम-पचीसी' में संगृहीत 'पशु से मनुष्य' नामक अपनी कहानी में भी प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' के अपने इस प्रिय चरित्र को दोहराया है। 'पशु से मनुष्य' का नायक भी प्रेमशंकर है, जो कई साल अमेरिका रहकर कृषि-विज्ञान का अध्ययन कर चुका है और स्वदेश लौटकर कृषि को ही अपनी जीविका का आधार बनाता है।[2] 'पशु से मनुष्य' के प्रेमशंकर और 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर के विचारों में कोई मौलिक विरोध अथवा अन्तर नही है। हाँ, इतना अवश्य है कि 'प्रेमाश्रम' के नायक की अपेक्षा 'पशु से मनुष्य' का नायक अपने सामाजिक-आर्थिक विचारों को अधिक स्पष्टता और विस्तार के साथ प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि यह कहानी 'कहानी' से अधिक एक 'भाषण' बन गई है।

कादिर 'प्रेमाश्रम' का सबसे प्यारा, मानवीय और स्वाभाविक चरित्र है। प्रेमचन्द ने यद्यपि कादिर मियाँ का चरित्र-चित्रण उतने मनोयोग एवं विस्तार के साथ नही किया है जितने कि प्रेमशंकर का, और न उसके चरित्र में गांधीवाद की समस्त विशेषताओं को ही एक साथ समाहित करने का प्रयास किया है, किन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि उसे उपन्यासकार की सर्वाधिक सहानुभूति प्राप्त है। वह प्रेमचन्द की हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना का आदर्श प्रतीक है। अपने सभी उपन्यासों में प्रेमचन्द ने किसानों का नेतृत्व उच्च मध्यवर्गीय नवयुवकों के उस वर्ग के हाथमें रखा है, जिसे 'कथाकार प्रेमचन्द' के लेखक-द्वय 'पेटि बुर्जुआ वर्ग' कहते हैं।[3] 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर इसी वर्ग से संबंधित है। कादिर मियाँ ही प्रेमचन्द-साहित्य में अकेला एक ऐसा चरित्र है जो हमारे इस कथन

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० २७७
२. प्रेम-पचीसी, पृ० १८ (बनारस, १९५८)
३. कथाकार प्रेमचन्द, पृ० ३७३

का अपवाद हो सकता है। स्वयं काश्तकार होकर भी वह लखनपुर के किसानों का नेतृत्व करता है। गाँव के दूसरे किसानों की भाँति कादिर भी एक छोटा-सा किसान है, पर वह उन सबसे बहुत भिन्न है। वह सदा दूसरों की सहायता करने को तत्पर रहता है। गाँव के उग्र नवयुवकों को समझा-बुझाकर वह गाँव में शांति ही नहीं बनाए रखता, बल्कि अवसर पड़ने पर जमींदार के विरुद्ध संघर्ष करने को भी उद्यत रहता है। जमींदार ज्ञानशंकर द्वारा इजाफा लगान की नालिशें दायर किए जाने पर बूढ़ा कादिर भरी पंचायत में सबको ललकार कर कहता है: "इसी धरती में सब कुछ होता है और सब कुछ इसी में समा जाता है। हम भी इसी धरती से पैदा हुए हैं और एक दिन इसी में समा जायेंगे। फिर यह चोट क्यों सहें? धरती के ही लिए छत्रधारियों के सिर गिर जाते हैं, हम भी अपना सिर गिरा देंगे।"[1] गौस खाँ को जान से मारने पर तुले हुए डपट के पैरों पर गिरकर कादिर उसे वैसा करने से रोकता ही नहीं[2] बल्कि गौस खाँ की हत्या करने वाले मनोहर की बुराई सुनकर गाँव वालों को बुरा-भला भी कहता है।[3] एक ओर यदि वह थाने में सूचना देने की धमकी देकर बलराज और उसके साथियों को जमींदार के कारिन्दे की मरम्मत करने से विरत करता है[4] तो दूसरी ओर मुचलके के भय से बलराज के विरुद्ध झूठी गवाही देने वाले गाँव वालों को रोकता है। वह उन्हें समझाता है कि मुचलके की तो बात ही क्या, यदि सच कहने से जेल जाना पड़े तो भी नहीं डरना चाहिए।[5] अपनी दृढ़ता से वह समस्त गाँव को एकता के सूत्र में बांधे रखता है।[6]

कादिर के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उसकी परदुःखकातरता है। तहसीलदार की आज्ञा से दुखरन भगत को जूतों से पिटते देखकर वह चपरासी के आगे स्वयं अपना सिर झुका देता है।[7] उसके हृदय में किसानों की वर्त्तमान दुरवस्था के प्रति घोर असन्तोष की भावना है।[8] कादिर का यह असन्तोष और विद्रोहात्मकता उसे गांधीवाद

१. प्रेमाश्रम, पृ० १३४
२. प्रेमाश्रम, पृ० १६५
३. प्रेमाश्रम, पृ० २०४
४. प्रेमाश्रम, पृ० ४७
५. प्रेमाश्रम, पृ० ८६
६. प्रेमाश्रम, पृ० ८६
७. प्रेमाश्रम, पृ० १७२
८. "अरे जो अल्लाह को यही मंजूर होता कि हम लोग इज्जत-आबरू से रहें तो काश्तकार क्यों बनाता? जमींदार न बनाता, चपरासी न बनाता, थाने का कानिसटिबिल न बनाता कि बैठे-बैठे दूसरों पर हुकुम चलाया करते? नहीं तो यह हाल है कि अपना कमाते हैं, अपना खाते हैं, फिर भी जिसे देखो धौंस जमाया करता है। सभी की गुलामी करनी पड़ती है। क्या जमींदार, क्या सरकार, क्या हाकिम सभी की निगाह हमारे ऊपर टेढ़ी है और शायद अल्लाह भी नाराज है,...... ।"

—प्रेमाश्रम, पृ० १७१

से एक कदम आगे ले जाती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द-साहित्य में कादिर किसान-आंदोलन का प्रथम और अंतिम किसान-नेता है।

प्रेमचन्द का दृष्टिकोण मूलतः आदर्शवादी था, पर उनका आदर्शवाद सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा करके चलने वाला आदर्श नहीं था। यही कारण है कि किन्हीं अंशों में उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी और वस्तुपरक भी था। और, यही कारण है कि 'प्रेमाश्रम' का गांधीवादी पात्र प्रेमशंकर भी मानता है कि किसानों की गरीबी का उत्तरदायित्व उनकी फजूलखर्ची, आलस्य, अशिक्षा या अनभिज्ञता पर नहीं, वरन् उन परिस्थितियों पर है जिनमें वे जीवन व्यतीत करते हैं अथवा करने को विवश किए जाते हैं। वे परिस्थितियाँ हैं—किसानों में एकता का अभाव और जमींदारी-व्यवस्था! प्रेमशंकर यह भी जानता है कि वर्त्तमान शासन अपनी सत्ता स्थिर रखने के लिए इन परिस्थितियों को तरह-तरह से बढ़ावा देता है।[1] इससे आगे बढ़कर प्रेमचन्द स्वयं किसानों में भी इस चेतना का विकास दिखाते हैं। मनोहर और बलराज किसानों की इसी चेतना के प्रतीक हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमाश्रमकार इस सत्य से भली भाँति परिचित था कि शोषण उस समय तक समाप्त नहीं हो सकता जब तक कि वर्त्तमान सामाजिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन नहीं हो जाता। और, यह परिवर्तन स्वयं शोषकों के सद्प्रयत्नों से नहीं, बल्कि शोषितों के संगठन तथा संघर्ष द्वारा ही लाया जा सकता है। संघर्ष के बिना बुराइयों का निराकरण असंभव है। उपन्यास के आरंभ में ही प्रेमचन्द ने इस क्रांतिकारी तथ्य को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। लखनपुर के किसान इस बात को जानते हैं कि उनके शोषण का मूल कारण उनकी आपस की फूट है।[2] वे इस सच्चाई को भी अच्छी तरह जानते हैं कि जमींदार ज्ञानशंकर उसी समय तक मनमानी कर सकता है जब तक कि उनमें परस्पर ऐक्य न हो।[3] गौसखाँ और डिप्टी साहब के चपरासियों की धमकी सुनकर जब सारा गाँव सन्नाटा खींच जाता है तो बलराज के स्वर में मानों प्रेमचन्द ही उन्हें ललकार कर कहते हैं : **"मालूम होता था कि किसी के मुंह में जीभ ही नहीं है। तभी तो यह दुर्गति हो रही है! अगर कुछ दम हो तो आज इतने पीसे-कुचले क्यों जाते?"**[4]

बलराज का यह स्वर निश्चित रूप से गांधी का स्वर नहीं है। भारत के किसानों

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० १८६–६०

२. प्रेमाश्रम, पृ० ६

३. "मनोहर—होगा क्या, तुम हमारे खेत पर चढ़ोगे, हम तुम्हारे खेत पर चढ़ेंगे, छोटे सरकार की चांदी होगी। सरकार की आंखें तो तब खुलतीं जब कोई किसी के खेत पर दांव न लगाता। सब मौत मर लेते।"

—प्रेमाश्रम, पृ० ६

४. प्रेमाश्रम, पृ० ५३

में क्रमशः विकसित हो रही अन्याय-प्रतिकार की तीव्र चेतना का बलराज अत्यन्त सबल प्रतिनिधि है। जब वह किसी शक्तिशाली को—जिसे वह अपनी देहाती बोली में 'जबरा' कहता है—किसी गरीब का गला दबाते हुए देखता है तो उसके तन-बदन में आग लग जाती है। यह जानते हुए भी कि वह अकेला कुछ नहीं कर सकता, उसका जी चाहता है कि उस 'जबरे' का सिर नीचा करदे।[1] उसे जेल का भी भय नहीं है क्योंकि 'गांधी बाबा' भी तो जेल हो आए हैं।[2] बलराज के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह समानता के सिद्धान्त की केवल दुहाई ही नहीं देता, व्यावहारिक जीवन में कठोरता से उसका पालन भी करता है। हलवाहे रंगी चमार के साथ भोजन में भेदभाव बरते जाने पर उसका सात्विक आवेश उसके हृदय की उच्चता और सच्चाई का प्रमाण है।[3]

'प्रेमाश्रम' में वर्ग-संघर्ष की भावना भी मिलती है। उसका लेखक पूरे समाज को स्पष्ट दो वर्गों में विभाजित दिखाता है—जमींदार ज्ञानशंकर और उसका वर्ग तथा मनोहर, बलराज और कादिर का वर्ग। मनोहर जानता है कि हाकिम भी जमींदार का ही पक्ष लेते हैं, क्योंकि वे स्वयं भी तो जमींदार ही हैं। 'लाट साहब' की पंचायत में भी किसानों की सुनवाई नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ भी जमींदारों का ही बहुमत है।[4] मनोहर-बलराज द्वारा कारिन्दे गौस खाँ की हत्या कर दिए जाने पर ज्ञानशंकर डाक्टर प्रियनाथ से कहता है : "मैं इस घटना को पुलिस की दृष्टि से नहीं देखता। हत्या हो गई, एक ने की या कई आदमियों ने मिलकर की। मेरे लिए यह समस्या इससे कहीं जटिल है। प्रश्न जमींदारों और किसानों का है।"[5] स्पष्ट है कि प्रेमाश्रम का लेखक गौस खाँ की हत्या को एक व्यक्तिगत प्रश्न नहीं, बल्कि जमींदारों और किसानों के बृहत्तर

---

१. "बलराज—क्या जाने क्यों रंगी, जब से दुनिया का थोड़ा-बहुत हाल जानने लगा हूँ मुझसे अन्याय नहीं देखा जाता। जब किसी जबरे को किसी गरीब का गला दबाते देखता हूँ तो मेरे बदन में आग-सी लग जाती है। यही जी चाहता है कि अपनी जान रहे या जाय, इस जबरे का सिर नीचा कर दूँ। सिर पर भूत-सा सवार हो जाता है। जानता हूँ कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता; पर मन काबू से बाहर हो जाता है।"

—प्रेमाश्रम, पृ० ५५

२. प्रेमाश्रम, पृ० १२

३. "बलराज—........जो हमसे अधिक काम करता है उसे हमसे अधिक खाना चाहिए। हमने तुमसे बार-बार कह दिया है कि रसोई में जो कुछ थोड़ा-बहुत हो, वह सबके सामने आना चाहिए। अच्छा खायें, बुरा खायें तो सब खायें;...... । रंगी कोई बेगार का आदमी नहीं है, घर का आदमी है। वह मुंह से चाहे न कहे, पर मन में अवश्य कहता होगा कि छाती फाड़कर काम मैं करूँ और मूछों पर ताव देकर खायें यह लोग। ऐसे दूध-घी खाने पर लानत है।"

—प्रेमाश्रम, पृ० ५४-५५

४. प्रेमाश्रम, पृ० ४५

५. प्रेमाश्रम, पृ० २१७

प्रश्न का ही एक अंग मानता था। और, इसमें संदेह नहीं कि 'प्रेमाश्रम' में गौस खाँ का खून किसी व्यक्तिगत द्वेष का परिणाम नहीं, बल्कि लखनपुर के किसानों के संघर्ष का ही एक अंग है। मनोहर के इस कृत्य को क्रांतिकारी विद्रोह के प्रथम सोपान आतंकवाद के अन्तर्गत माना जाना चाहिए। क्रांति के समय वैयक्तिक आतंकवाद को वांछनीय नहीं माना जा सकता, पर क्रांति से पूर्व वह अपरिहार्य है। यही कारण है कि गौस खाँ की हत्या के प्रश्न पर सम्पूर्ण शोषक वर्ग—पुलिस और अदालत, वकील और डाक्टर, जमींदार और महाजन—अपने विशिष्टाधिकारों पर भावी संकट की कल्पना करके एक हो जाता है। ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द मनोहर के इस कृत्य से असहमत नहीं थे। इसीलिए उन्होंने कहीं भी मनोहर की भर्त्सना नहीं की है। इसके विपरीत उन्होंने कादिर के मुंह से उल्टे उन गाँव वालों की भर्त्सना करवाई है जो मनोहर को बुरा-भला कहते हैं। कादिर कहता है: "यारो ! ऐसी बातें न करो ! बेचारे ने तुम लोगों के लिए, तुम्हारे हक की रक्षा करने के लिए यह सब कुछ किया। उसकी हिम्मत और जीवट की तारीफ तो नहीं करते और उसकी बुराई करते हो ! हम सब-के-सब कायर हैं, वही एक मर्द है।"[1] गौस खाँ का वध करवाकर प्रेमचन्द ने उसे साम्प्रदायिक रूप नहीं दिया है, हालांकि उसके संदर्भ में हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न बड़ी सरलता से उठाया जा सकता था। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि 'प्रेमाश्रम' का रचनाकाल हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई के नारों से प्रतिध्वनित लखनऊ पैक्ट का युग था। दूसरा यह कि प्रेमचन्द एक शुद्ध आर्थिक समस्या में साम्प्रदायिक रंग भरकर उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करना नहीं चाहते थे। वे जानते थे कि सवाल मनोहर (हिन्दू) और गौस खाँ (मुसलमान) का नहीं, पीड़ित और आततायी का है।

प्रेमचन्द के लगभग सभी प्राक् गांधीयुगीन तथा गांधीयुगीन उपन्यासों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें समस्या का विश्लेषण और उसका समाधान दो भिन्न दृष्टिकोणों से उपस्थित किया गया है। 'प्रेमाश्रम' में भी यह भिन्नता पर्याप्त स्थूल रूप में विद्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण समाधान के निकट पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्द का यथार्थ कुंठित हो जाता है और वे गांधीवाद के अनुरूप सुधारवादी हल प्रस्तुत करने पर विवश-से हो जाते हैं। यही कारण है कि 'प्रेमाश्रम' का आदि और मध्य—जब कि प्रेमचन्द किसानों के शोषण और उसके विरुद्ध उनके संघर्ष का चित्रण करते हैं—उसके अंत से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक तथा विचारोत्तेजक है। अतः 'प्रेमाश्रम' के अंत को हम प्रेमचन्द के आदर्शवाद की विजय और सामाजिक यथार्थ की पराजय मान सकते हैं।

२. 'रंगभूमि'—

'रंगभूमि' का रचनाकाल भारत के राजनीतिक रंगमंच पर गांधीवाद के चरमो-

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० २०४

त्कर्ष का युग है। यह सन् '२० तथा सन् '३० के बीच की कृति है जब कि गांधीजी का प्रथम सत्याग्रह-आंदोलन स्थगित किया जा चुका था और दूसरे बड़े सविनय अवज्ञा-आंदोलन की तैयारियाँ हो रही थीं। रंगभूमिकार प्रेमचन्द की मानसिक पृष्ठभूमि गांधीजी के इसी सत्याग्रह-आंदोलन की विचारधारा से ओतप्रोत है।

'रंगभूमि' की मुख्य समस्या औद्योगिक सभ्यता बनाम कृषि सभ्यता है। उपन्यास में जान सेवक औद्योगिक सभ्यता (पूंजीवाद) का और अंधा सूरदास कृषि सभ्यता (सामन्तवाद) का प्रतिनिधि है। जैसा कि हम देख चुके हैं अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को शुद्ध कृषि-प्रधान देश बनाए रखने का पूरा प्रयत्न किया, लेकिन ऐतिहासिक ताकतों और आवश्यकताओं के सामने उन्हें झुकना पड़ा। अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए विदेशी पूंजीवाद को देशी पूंजी से समझौता करना पड़ा। फलस्वरूप देशी पूंजी ने अकेले और विदेशी पूंजी के साझे में अनेक नई मिलें, फैक्टरियाँ और कारखाने स्थापित किए। भारत के औद्योगीकरण का इतिहास सन् १९१४ के प्रथम महायुद्ध से आरंभ होता है। 'रंगभूमि' के रचनाकाल तक हालांकि देश ने औद्योगीकरण की दिशा में काफी प्रगति कर ली थी, किन्तु फिर भी अभी वह सामन्तवाद पर पूर्ण विजय नहीं प्राप्त कर सका था। 'रंगभूमि' सामन्तवाद और पूंजीवाद, कृषि सभ्यता और औद्योगिक सभ्यता के इसी संघर्ष की गाथा है।

गांधीजी औद्योगिक सभ्यता की इस बढ़ती से अत्यधिक चिन्तित तथा आशंकित थे। गांधीजी औद्योगीकरण का विरोध इसलिए करते थे क्योंकि उनके मतानुसार इससे आर्थिक शोषण, नैतिक अवःपतन तथा सामाजिक दुर्गुणों और व्यसनों का प्रसार होता है। वे मानते थे कि आधुनिक अर्थशास्त्र का एकमात्र आधार भौतिक उन्नति है। धर्म-नीति से उसका कोई संबंध नहीं रह गया है। वह पशुबल का पूजक और आत्मशक्ति का विरोधी है। इस अर्थशास्त्र का अनुगमन करने के कारण ही हमारे जीवन के दो अभिन्न अंगों में—नगर और देहात, उद्योग एवं कृषि—परस्पर विरोध का आविर्भाव हो गया है।[1] उद्योगवाद के इस अंध प्रवाह में हमारे गाँव उजड़कर दिन-ब-दिन अधिकाधिक गरीब—आर्थिक ही नहीं सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक दृष्टि से भी गरीब—होते जा रहे हैं। गांधीजी कहा करते थे कि हमें अपने गाँवों को इस चौमुखी विनाश से बचाना है। वे मानते थे कि आज हमारे जीवन में जो कृत्रिमता, अधार्मिकता तथा अनैतिकता बढ़ रही है, सामूहिक और केन्द्रीकृत उत्पादन ही उसका मुख्य कारण है।[2] यह निश्चित है कि जब तक हम जीवन के प्राचीन आदर्श 'सादा जीवन उच्च विचार' की ओर प्रत्यावर्त्तन

---

१. गांधी-विचार-दोहन, पृ० ८७—८८

२. The Gandhian Way of Life : J. C. Kumarappa, P. 28-29 (First Edition, 1952)

फायदा भी खूब होगा। किन्तु इसके साथ ही मादक पदार्थों का प्रचार भी तो बढ़ेगा, जुए और व्यभिचार के अड्डे भी तो खुलेंगे, गाँव की बहू-बेटियों की इज्जत पर हमले भी तो होंगे, मजदूरी के लालच में गाँव वाले वहाँ आकर बुरी आदतें भी तो सीखेंगे।[1]

सूरदास की इस सत्यनिष्ठा और आत्मबल के लिए यह कहना शायद उचित नहीं होगा कि "वह वस्तुस्थिति से आँखें बन्द करके अपने आप में डूबकर लड़ता रहता है।"[2] इसमें संदेह नही कि 'रंगभूमि' का सूरदास जिस व्यवस्था की रक्षा के लिए लड़ता है, सामाजिक और ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से उसकी रक्षा न तो संभव ही है और न समीचीन ही। पर इतने मात्र से तो सूरदास के संघर्ष को वस्तुस्थिति से आँखें बंद करके अपने आप में डूबकर लड़ना नहीं कहा जा सकता।[3] 'रंगभूमि' के सूरदास का महत्त्व इस बात में नही है कि वह किस व्यवस्था की रक्षा के हेतु संघर्ष करता है। उसका महत्त्व इस बात में है कि वह अन्याय को चुपचाप न सहकर उसका सक्रिय विरोध करता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, सूरदास इस तथ्य से भली भाँति परिचित है कि महाजनी सभ्यता को रोकने की शक्ति और सामर्थ्य उसमे नही है, किन्तु फिर भी वह अपनी शक्ति भर उसका मुकाबला करता है। यह उसकी दुर्बलता का नही वरन् शक्ति का परिचायक है। अन्याय के विरोध मे सूरदास सरीखा जीवट वाला और संघर्षशील चरित्र शायद समूचे हिंदी कथा-साहित्य मे दूसरा नही मिलेगा। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब सूरा यह जानता है कि जिस चीज के लिए वह सघर्ष कर रहा है वह प्राप्त होने वाली नही तो फिर व्यर्थ मे वह सघर्ष करता ही क्यो है? उत्तर स्पष्ट है। प्रश्न सफलता और असफलता का नही, बल्कि अन्याय के प्रतिकार का है। सूरदास मानता है कि सफलता मिले या न मिले, अन्याय का प्रतिकार किया ही जाना चाहिए।[4] एक बात और, सूरदास का संघर्ष केवल ध्वंसात्मक या सहारात्मक ही नही है, उसमे नए निर्माण की एक अदम्य कामना और चेतना भी अंतर्निहित है। मिठुआ के साथ उसका निम्नोक्त वार्त्तालाप आलो-

---

१. रंगभूमि, भाग १ पृ० १२६

२. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व : हंसराज 'रहबर', पृ० २४१ (दिल्ली, १९५१)

३. "सूरदास उत्तर प्रदेश के गरीब किसानों का प्रतिनिधि है। जब वह अपनी जमीन के लिये लड़ता है, तब वह सभी किसानों का प्रतिनिधित्व करता है। रूस और चीन की क्रान्तियो मे भी किसान भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के लिये लड़े थे। इससे उन क्रान्तियो का जनवादी महत्व कम नहीं होता।"

—लेखक के नाम डॉ० रामविलास शर्मा के पत्र दिनांक १२-७-५६ से उद्धृत

४. "सूरदास—××× मेरा धरम तो यही है कि जब कोई मेरी चीज पर हाथ बढ़ाए, तो उसका हाथ पकड़ लूं। वह लड़े, तो लड़ूं, और उस चीज के लिये प्रान तक दे दूं। चीज मेरे हाथ आएगी, इसका मुझे मतलब नहीं, मेरा काम तो लड़ना है, और वह भी धरम की लड़ाई लड़ना।"

—रंगभूमि, भाग १ पृ० ३६०

चकों द्वारा बार-बार उद्धृत किए जाने के बावजूद आज भी नए निर्माण का नया संदेश देने में समर्थ है :—

"मिठुआ ने पूछा—दादा, अब हम रहेंगे कहाँ ?

सूरदास—दूसरा घर बनाएंगे।

मिठुआ—और जो कोई फिर आग लगा दे ?

सूरदास—तो फिर बनाएंगे।

मिठुआ—और फिर लगा दे ?

सूरदास—तो हम भी फिर बनाएंगे।

मिठुआ—और जो कोई हजार बार लगा दे ?

सूरदास—तो हम हजार बार बनाएंगे।"[1]

सिगरेट के कारखाने के विरुद्ध सूरदास का विरोध नैतिक और धार्मिक ही नहीं, आर्थिक और सामाजिक कारणों से भी है। बड़े-बड़े कारखाने, फैक्टरियाँ और मिलें केन्द्रीकृत जीवन के प्रतीक हैं। और, गांधी की भाँति प्रेमचन्द भी केन्द्रीकरण के समर्थक नहीं थे। प्रेमचन्द ने यद्यपि अपने साहित्य में सामन्तवाद के ह्रास और पूंजीवाद के उदय को एक महान् यथार्थवादी लेखक की वैज्ञानिकता से चित्रित किया है, किन्तु फिर भी (यह कहने की आवश्यकता नहीं कि) नवीन औद्योगिक सभ्यता के मुकाबले प्राचीन कृषि सभ्यता की कतिपय विशेषताओं के प्रति उनके हृदय में गहरी प्रशंसा और आकर्षण विद्यमान था। प्रेमचन्द के साहित्य का यह द्वन्द्व उनके आलोचकों को अक्सर भ्रम में डाल देता है। प्रेमचन्द मानते थे कि नवीन पूंजीवाद की अपेक्षा प्राचीन सामन्तवाद अधिक मानवीय समाज-व्यवस्था है। वह इतनी क्रूर, हृदयहीन, अन्यायपूर्ण और दया-धर्म के विचार से रहित नहीं हैं। उसमें जमींदार और किसान के मध्य एक प्रकार का पारिवारिक संबंध-सूत्र रहता है, लेकिन पूंजीवाद में मालिक और मजदूर के बीच शुद्ध व्यवसाय के अतिरिक्त कोई संबंध नहीं रह जाता। लेकिन प्रेमचन्द की इस धारणा को उनके साहित्य का प्रतिक्रियावादी तत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रेमचन्द वस्तुत: सामन्तवाद को पुनरुज्जीवित करना नहीं चाहते थे। उनकी प्रगतिशीलता इस बात में है कि व्यक्तिगत रूप से पूंजीवादी सभ्यता के विकास के पृष्ठपोषक न होते हुए भी प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में उसकी विजय ही दिखाई है। 'रंगभूमि' के अंत में हम देखते हैं कि पांडेपुर पूर्णत: नष्ट हो गया है और जान सेवक का कारखाना दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को एक ओर रखकर इस प्रकार रंगभूमिकार सामाजिक यथार्थ तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रति न्याय करने में सफल हो सका है। अपने समस्त आदर्शवाद के बावजूद रंगभूमिकार का यह यथार्थवाद उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

सूरदास गांधीजी का ही प्रतिरूप है, कहना चाहिए उनका लघु साहित्यिक संस्करण

---

१. रंगभूमि, भाग १ पृ० २०३-२०४

है। वह गांधीजी के विचारों और उनके अहिंसात्मक सत्याग्रह का सजीव प्रतिनिधि है। श्री हंसराज 'रहबर' का मत है कि सूरे को अंधा दिखाकर उपन्यासकार ने जाने या अनजाने गांधीवाद पर व्यंग्य किया है।[1] सूरदास के चरित्र की आदर्शवादजन्य समस्त खामियों को स्वीकार करते हुए भी श्री 'रहबर' की इस क्लिष्ट कल्पना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। सूरे को अंधा दिखाकर प्रेमचन्द ने भौतिक अर्थात् शारीरिक दृष्टि से उसकी पंगुता और निरीहता ही व्यक्त की है, गांधीवाद पर किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यंग्य नहीं। गांधीवाद शरीरबल अथवा पशुबल पर आत्मबल की प्रतिष्ठा करता है। प्रेमचन्द के समस्त कथा-साहित्य में सूरदास पशुबल पर आत्मबल की विजय का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। शारीरिक दृष्टि से अपंग होते हुए भी अपने आत्मबल के सहारे वह साम्राज्यवाद, सामन्तवाद तथा पूंजीवाद की सम्मिलित ताकतों से अकेला ही लोहा लेता है और उनके दांत खट्टे कर देता है। निस्सन्देह सूरदास के समस्त संघर्ष का अंत उसकी असंदिग्ध पराजय में होता है (सामाजिक विकास के नियमानुसार जो बिल्कुल स्वाभाविक और आवश्यक है), किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भौतिक दृष्टि से पराजित होकर भी नैतिक दृष्टि से वह अपराजित ही रहता है। सूरदास की नैतिक विजय अपनी झोंपड़ी और जमीन बचा लेने में नहीं बल्कि अपने प्रतिपक्षियों पर भी अपनी सत्यप्रियता और न्यायप्रियता की अमिट छाप छोड़ जाने में है।[2] स्वयं प्रेमचन्द यह स्पष्ट कर देते हैं कि सूरे को वे नैतिक दृष्टि से विजयी क्यों मानते हैं? उनके अनुसार उसकी सबसे बड़ी विजय यह थी कि शत्रुओं को भी उससे शत्रुता न थी। उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया में सोफिया, गांगुली, जाह्नवी, भरतसिंह, नायकराम, भैरों आदि मित्र पक्ष के व्यक्ति ही नही अपितु जान सेवक, महेन्द्रकुमारसिंह, जगधर, मि० क्लार्क आदि शत्रु पक्ष के व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं।[3] पाडेपुर में सूरदास की प्रतिमा स्थापित किए जाने के अवसर पर हुए प्रीति-भोज में छूत और अछूत एक ही पंगत में बैठकर खाते हैं। प्रेमचन्द के अनुसार यह उसकी दूसरी बड़ी नैतिक विजय थी।[4]

सत्याग्रही की योग्यताओं पर विचार करते हुए २६ मार्च, १६३६ के 'हरिजन-बंधु' में गांधीजी ने उसके लिए कम-से-कम सात योग्यताएँ आवश्यक मानी थीं। उनमें सर्वप्रमुख

---

१. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २४१

२. "वह अपनी जमीन के बेचने का विरोध करता है, लेकिन वह उससे जबरदस्ती छीन ली जाती है। यह उसकी पहली नैतिक विजय है। वह अपने पड़ोसी की स्त्री को अपने यहां इसलिए शरण देता है कि पति उसको बहुत पीटता है। इसलिए लोग उसे भला-बुरा कहते हैं। वह अपने व्यवहार से निन्दकों का मुंह बन्द कर देता है। यह उसकी दूसरी नैतिक विजय है। जीवन-संग्राम के इस आदर्श योद्धा की नैतिक विजयों को प्रेमचन्द ने विशेष रूप से चित्रित किया है।"

—प्रेमचन्द : एक विवेचन : डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ७८

३. रंगभूमि, भाग २ पृ० ४०७

४. रंगभूमि, भाग २ पृ० ४२८

है : "उसे ईश्वर पर ज्वलंत विश्वास होना चाहिए, क्योंकि वही एक-मात्र अटूट आधार है।"[1] गांधीजी मानते थे कि ईश्वर में जीवित विश्वास के बिना सत्याग्रह के सफल प्रयोग की क्षमता का अर्जन नहीं किया जा सकता। आदर्श सत्याग्रही पूर्णतः अहिंसक होता है। वह प्रत्येक अवस्था में पूर्ण अहिंसा—जिसका अर्थ है किसी भी प्रकार के भय, क्रोध या प्रतिशोध के बिना प्राण देने की क्षमता—का पालन करता है। किन्तु गांधीजी सत्याग्रही के लिए ईश्वर का कोई निश्चित या पूर्व-निर्धारित स्वरूप प्रस्तुत नहीं करते। वे केवल ईश्वर की आस्था पर बल देते हैं, उसके संबंध में किसी विशिष्ट कल्पना पर नहीं। उनके अनुसार "परमेश्वर की व्याख्याएं अगणित हैं; क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अगणित हैं।"[2] सत्याग्रही की ईश्वर-भक्ति को ईश्वर-भीरुता के साथ समीकृत नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि उसकी इस श्रद्धा-भक्ति का स्रोत किसी प्रकार का भय अथवा लौकिक सिद्धि की कामना नहीं होती।

'रंगभूमि' का सूरदास भी इसी निष्ठा के साथ ईश्वर पर आस्था रखता है। वह मानता है कि यदि कोई कार्य न्यायपूर्ण है तो फिर उसके करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं करनी चाहिए। सत्याग्रही को केवल भगवान का ही भरोसा करना चाहिए, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं।[3] सूरदास का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने पूर्व-जन्म के भले-बुरे कर्मों के अनुसार ही इस जन्म में सुख-दुःख भोगना पड़ता है।[4] किन्तु सूरदास यह भूल जाता है कि पूर्व-जन्म और कर्म-फल की प्रतिक्रियावादी विचारधारा में विश्वास करने वाले व्यक्ति के लिए अन्याय तथा अत्याचार का प्रतिकार किए जाने की बातें बिल्कुल व्यर्थ, अनावश्यक और अर्थहीन हो जाती हैं। जब हम अपने पूर्व-जन्म के पापों के कारण ही इस जन्म में दुःख-दर्द झेल रहे हैं तो फिर उनके विरुद्ध संघर्ष करने का सवाल ही कहाँ उठता है? कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की विचारधारा पर चलकर शोषण, अन्याय और अत्याचार को समाप्त नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि यह विचारधारा सदा से मालिक श्रेणी की प्रिय विचारधारा रही है और इसने सदा शोषित वर्ग की सामाजिक चेतना को कुंठित करने का प्रयास किया है। सूरदास के चरित्र के इस प्रतिक्रियावादी तत्त्व को आँखों से ओझल करके 'रंगभूमि' और उसके रचयिता की मनोभूमि की तह तक नहीं पहुँचा जा सकता।

एक सच्चे सत्याग्रही की भाँति सूरदास अपने विरोधी का पूरी शक्ति से विरोध

---

१. गांधी-विचार-दोहन, पृ० ७३

२. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, प्रस्तावना पृ० १०

३. रंगभूमि, भाग १ पृ० २३५

४. "सूरदास—भगवान अन्यायी नहीं है, मेरे पूर्व-जन्म की कमाई ही ऐसी थी। जैसे कर्म किए हैं, वैसे फल भोग रहा हूँ। यह सब भगवान की लीला है। वह बड़ा खिलाड़ी है। घरौंदे बनाता-बिगाड़ता रहता है। उसे किसी से बैर नहीं। वह क्यों किसी पर अन्याय करने लगा?"

—रंगभूमि, भाग १ पृ० १७

करते हुए भी उसका बुरा नही चेतता। उसका जीवन-दर्शन एक खिलाड़ी का दर्शन है, जो हारकर अपने प्रतिपक्षी पर क्रोध नही करता और जीतकर उसका उपहास नही करता।'[1] सोफिया द्वारा उकसाए जाने पर भी सूरदास अपने सिद्धान्त-पथ से विचलित नहीं होता। वह स्पष्ट शब्दों में कह देता है कि उसके हृदय में अपने विरोधी राजा महेन्द्रकुमारसिंह के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नही है।[2] सूरदास का यह विश्वास गांधीजी के उस मत पर आधृत है जिसके अनुसार "यदि विरोधी उसे बीस बार धोखा देता है, तो भी सत्याग्रही इक्कीसवें बार उसका विश्वास करने को तैयार रहता है, क्योंकि मनुष्य-स्वभाव में श्रद्धा उसके सिद्धान्त का सार है।"[3] सूरा स्वयं तो इस विश्वास से अनुप्राणित है ही, साथ ही वह यह मानने को भी तैयार नही है कि उसका प्रतिपक्षी उसके प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना या द्वेष से प्रेरित है। भैरो के प्रति सूरदास का व्यवहार उसके इसी विश्वास का द्योतक है।[4] सत्याग्रही को निरन्तर भलाई पर भलाई करते देखकर विरोधी स्तंभित रह जाता है। भैरो भी सूरदास की आंतरिक निर्मलता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अंत में वह अपने अपराधों को स्वीकार कर लेता है[5] और ताड़ी-शराब के धंधे को छोड़ देता है। वह अनुभव करने लगता है कि यह व्यवसाय ही वास्तव में खराब है, क्योंकि इसमें दिन-रात बुरे आदमियों का साथ रहता है और उनके साथ रहकर अप्रत्यक्ष रूप से उनका आचरण हमें भी प्रभावित करता है।[6] इस प्रकार एक दीन-हीन अंधे प्राणी के

---

१. "सूरदास—नही मिस साहब, यह खिलाड़ियों की नीत नही है। खिलाड़ी जीतकर हारने वाले खिलाड़ी की हँसी नहीं उड़ाता, उससे गले मिलता है, और हाथ जोड़कर कहता है—'भैया, अगर हमने खेल में तुमसे कोई अनुचित बात कही हो, या कोई अनुचित व्योहार किया हो, तो हमे माफ करना।' इस तरह दोनों खिलाड़ी हँसकर अलग होते हैं, खेल खतम होते ही दोनो मित्र बन जाते हैं, उनमें कोई कपट नही रहता।"

—रंगभूमि, भाग १ पृ० ३५६

२. रंगभूमि, भाग १ पृ० ३५६

३. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० १३६ पर उद्धृत

४. "सूरदास—भैरो, हमारी तुम्हारी दुसमनी कैसी ? मैं तो किसी को अपना दुसमन नहीं देखता ! ××× तुमने मेरे साथ कोई बुराई नहीं की। तुम्हारी जगह मैं होता, और समझता कि तुम मेरी घरवाली को बहकाए लिए जाते हो, तो मैं भी यही करता, जो तुमने किया।"

—रंगभूमि, भाग २ पृ० १५५

× × ×

"सूरदास—तुमने मेरे साथ कौन सी दुसमनी की ! तुमने वही किया जो तुम्हारा धरम था। मैं रात-भर हिरासत में बैठा यही सोचता रहा कि तुम क्यों मेरे पीछे पड़े हुए हो, मैंने तो तुम्हारे साथ कोई बुराई नहीं की, तो मुझे मालूम हुआ कि तुम मेरे साथ कोई बुराई नहीं कर रहे हो। यही तुम्हारा धरम है।"

—रंगभूमि, भाग २ पृ० १५५

५. रंगभूमि, भाग २ पृ० १५६–५७

६. रंगभूमि, भाग २ पृ० १५७–५८

सद्प्रयासों से भैरो का पुनर्जन्म होता है। सचमुच भैरो का यह पुनर्जन्म ही था।

इसी भाँति अपने सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी जान सेवक के प्रति भी सूरदास अपने मन में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं पालता।[1] विरोधी के प्रति भी सूरदास अपने कर्त्तव्य का पालन कितनी नैतिक निर्ममता से करता है, इसका परिचय उस समय मिलता है जब वह जान सेवक को मिठुआ द्वारा पुतलीघर में आग लगाने की बात से सावधान करता है।[2] इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि मिठुआ सूरे को प्राणाधिक प्रिय था और वह उसे पुत्रवत् मानता था। किन्तु फिर भी वह जान सेवक को मिठुआ की दुराकांक्षा से सचेत कर देना अपना धर्म समझता है।

सूरदास एक आदर्श सत्याग्रही की भाँति अहिंसा का अनन्य उपासक है। उसकी जमीन के प्रश्न को लेकर नगर में एक विशाल आंदोलन उठ खड़ा होता है, जो स्वभावत: ज्यादा दिनों तक अहिंसक नहीं रह पाता। एक दिन कई सौ लठैतों ने जान सेवक के गोदाम को घेर लिया और सीमेंट, चूना इत्यादि के ढेर को बिखेरने लगे। अपनी सहानुभूति में होने पर भी सूरदास लोगों के इस हिंसापूर्ण कृत्य को सहन नहीं कर पाता। गांधीवाद की भाषा में वह उनसे कहता है: **"तुम लोग यह ऊधम मचाकर मुझे क्यों कलंक लगा रहे हो? आग लगाने से मेरे दिल की आग न बुझेगी, लहू बहाने से मेरा चित्त शांत न होगा। आप लोगों की दुआ से यह आग और जलन मिटेगी। परमात्मा से कहिए, मेरा दुख मिटाएं। भगवान से विनती कीजिए, मेरा संकट हरें। जिन्होंने मुझ पर जुलुम किया है, उनके दिल में दया-धरम जागे, बस मैं आप लोगों से और कुछ नहीं चाहता।"**[3] किन्तु उस उत्तेजित भीड़ में अंधे की अहिंसा, धर्म और शांति की बातें सुनने वाला स्वभावत: कोई नहीं था। इस पर सूरे ने वह कार्य किया, जो औलिया ही कर सकते हैं। उसने पत्थर का एक बड़ा-सा टुकड़ा उठाकर कहा: **"अगर तुम लोग अब भी मेरी विनती न सुनोगे, तो इसी दम इस पत्थर से सिर टकराकर जान दे दूंगा। मुझे मर जाना मंजूर है; पर यह अंधेर नहीं देख सकता।"**[4]

दूसरी ओर सूरदास का संघर्ष स्वयं अपने ही गाँव वालों से है। सारे गाँव का कोपभाजन बनकर भी वह निराश्रिता सुभागी को अपनी झोंपड़ी में आश्रय देता है। उसके

---

१. "सूरदास—मेरा तो आपने कोई अहित नहीं किया, मुझसे और आपसे दुसमनी ही कौन-सी थी। हम और आप आमने-सामने की पालियों में खेले। आपने भरसक जोर लगाया, मैंने भी भरसक जोर लगाया। जिसको जीतना था जीता, जिसको हारना था हारा। खिलाड़ियों में बैर नहीं होता। खेल में रोते तो लड़कों को भी लाज आती है। खेल में चोट लग जाय, चाहे जान निकल जाय; पर बैर-भाव नहीं आना चाहिए। मुझे आपसे कोई सिकायत नहीं है।"

—रंगभूमि, भाग २ पृ० ३९२

२. रंगभूमि, भाग २ पृ० ३९३

३. रंगभूमि, भाग १ पृ० ३४२

४. रंगभूमि, भाग १ पृ० ३४२

चरित्र पर तरह-तरह के लांछन लगाए जाते हैं, किन्तु फिर भी वह अपने पथ से विचलित नहीं होता। भलाई-बुराई, प्रशंसा-निंदा की परवाह किए बिना वह अपना कर्त्तव्य निभाए चला जाता है। पांडेपुर में कारखाना खुलने से वहाँ के वातावरण में अविचार और अनैतिकता के जो संक्रामक कीटाणु फैलते हैं ; उनसे मिठुआ, विद्या, घीसू आदि गाँव के लड़के प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। फलत वे शराब, जुआ, व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों में पड़ जाते हैं।[1] बात यहाँ तक बढ़ती है कि एक रात विद्या और घीसू सुभागी पर बलात्कार करने की नीयत से सूरे की झोंपड़ी में घुस आते हैं, किन्तु पकड़ लिए जाते हैं। समस्त गाँव के तीव्र विरोध के बावजूद सूरा उन्हें पुलिस के हवाले कर देता है। अपने स्रष्टा प्रेमचन्द की भाँति उसके हृदय में भी स्त्री-जाति के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति की भावना है। स्त्री के सम्मान के प्रश्न पर वह किसी भी प्रकार का समझौता करना नहीं चाहता। बजरंगी, जगधर और नायकराम की धमकियों को सुनकर सूरदास कहता है : **"पंडाजी, तुम भी औरों की-सी कहने लगे। दुनिया में कहीं नियाव है कि नहीं ! क्या औरत की आबरू कुछ होती ही नहीं ? सुभागी गरीब है, अबला है, मजूरी करके अपना पेट पालती है, इसलिये जो कोई चाहे उसकी आबरू बिगाड़ दे ? जो चाहे उसे हरजाई समझ ले ?"**[2]

दूसरे दिन दरोगाजी इस कांड की तहकीकात करने आते हैं, लेकिन एक भी आदमी गवाही देने को तैयार नही होता। पर सत्य और न्याय सूरदास के पक्ष में था। सूरदास मुहल्ले वालों को संबोधित करके कहता है: **"यारो, सच्ची बात कहने से मत डरो। मेल-मुरौवत इसे नहीं कहते कि किसी औरत की आबरू बिगाड़ दी जाय, और लोग उस पर परदा डाल दें; किसी के घर मे चोरी हो जाय, और लोग छिपा लें। अगर यही हाल रहा, तो समझ लो कि किसी की आबरू न बचेगी। भगवान ने सभी को बहू-बेटियां दी हैं, कुछ उनका खियाल करो। औरत की आबरू कोई हँसी-खेल नहीं है।"**[3] सत्य के सम्मुख झूठ का साहस विचलित हो जाता है और एक-एक करके गाँव वाले सच्ची बात स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु यहाँ पर प्रश्न उठता है कि सूरदास द्वारा विद्या और घीसू को पुलिस के हवाले किया जाना क्या पशुबल का आश्रय लेना नही है ? गांधीजी मानते थे कि सत्याग्रही को प्रतिपक्षी के विरुद्ध पुलिस की सहायता नही लेनी चाहिए, क्योंकि यह बल-प्रयोग का साधन है हृदय-परिवर्तन का नही।[4] उनके अनुसार वीर मनुष्य चोर को मारता नही बल्कि पुलिस को सौप देता है। उससे अधिक वीर वह होता है जो उसे अपने घर से बाहर मात्र निकाल देता है। सर्वश्रेष्ठ वीर वह है जो चोर के साथ भी अहिंसक

---

१. रंगभूमि, भाग २ पृ० २७५
२. रंगभूमि, भाग २ पृ० २८३
३. रंगभूमि, भाग २ पृ० २८६
४. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० १५७

व्यवहार करता है।[1] इस कसौटी के अनुसार सूरदास का व्यवहार एक अहिंसक वीर का व्यवहार अवश्य है, किन्तु सर्वश्रेष्ठ वीर का नहीं। गांधीजी की विचारधारानुसार सूरदास को चाहिए था कि वह विद्या और घीसू को अपने झोंपड़े से बाहर मात्र निकाल देता—गाँव वालों की धमकियों के भय से नहीं बल्कि उस विशाल क्षमा के कारण जो प्रत्येक सत्याग्रही के हृदय में अवस्थित होती है। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि इस दुर्घटना के दौरान में सूरे को कहीं भी क्रोध या आवेश नहीं आता। यह सूचित करता है कि अपराधियों के प्रति उसके हृदय में किसी प्रकार की प्रतिहिंसा की भावना नहीं थी। नायकराम स्वीकार करता है कि "घीसू और विद्या की तो बात ही क्या, मिठुआ भी होता, तो सूरे उसे भी न छोड़ता।"[2] घीसू को लेकर बजरंगी सूरदास का कट्टर शत्रु हो जाता है, पर कालान्तर में उसे भी सूरे की सच्चाई तथा ईमानदारी का कायल होना पड़ता है और वह अपनी भूल पर पश्चात्ताप करता है।[3] इस संबंध में यह भी स्मरण रखना होगा कि यद्यपि गांधीजी प्रत्येक परिस्थिति में अहिंसा के पालन पर ही बल देते थे, लेकिन स्त्री के सम्मान की रक्षा के लिए वे हिंसा के प्रयोग के भी विरुद्ध नहीं थे।[4]

रंगभूमिकार का गांधी-दर्शन के सिद्धान्तों में कितना विश्वास है, यह 'रंगभूमि' के अग्रोद्धृत दो गीतों से स्पष्ट हो जाता है।[5] इन गीतों में सत्याग्रह के मूल सिद्धान्तों

---

१. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० १६५

२. रंगभूमि, भाग २ पृ० २८२

३. "बजरंगी—सच कहते हो भैया, आदमी नहीं था, देवता था। ऐसा सेर आदमी कहीं नहीं देखा। सचाई के सामने किसी की परवा नहीं की, चाहे कोई अपने घर का लाट ही क्यों न हो। घीसू के पीछे मैं उससे बिगड़ गया था, पर अब जो सोचता हूँ, तो मालूम होता है कि सूरदास ने कोई अन्याय नहीं किया। × × × घीसू का चलन बिगड़ गया था। सजा न पा जाता, तो न जाने क्या अँधेर करता।"

—रंगभूमि, भाग २ पृ० ४००

४. "When a woman is assaulted she may not stop to think in terms of *himsa* or *ahimsa*. Her primary duty is self-protection. She is at liberty to employ every method or means that comes to her mind in order to defend her honour."

—Women and Social Injustice, P. 192

५. (क) "शांति-समर में कभी भूलकर धैर्य नहीं खोना होगा;
वज्र-प्रहार भले सिर पर हो, नहीं किंतु रोना होगा।
अरि से बदला लेने का मन बीज नहीं बोना होगा;
घर में कान तूल देकर फिर तुझे नहीं सोना होगा।
देश-दाग को रुधिर-वारि से हर्षित हो धोना होगा;
देश-कार्य की भारी गठरी सिर पर रख ढोना होगा।

एवं विश्वासों की अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। इनका महत्त्व कवित्व की दृष्टि से नहीं, गांधीवादी विचारधारा की दृष्टि से है। इन गीतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द इनके द्वारा स्वाधीनता-संग्राम के वीर सेनानियों को गांधी-दर्शन के मूल सिद्धान्तों का बोध कराना चाहते हैं। वे बताते हैं कि यह संग्राम शांति-समर अर्थात् अहिंसक युद्ध है, जिसमें कठिन-से-कठिन और विपरीत-से-विपरीत परिस्थितियों में भी हमें प्रतिपक्षी के प्रति अपने हृदय में द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, प्रतिशोध आदि विभाजक अर्थात् हिंसक प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। सत्याग्रही को धर्म की अंतिम विजय में अचल विश्वास होना चाहिए। उसके लिए मृत्यु भय की वस्तु नहीं होती, क्योंकि वह जानता है कि शरीर नश्वर है। वह विजय और पराजय दोनों को समभाव से ग्रहण करता है। उसे विजय की कामना नहीं होती और पराजय की चिंता नहीं। गीता का निम्नोक्त श्लोक उसका मार्ग-दर्शक होता है :—

"सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥"

—गीता २।३८

'रंगभूमि' के सूरदास का इस सिद्धान्त में अबाध विश्वास है। वह मानता है कि खेल को खेल की तरह न खेलना हमारी बहुत बड़ी भूल है। अधर्म और अनीति से यदि

आंखें लाल, भवें टेढी कर, क्रोध नहीं करना होगा;
बलि-वेदी पर तुझे हर्ष से चढकर कट मरना होगा।
नश्वर है नर-देह, मौत से कभी नहीं डरना होगा;
सत्य मार्ग को छोड़ स्वार्थ-पथ पैर नहीं धरना होगा।
होगी निश्चय जीत धर्म की, यही भाव भरना होगा;
मातृभूमि के लिये जगत में जीना औ' मरना होगा।"

—रंगभूमि, भाग १ पृ० ५४

(ख) "भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ?
वीरों का काम है लड़ना, कुछ नाम जगत में करना,
क्यों निज मरजादा छोड़ै ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ?
क्यों जीत की तुझको इच्छा, क्यों हार की तुझको चिंता,
क्यों दुख से नाता जोड़ै ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ?
तू रंगभूमि में आया, दिखलाने अपनी माया,
क्यों धरम-नीति को तोड़ै ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ?"

—रंगभूमि, भाग १ पृ० ३२४

जीवन रूपी खेल में विजय प्राप्त कर भी ली तो उसका मूल्य क्या है?[1] अर्थात् सूरदास मानता है कि हमारा साध्य ही उच्च एवं श्रेष्ठ नहीं प्रत्युत् साधन भी तदनुरूप होने चाहिएँ।

यहाँ पर इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है कि सूरदास के विचारों में एक अजीब आत्मविरोध मिलता है। एक ओर तो वह औरत की आबरू तक को 'हँसी-खेल' मानने के लिए तैयार नहीं है और उसके पीछे खून की नदी तक बहाने को तैयार है, पर दूसरी ओर वह जीवन की गंभीरतम सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि समस्याओं को भी खेल की उपमा देकर उनका महत्त्व कम करने की कोशिश करता है।[2] कहना न होगा कि सूरदास का यह आत्मविरोध उसके सृष्टा का ही आत्म-विरोध है। अपने मध्यवर्गीय स्वभाव के कारण प्रेमचन्द 'औरत की आबरू' को जीवन की अन्य किसी भी 'आबरू' से कहीं अधिक महत्त्व दे देते हैं। हम यह नहीं कहते कि 'औरत की आबरू' को कोई महत्त्व ही नहीं दिया जाना चाहिए या उसकी रक्षा नहीं की जानी चाहिए; हमारा तात्पर्य केवल इतना है कि जावन के दूसरे प्रश्नों तथा पक्षों के मुकाबले उसे इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए।

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने आतंकवाद के विरुद्ध गांधीजी की अहिंसक क्रांति तथा हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त का समर्थन किया है। प्रेमचन्द ने हालांकि आतंकवादी वीरपालसिंह का चरित्र-चित्रण सहानुभूतिपूर्ण तूलिका से किया है, किन्तु कहने की आव-श्यकता नहीं कि वे उसके हिंसापूर्ण अराजकतावादी कृत्यों के समर्थक नहीं थे। विनय उपन्यासकार के इसी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि है और वह वीरपालसिंह का विरोध करता है। विनय के अनुसार रक्तपातपूर्ण हत्याकांड तथा लूट-मार से अधिकारियों में प्रजापरा-यणता का भाव उत्पन्न करने की आशा भ्रमपूर्ण ही नहीं निर्मूल भी है। रोग के निवा-रणार्थ स्वयं रोगी का अंत कर देना बुद्धिमानी नहीं कहा जा सकता। अग्नि को शांत करने के लिए आग नहीं पानी चाहिए।[3] हिंसा के विरोध में अत्यन्त प्राचीन काल से हूबहू इसी प्रकार की दलीलें दी जाती आ रही हैं। स्वभावतः अब उनमें अपेक्षित शक्ति और प्रभाव नहीं रह गया है। और फिर, विनय जैसे अस्थिरचित्त एवं दुर्बल चरित्र के द्वारा कहलवा-कर प्रेमचन्द ने अपने तर्क को और भी प्रभावहीन बना दिया है। विनय के मुकाबले वीरपालसिंह के चरित्र में कहीं अधिक मानवीय गरिमा और शक्ति है।

'रंगभूमि' के प्रणयन के लगभग नौ-दस वर्ष पश्चात् २६ दिसम्बर १६३४ को लिखे गए डॉ० इन्द्रनाथ मदान के नाम अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने ध्वंसात्मक क्रांति के प्रति अपनी विरक्ति के कारणों को स्पष्ट करते हुए लिखा था : "हमारा उद्देश्य जनमत तैयार

---

१. रंगभूमि, भाग २ पृ० १५७

२. प्रेमचन्द के पत्र, पृ० ११२

३. रंगभूमि, भाग १ पृ० २६६

करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूं। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रांति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुंचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रांति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह सन्देहास्पद है। हो सकता है कि वह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीनकर तानाशाही के घृणित रूप में हमारे सामने आ खड़ी हो। मैं शुद्धीकरण करने के पक्ष में तो हूं, उसे नष्ट करने के पक्ष में नहीं। यदि मुझे यह विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि ध्वंस से हमें स्वर्ग मिलेगा तो मैंने ध्वंस की भी चिन्ता नहीं की होती।"[1] उक्त अवतरण से स्पष्ट हो जाता है कि मध्यवर्गीय प्रेमचन्द को क्रांति के सही स्वरूप तथा उद्देश्य के संबंध में गंभीर गलतफहमी थी। अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण वे आतंकवादी तोड़-फोड़ और ध्वंस को ही क्रांति समझ लेते हैं। आतंकवाद साधारणतः तोड़-फोड़ और ध्वंस ही करता है, भावी समाज-व्यवस्था के निर्माण का कोई निश्चित रचनात्मक कार्यक्रम उसके पास नहीं होता। प्रेमचन्द यह भूल जाते हैं कि क्रांति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू निर्माण है, मात्र ध्वंस नहीं। क्रांति का ध्येय एक ऐसी नवीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करना होता है जिसमें उत्पादन और विनिमय के साधनों पर किसी श्रेणी-विशेष का नहीं बल्कि पूरे समाज का अधिकार हो, ताकि समाज में कोई भी व्यक्ति भूखा, नंगा, बेघर और अशिक्षित न रह सके। स्पष्ट है कि ऐसी क्रांति को मात्र विध्वंस के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि जिसे प्रेमचन्द 'स्वर्ग' कहते हैं, वह ध्वंस से नहीं निर्माण से ही मिल सकता है। किन्तु ऐसी शोषणमुक्त समाज-व्यवस्था के निर्माण के लिए वर्त्तमान शोषणप्रधान समाज-व्यवस्था का ध्वंस आवश्यक है।

प्रेमचन्द के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज की भावी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक रूपरेखा के संबंध में उनके दृष्टिकोण पर गांधीजी की विचारधारा का निर्णायक प्रभाव पड़ा है। महात्मा गांधी का विश्वास था कि वर्त्तमान दोषपूर्ण तथा असमान धन-वितरण (Distribution of Wealth) का प्रश्न हिंसक साधनों द्वारा सम्पत्तिवानों की सम्पत्ति छीनने से हल नहीं हो सकता। इस समस्या का अन्तिम समाधान उसी समय होगा जब धनवान स्वयं निचले वर्गों के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझकर साग्रह अपने अधिकारों को त्याग देंगे। यह आदर्श एवं स्पृहणीय समाज-व्यवस्था क्रांति द्वारा नहीं, हृदय-परिवर्तन के आध्यात्मिक साधन द्वारा ही

---

१. प्रेमचन्द : एक विवेचन, पृ० १५४–५५, परिशिष्ट २

लाई जा सकती है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्थिक समता को प्राप्त करने के लिए गांधीजी जो अहिंसक कार्यक्रम सुझाते हैं, वह अपर्याप्त ही नहीं इतिहास और सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से अव्यवहार्य भी है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, प्रश्न व्यक्तियों के हृदय-परिवर्तन का नहीं, उस व्यवस्था के परिवर्तन का है जिसने एक विशिष्ट वर्ग को शोषण के अधिकार और साधन प्रदान किए हुए हैं। अस्तु,

'रंगभूमि' पर गांधीवाद के प्रभाव का अध्ययन उपन्यास के नायक विनय के चरित्र का विश्लेषण किए बिना अपूर्ण ही रहता है। विनय प्रेमचन्द के उपन्यासों में कोई नया चरित्र नहीं है। थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ उसे 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' के प्रेमशंकर, चक्रधर और अमरकांत में देखा जा सकता है।

विनय प्रकृत्या एक दुर्बल एवं अस्थिरचित्त उच्चवर्गीय युवक है, जो राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम के देशव्यापी आंदोलनमय वातावरण से प्रभावित होकर अपने संकुचित नीड़ को त्यागकर जन-प्रांगण में आता है, किन्तु अपने वर्गगत संस्कारों और दुर्बलताओं के कारण जनवाद और सामन्तवाद के मध्य इतस्ततः भटकता रहता है। विनय को सच्चा देश-सेवक बनाने के लिए रानी जाह्नवी ने अपनी समझ में सभी उपाय किए, पर राजमहलों में पले विनय में कभी भी देश-सेवक की कठोरता, स्थिरता और अपने ध्येय के प्रति एकाग्रता तथा ईमानदारी नहीं आ सकी। सच तो यह है कि विनय में देश-सेवक होने की क्षमता है ही नहीं। वायु के प्रबल वेग के अधीनस्थ तिनके के समान वह आद्योपांत ईसाई लड़की सोफिया के प्रेम और देश-प्रेम के बीच में उड़ता फिरता है। स्वभावतः अंत तक पहुँचते-पहुँचते वह एक बहुत ही दयनीय चरित्र रह जाता है।

जसवंतनगर में सोफिया का अपहरण होने के पूर्व तक विनय एक सच्चे सेवाव्रतधारी देशानुरागी के रूप में हमारे सामने आता है। उसके प्रयत्नों से कुछ ही मास के अल्प समय में जसवंतनगर की काया-पलट हो जाती है। उसकी त्यागमयी सेवा के कारण देहात के बच्चे-बच्चे को उससे प्रेम हो जाता है।[2] इस समय विनय में आत्मबलिदान के

---

१. "धन-बाहुल्य को दूर करने के लिए वह यथासंभव कानून द्वारा सम्पत्ति ज़ब्त करना या स्वामित्व का अधिकार छीनना नहीं चाहते थे। धनिकों को आर्थिक समता के आदर्श को अपनाने को और सम्पत्ति का ट्रस्टी या संरक्षक की हैसियत से निर्धनों के लाभ के लिए उपयोग करने को तैयार करने के लिए गांधीजी समझाने-बुझाने, शिक्षा, अहिंसक असहयोग और दूसरे अहिंसक साधनों के प्रयोग के पक्ष में थे।"

—सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० २०७

२. "जसवंतनगर के प्रांत में एक बच्चा भी नहीं है, जो उन्हें न पहचानता हो। देहात के लोग उनके इतने भक्त हो गए हैं कि ज्यों ही वह किसी गांव में जा पहुंचते हैं, सारा गांव उनके दर्शनों के लिये एकत्र हो जाता है। उन्होंने उन्हें अपनी मदद आप करना सिखाया है। इस प्रांत के लोग अब वन्य जंतुओं को भगाने के लिये पुलीस के यहां नहीं दौड़े जाते, स्वयं संगठित होकर उन्हें भगाते हैं; ज़रा-ज़रा-सी बात पर अदालतों के द्वार नहीं खटखटाने जाते, पंचायतों में समझौता

लिए अपेक्षित नैतिक साहस भी प्रभूत मात्रा में है। डाकिए को बचाने के लिए वह स्वयं मृत्यु का आलिंगन करने को तैयार हो जाता है। सूरदास की भाषा में वह वीरपालसिंह और उसके साथियों से कहता है : "**जब तक मेरी हड्डियाँ तुम्हारे घोड़ों के पैरों तले न रौंदी जायँगी, मैं सामने से न हटूंगा। × × × मेरा जो धर्म है, वह मैं करता हूं; तुम्हारा जो धर्म हो, वह तुम करो। गरदन झुकाए हुए हूं।**"[1] विनय के सद्प्रयत्नों से जसवंतनगर में होने वाली जिस काया-पलट या अहिंसक क्रांति का उल्लेख प्रेमचन्द ने यहाँ किया है, वह सर्वथा अस्वाभाविक, कृत्रिम और बलपूर्वक ऊपर से लादी हुई प्रतीत होती है; क्योंकि विनय के इन प्रयत्नों का कोई स्पष्ट रूप पाठकों के सामने नहीं आ पाया है। पाठकों को यह नहीं बताया जाता कि जसवंतनगर की यह काया-पलट कब और कैसे हुई, विनय ने उसमें क्या भाग लिया ? विनय के चरित्र में कहीं भी कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो उसकी इस सेवापरायणता, आत्मबलिदान की भावना और संगठन की क्षमता का औचित्य सिद्ध कर सके।

रियासत के अधिकारी विनय पर वीरपालसिंह का साथी होने का झूठा अभियोग लगाकर बिना मुकदमा चलाए जेल में डाल देते हैं। वीरपाल अपने कारण विनय के साथ हुए इस अन्याय के प्रतिकार-हेतु उसे जेल से निकालने का प्रयास करता है, किन्तु गांधीवादी विनय तथाकथित अधर्मियों की सहायता से इस प्रकार जेल से भागना अस्वीकार कर देता है।[2] धर्म और न्याय की दुहाई देने वाला यही विनय आगे चलकर नायकराम की प्रेरणा और सहायता से जेल से भागना स्वीकार कर लेता है।[3] नायकराम के साथ जेल से भागने के बाद से विनय अपने असली रूप में हमारे सामने आता है। यहीं से उसके चरित्र में अपकर्ष आरंभ होता है और इस अपकर्ष का चरमान्त लोक-प्रवादों को न सह पाने के कारण पांडेपुर में उसके द्वारा आत्महत्या में होता है। नंददुलारे वाजपेयी का यह मन्तव्य कि ऐसा करके उपन्यासकार ने उसके साथ अन्याय किया है,[4] तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि इस पतन के बीज उसमें पहले से ही विद्यमान थे। विनय के प्रति आलोचक वाज-

---

कर लेते हैं; जहां कभी कुएँ न थे, वहां अब पक्के कुएँ तैयार हो गए हैं; सफाई की ओर भी लोग ध्यान देने लगे हैं, दरवाजों पर कूड़े-करकट के ढेर नहीं जमा किए जाते। ××× सामूहिक जीवन का फिर पुनरुद्धार होने लगा है।"

—रंगभूमि, भाग १ पृ० २९३

१. रंगभूमि, भाग १ पृ० २९७
२. रंगभूमि, भाग १ पृ० ३०९
३. रंगभूमि, भाग २ पृ० ५४–५५
४. "वह जनता का सेवक है किन्तु जनता की उच्छृङ्खलता और उसकी हिंसावृत्ति का कठोर विरोधी भी। इसी कारण उसके संबंध में अनेक प्रकार के भ्रम फैल जाते हैं। ××× विनय का प्राणान्त अद्भुत परिस्थितियों में होता है। वह अपने विरोध में उठी हुई लोक-लांछना को सहन नहीं कर पाता और आत्महत्या द्वारा अपने जीवनोद्देश्य की सच्चाई और ईमानदारी सिद्ध करता

पेयी की यह सहानुभूति अनावश्यक ही नहीं अनौचित्यपूर्ण भी है। विनय जैसे दुर्बल एवं अस्थिरचित्त पात्र से इससे अधिक की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। संभवतः यह उसके जीवन का सर्वाधिक स्वाभाविक अंत था। वह किसी 'कॉज' (Cause) के लिए अथवा अपने जीवनोद्देश्य की सच्चाई और ईमानदारी सिद्ध करने के लिए नहीं बल्कि यह दिखाने के लिए मरता है कि **'रईसों के बेटे क्योंकर प्राण देते हैं।'**[1] जाहिर है कि प्रेमचन्द ने उसकी इस आत्महत्या को आत्मबलिदान और शहादत की गरिमा प्रदान करने का जो प्रयत्न किया है वह सर्वथा अनुचित है। विनय के संबंध में आचार्य वाजपेयी की धारणा मूलतः गलत है, क्योंकि जनता का सेवक वह कभी नहीं रहा। सोफिया के लापता हो जाने पर वह जिस तत्परता और निरंकुशता से अधिकारियों के साथ मिलकर रियासत को तथाकथित विद्रोहियों से 'पाक' करता है उसे केवल आवेशजनित और आकस्मिक ही नहीं कहा जा सकता। उसके पिता कुंअर भरतसिंह प्रभुसेवक से कहते हैं कि अगर विनय को सोफी से प्रेम न भी होता तो भी वह इस अवसर पर यही करता, क्योंकि जनता का यह विद्रोह उसके साम्यवाद के सिद्धान्तों को हिला देने के लिए पर्याप्त था।[2] सोफिया भी इसी तथ्य को प्रकट करती है, किन्तु जरा और अधिक स्पष्टता के साथ। वह कहती है: **"बिल्कुल झूठ है, मिथ्या है, कलंक है, यह सब मेरी खातिर नहीं, अपनी खातिर था। इसका उद्देश्य केवल उस नीच निरंकुशता को तृप्त करना था, जो तुम्हारे अंतःस्थल में सेवा का रूप धारण किए हुए बैठी हुई है।"**[3] विनय उन देशसेवकों में से है जो प्रजा को सदा इसी भाँति सहनशील और शांतिप्रिय देखना चाहते हैं। उसे यह बिल्कुल भी पसन्द नहीं है कि जनता युगों पुरानी तंद्रा से जागकर विद्रोह के पथ पर चले। वह मानता है कि वर्त्तमान दशा में प्रजा का यही धर्म है कि उस पर चाहे कितने ही अत्याचार किए जाएँ, पर वह मुँह न खोले![4] देशी रियासतों के संबंध में भी उसका दृष्टिकोण सामन्तवादी, अतः प्रतिक्रियावादी है। और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वह स्वयं भी तो एक बड़े जागीरदार का बेटा है। वीरपालसिंह द्वारा रियासत के अधिकारियों के अत्याचारों की गाथा सुनकर वह कहता है: **"अगर तुम्हारी बातें अक्षरशः सत्य हों, तो भी मैं कोई ऐसा काम न करूँगा, जिससे रियासत की बदनामी हो।"**[5] वह रियासत के महाराजा साहब को किसी संकट में डालना नहीं चाहता, क्योंकि वे राणा सांगा और

है। वास्तव में उसका यह कार्य उसके महत्त्व के अनुरूप नहीं है। कदाचित् यह उसके चरित्र की सबसे दुर्बल रेखा है। प्रेमचन्दजी ने इस रेखा द्वारा उसके चरित्र के साथ अन्याय किया है।"

—प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० ८१

१. रंगभूमि, भाग २ पृ० ३७१
२. रंगभूमि, भाग २ पृ० १७५
३. रंगभूमि, भाग २ पृ० ८९
४. रंगभूमि, भाग २ पृ० ७१
५. रंगभूमि, भाग १ पृ० ३१०

प्रताप के वंशज हैं। वह महाराजा को अपना रक्षक, हितैषी और क्षत्रिय-कुल-तिलक समझता है।[1] विनय दावा तो करता है सत्य और अहिंसा का, पर है वास्तव में पिस्तौलबाज! अतः विनय के प्रति आलोचकों की सहानुभूति सर्वथा अप्रासंगिक है। विनय अपने युग के सेवा-समिति मार्का गांधीवादी नेतृत्व का एक बहुत बड़ा व्यंग्य-चित्र (Cartoon) है।

इसे हम रंगभूमिकार की प्रगतिशीलता और सामाजिक यथार्थ के प्रति उसकी ईमानदारी कहेंगे कि सूरदास जैसे सशक्त गांधीवादी चरित्र की सृष्टि करके ही वह संतोष नहीं कर लेता, विनय के रूप में गांधीवादी नेतृत्व का दूसरा पहलू भी हमें दिखलाता है। प्रेमचन्द का यह प्रगतिशील दृष्टिकोण ही उन्हें गांधीवाद को सम्पूर्णतः अपनाने से रोकता रहा है, किन्तु 'रंगभूमि' उस समय की रचना है जब कि उन पर गांधीजी का प्रभाव अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था। यही कारण है कि 'रंगभूमि' उनके समस्त औपन्यासिक कृतित्व में गांधी-दर्शन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली अभिव्यक्ति है।

३. कायाकल्प—

'कायाकल्प' प्रेमचन्द की सर्वाधिक विवादग्रस्त कृति है, जो अब भी उनके आलोचकों के लिए एक पहेली बनी हुई है। इस विवाद और उलझन का कारण 'कायाकल्प' का रानी देवप्रिया वाला वह कथांश है जिसमें देवप्रिया यौगिक तथा वैज्ञानिक क्रियाओं द्वारा दो बार पुनः यौवन-प्राप्ति करती है और राजकुमार महेन्द्र का दो बार ही पुनर्जन्म होता है—पहले हर्षपुर के राजकुमार इन्द्रविक्रमसिंह और फिर जगदीशपुर के राजकुमार शंखधरसिंह के रूप में। इसी कथा-भाग में प्रेमचन्द हमें रहस्यमय तिब्बत और हिमालय की कन्दराओं में ले जाते हैं, जहाँ हम एक ऐसे साधु और उसकी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक खोजों का परिचय पाते हैं जो अपने को डार्विन का अवतार बताता है। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द जैसे सामाजिक और राजनीतिक कथाकार से इस प्रकार के ऐन्द्रजालिक कृत्यों की अपेक्षा नहीं की जाती। स्वभावतः उनके आलोचकों को 'कायाकल्प' के इस अद्भुत और अतिमानवीय तत्त्व की उनके शेष साहित्य के साथ संगति बैठाने में काफी परेशानी उठानी पड़ी है। इसीलिए श्री नंददुलारे वाजपेयी 'कायाकल्प' को प्रेमचन्द की सामान्य विचारधारा से अलग टूटी हुई एक स्वतंत्र कृति मानते हैं।[2] दूसरी ओर श्री हंसराज 'रहबर' उसे **'गोरख धंधा और शब्द आडम्बर'** मात्र मानते हुए कहते हैं कि **"'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द यथार्थ के मार्ग पर जितना आगे बढ़े थे 'कायाकल्प' में उतना ही पीछे लौट गये मालूम होते हैं।"**[3] तीसरी ओर 'कथाकार प्रेमचन्द' के लेखक-द्वय 'कायाकल्प' को प्रेमचन्द की सबसे अधिक शिथिल रचना मानते हुए उसके रानी देवप्रिया वाले कथांश को

---

१. रंगभूमि, भाग १ पृ० ३११
२. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० १९
३. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २३६

क्षपक मानते हैं।[1] डॉ० इन्द्रनाथ मदान 'कायाकल्प' के कथा-संगठन को उखड़ा-पुखड़ा और अस्पष्ट, उसके चरित्र-चित्रण को असंगत तथा उसके उद्देश्य को धुँधला और रहस्यमय मानते हैं। उनके अनुसार इसका कारण उस युग की राजनीतिक निराशा और सामाजिक विश्रृङ्खलता में ढूंढ़ना होगा।[2]

इसमें संदेह नहीं कि जन्म-जन्मांतरों का यह इन्द्रजाल आधुनिक बौद्धिक पाठक के गले आसानी से नहीं उतर सकता; किन्तु जरा गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'कायाकल्प' का यह कथांश उसके मूल प्रतिपाद्य का सहायक होकर ही आया है, वह उपन्यासकार की मूल विचार-सरणी में किसी प्रकार का व्यतिक्रम या व्याघात उत्पन्न नहीं करता :

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने गांधीवाद के आध्यात्मिक तथा नैतिक पक्ष का प्रतिपादन किया है। यूँ तो गांधीवादी आध्यात्मिकता और नैतिकता किसी-न-किसी रूप में मध्यवर्गीय प्रेमचन्द की लगभग सभी रचनाओं में पाई जाती है, किन्तु 'कायाकल्प' का तो मूल प्रतिपाद्य ही यह है। गांधीजी की भाँति हालाँकि प्रेमचन्द ने कभी गरीबी को 'आइडियलाइज़' (Idealise) नहीं किया, न कभी गरीबी और अमीरी को भगवान की देन माना और न ही कभी किसानों और मजदूरों को अपने वर्त्तमान के प्रति संतोष धारण करके परलोक सुधारने की नेक सलाह दी; किन्तु फिर भी संतोष, अपरिग्रह, अस्तेय, संयम, इच्छाओं पर अधिकार आदि मध्यवर्गीय नैतिक धारणाओं के प्रति उनके मन में एक अज्ञात लेकिन गहरा आकर्षण का भाव विद्यमान था। यही कारण है कि प्रेमचन्द ने अपने व्यक्तिगत जीवन और साहित्य दोनों में ही पश्चिमी सभ्यता की देन अत्यधिक धन-लालसा तथा भोग-लालसा का सदा विरोध एवं सादे ग्रामीण जीवन का समर्थन किया है।

हम पीछे देख चुके हैं कि महात्मा गांधी की विचारधारा में आध्यात्मिकता और नैतिकता का विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व है। इसीलिए डॉ० नगेन्द्र गांधीवाद को 'आध्यात्मिक मानववाद' की अत्यन्त सार्थक संज्ञा से अभिहित करते हैं[3] और गांधी को आधुनिक युग-चेतना के आध्यात्मिक पक्ष का निर्माणकर्ता मनीषी मानते हैं।[4] आध्यात्मिकता के इतिहास में गांधीजी मध्ययुगीन संतों की परंपरा में आते हैं। अहिंसक समाज-व्यवस्था का

---

१. कथाकार प्रेमचन्द, पृ० ३७५

२. प्रेमचन्द : एक विवेचन, पृ० ६१

३. सियारामशरण गुप्त : संपादक—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७१ (प्रथम संस्करण)

४. "वे उन चार मनीषियों में से हैं जिन्होंने हमारे आज की युग-चेतना का निर्माण किया है। ये चार मनीषी हैं—डार्विन, मार्क्स, गांधी और फ्रायड। डार्विन का क्षेत्र है प्राकृतिक जगत, मार्क्स का सामाजिक अर्थात् आर्थिक और राजनीतिक जीवन, गांधी का आध्यात्मिक जीवन और फ्रायड का क्षेत्र है मनोजगत।"

—विचार और विश्लेषण, पृ० ५८ (दिल्ली, १९५५)

उनका आदर्श मध्ययुगीन संतों और धर्माचार्यों की परंपरा में ही संयम, अपरिग्रह, अस्तेय, संतोष, तृष्णाओं तथा इच्छाओं पर अधिकार, वासना से मुक्ति आदि नैतिक सिद्धान्तों पर आधृत जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करता है। इच्छाओं और आवश्यकताओं की निरन्तर वृद्धि पर आधारित पश्चिमी सभ्यता के गांधीजी तीव्र विरोधी थे।[1] उनके मतानुसार आवश्यकताओं में वृद्धि की यह प्रवृत्ति ही आधुनिक युग की 'ट्रेजेडी' का मुख्य कारण है। वे मानते थे कि आवश्यकता से अधिक संग्रह ही आधुनिक जीवन के आर्थिक वैषम्य का मूल कारण है।[2] इसीलिए गांधीजी कहा करते थे कि "सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है।"[3] आवश्यकताओं की इस वृद्धि का स्वाभाविक परिणाम प्रेम, सहानुभूति, औदार्य आदि मानवीय विभूतियों के प्रति उदासीनता और कभी न संतुष्ट होने वाली धनैषणा के रूप में प्रकट होता है। और, गांधी के विश्वासानुसार मानव-जीवन के वास्तविक उद्देश्य की सिद्धि धनोपासना से प्राप्त नहीं की जा सकती।

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने इसी नैतिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। अत्यधिक धन तथा भोग-लालसा और उसके कारण होने वाला हमारा चारित्रिक, नैतिक एवं आत्मिक पतन ही प्रस्तुत उपन्यास का मूल प्रतिपाद्य है। साम्प्रदायिक वैमनस्य, जमींदार-किसान-संघर्ष, निरंकुश अत्याचारी राजाओं द्वारा जनता का दोहन इत्यादि प्रश्न आनुषंगिक रूप से ही आए हैं। राजा विशालसिंह, चक्रधर, अहल्या, मनोरमा तथा रानी देवप्रिया के जीवन की 'ट्रेजेडी' का प्रमुख कारण यही है कि वे भौतिक ऐश्वर्य के माध्यम से जीवन का सुख और संतोष खोजते हैं। यह धनोपासना ही राजा विशालसिंह के जीवन को असंतोषमय बनाती है, चक्रधर के आत्मिक और चारित्रिक अधःपतन का कारण बनती है तथा अहल्या को उसके प्राणाधिक प्रिय पति और पुत्र से वियुक्त करती है। ऐश्वर्य के माध्यम से सुख खोजने के कारण ही मनोरमा यौवन जैसा अमूल्य

---

१. "The Western democracies have, in their economic life, emphasised multiplicity of wants and self-indulgence. This will finally lead to violence, because the daily struggle for existence will be directed towards securing the best for oneself. This approach intensifies man's selfishness and greed."
"If we aim at non-violence, we should develop self-control and personal discipline instead of self-indulgence. This will call for a different type of economic organisation based on self-restraint and self-sufficiency resulting in a simplification of wants."
—The Gandhian Way of Life : J. C. Kumarappa, P. 7-8

२. गांधी-साहित्य, भाग ५ पृ० १४२

३. गांधी-साहित्य, भाग ५ पृ० १४३

रत्न गँवाकर भी सच्चा सुख नहीं प्राप्त कर पाती। रानी देवप्रिया के बारंबार के वैधव्य का कारण भी विलास-भोग की यह कामना ही है।

'ऐश्वर्य से सुख' विषय पर मनोरमा के लेख पर चक्रधर का रोष स्वयं प्रेमचन्द का ही रोष है। अपने इस लेख में मनोरमा दिखाती है कि ऐश्वर्य से काल और लोकमत पर ही नहीं प्रत्युत् आत्मा पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। मनोरमा के इस लेख को पढ़कर चक्रधर उससे कहता है: "तुम्हारे मन में ऐसे कुत्सित विचारों को स्थान पाते देखकर मुझे दुःख होता है।"[1] मनोरमा के तर्कों का उत्तर देते हुए वह कहता है: "काल पर विजय पाने का अर्थ यह नहीं है कि कृत्रिम साधनों से भोग-विलास में प्रवृत्त हों, वृद्ध होकर जवान बनने का स्वप्न देखें और अपनी आत्मा को धोखा दें। लोकमत पर विजय पाने का अर्थ है, अपने सद्विचारों और सत्कर्मों से जनता का आदर और सम्मान प्राप्त करना। आत्मा पर विजय पाने का आशय निर्लज्जता या विषय-वासना नहीं; बल्कि इच्छाओं का दमन करना और कुवृत्तियों को रोकना है।"[2] चक्रधर के इन विचारों पर गांधी-दर्शन की नैतिकता का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है।

ऐश्वर्य और धन को सुख और कल्याण का मूल, धर्म और परोपकार का हेतु समझने के कारण ही मनोरमा लोगों के तीव्र विरोध के बावजूद बूढ़े राजा विशालसिंह से विवाह करना स्वीकार कर लेती है। बूढ़े राजा से विवाह करके वह अपार धन और अपरिमित ऐश्वर्य की स्वामिनी तो अवश्य हो जाती है, किन्तु उसके हृदय में एक अव्यक्त असंतोष का भाव बना ही रहता है। नए व्याह का शौक पूरा हो जाने के बाद राजा उसे दूध की मक्खी की भाँति निकालकर फेंक देता है। हालाँकि उपन्यास के अंत में राजा विशालसिंह परित्यक्ता मनोरमा के पास आकर अपने अपराधों की क्षमा-याचना कर लेता है और इस प्रकार मनोरमा को एक बार पुनः अपना खोया अधिकार तथा सम्मान प्राप्त हो जाता है, किन्तु कुल मिलाकर विशालसिंह और मनोरमा की कहानी से यही निष्कर्ष ध्वनित होता है कि ऐश्वर्य एवं प्रभुता के सहारे ही जीवन का वास्तविक सुख और आत्मसंतोष नहीं खरीदा जा सकता। मनोरमा ने रानी बनकर जीवन के आत्मिक सुख और संतोष को खरीदने का प्रयास किया, किन्तु असफल रही।

राजा विशालसिंह के चरित्र द्वारा भी कायाकल्पकार ने इसी ओर संकेत किया है। वह दिखाता है कि राजा बनने से पूर्व जो व्यक्ति प्रजा-हित की बातें करता नहीं थकता,[3] राज्य मिलते ही वही व्यक्ति प्रजा को अपने पैरों की धूल समझने लगता है।[4] क्या विशालसिंह के चरित्र के इन दो पहलुओं के उद्घाटन के द्वारा प्रेमचन्द ने यह दिखाने

---

१. कायाकल्प, पृ० ६४ (नवां संस्करण, १९५३)

२. कायाकल्प, पृ० ६४

३. कायाकल्प, पृ० ४१

४. कायाकल्प, पृ० ११२

का प्रयत्न नहीं किया है कि समाज में आज जो शोषण, अन्याय और अत्याचार हैं वह व्यक्ति के कारण नहीं बल्कि सामाजिक परिस्थितियों के कारण है ? भले-से-भला व्यक्ति भी परिस्थितियों के बदलते ही बुरा बन जाता है। अतः हमें व्यक्ति को बदलने का नहीं प्रत्युत् परिस्थितियों को बदलने का प्रयास करना चाहिए।

चक्रधर और अहल्या की कहानी भी उपन्यास की इसी मूल चिन्ताधारा की सहायक होकर आई है। कायाकल्प में चक्रधर का चरित्र इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सामाजिक परिस्थितियाँ ही व्यक्ति के स्वभाव और चरित्र का नियमन करती हैं। यही कारण है कि पूर्ण समानता के सिद्धान्त के हामी चक्र''र को भी अधिकार पाकर कर्मचारियों की तम्बीह करनी पड़ती है और नौकरों को मारना पड़ता है।[1] जो चक्रधर बेगार के प्रश्न पर राजा विशालसिंह से संघर्ष करता और जेल जाता है, प्रभुता पाकर वही बेगार के लिए इंकार किए जाने पर मन्नासिंह की 'हत्या' ही कर डालता है। सत्य और अहिंसा, दया और धर्म का पुतला चक्रधर प्रभुता पाते ही इतनी जल्दी रंग बदलता है कि देखकर ताज्जुब हुए बिना नहीं रहता।[2] लेकिन प्रेमचन्द इसके बाद चक्रधर के चरित्र की स्वाभाविक और यथार्थ परिणति नहीं दिखाते, क्योंकि वह उनका आदर्श पात्र है। मन्नासिंह वाली दुर्घटना के बाद और अधिक 'पतन' से बचने के लिए चक्रधर अपने सृष्टा के संकेत पर पत्नी-पुत्र, धन-दौलत, राज-पाट आदि सब-कुछ त्यागकर साधु हो जाता है। आदर्श की स्थापना के लिए इस प्रकार यथार्थ का बलिदान कर दिया जाता है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि चक्रधर की मानवता अभी पूर्णतः लुप्त नहीं हुई थी, अतः क्रोध का आवेश समाप्त होते ही वह अपने अमानुषीय कृत्य पर लज्जित होता है।[3] चक्रधर को अब आश्चर्य होता है कि उसे इतना क्रोध आया कैसे ? वह अनुभव करता है कि रियासत की बू गुप्त

---

१. कायाकल्प, पृ० २४३

२. "धन्नासिंह—××× तुम्हारा मिजाज इतना कड़ा कब से हो गया ? जेहल में तो तुम दया और धर्म के देवता बने थे। क्या दिखावा-ही-दिखावा था ? ××× कहाँ तो दरोगा को बचाने के लिए अपनी छाती पर संगीन रोक ली थी, कहाँ आज जरा-सी बात पर इतने तेज पड़ गये।"

× × ×

"यह तुम इतने कैसे बदल गये ! अगर आँखों से न देखता होता, तो मुझे कभी विश्वास न आता। जरूर तुम्हें कोई ओहदा या जायदाद मिल गयी, ××× तुम्हारे ही उपदेश से मेरी पुरानी आदतें छूट गयीं। ××× मुझे तो तुमने यह उपदेश दिया और आप लगे गरीबों को कुचलने।"

—कायाकल्प, पृ० २४८

३. "चक्रधर पर घड़ों पानी पड़ गया। मुंह से बात न निकली। वह अपनी सफाई में एक शब्द भी न बोल सके। उनके जीवन की सारी कमाई, जो उन्होंने न-जाने कौन-कौन से कष्ट सहकर बटोरी थी, यहां लुट गयी। उनके मन की सारी सद्वृत्तियां आहत होकर तड़पने लगीं। एक ओर उनकी न्याय-बुद्धि मन्दित होकर किसी अनाथ बालक की भाँति दामन में मुंह छिपाये रो रही

और अलक्षित रूप से उसमें समाती जा रही है ![1] पश्चात्ताप की दाहक ज्वाला में जलते हुए आत्म-विश्लेषण करने पर चक्रधर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि प्रभुता ही उसके इस आकस्मिक कायाकल्प का मूल कारण है ।[2] अपेक्षित नैतिक साहस वर्त्तमान होने के कारण चक्रधर इस प्रभुता को त्यागकर पुनः सेवामय और निस्पृह जीवन अपनाने में सफल हो जाता है, किन्तु उसकी पत्नी अहल्या अब भी अपनी धनैषणा पर विजय नहीं प्राप्त कर पाती। राज्य के लोभ में अपने पति और पुत्र को खोकर भी वह नहीं संभल पाती। सरल जीवन की पुजारिन अहल्या के इस 'पतन' पर उपन्यासकार प्रेमचन्द की निम्न टिप्पणी इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेख्य है :—

"अभागिनी अहल्या ! तू फिर धन-लिप्सा के जाल में फँस गयी। क्या इच्छाएँ भी राक्षसों की भाँति अपने ही रक्त से उत्पन्न होती हैं ? वे कितनी अजेय हैं ! जब ऐसा ज्ञात होने लगा कि वे निर्जीव हो गयी हैं, तो सहसा वे फिर जी उठीं और संख्या में पहले से शतगुण होकर ! १५ वर्ष की दारुण वेदना एक क्षण में विस्मृत हो गयी। धन्य रे तेरी माया !"[3]

रानी देवप्रिया की कहानी का मूल प्रतिपाद्य भी यही है। देवप्रिया की विलास-लालसा तथा भोगेच्छा उपन्यास के अन्य सभी पात्रों से अधिक प्रखर एवं तीव्र है। उसका समस्त जीवन केवल दो शब्दों में समाप्त हो जाता है—विनोद और विलास।[4] प्रेमचन्द के शब्दों में "रियासत उनके भोग-विलास का साधन-मात्र थी। प्रजा को क्या कष्ट होता है, उनपर कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं, सूखे-झूरे की विपत्ति क्योंकर उनका सर्वनाश कर देती है, इन बातों की ओर कभी उनका ध्यान न जाता था। उन्हें जिस समय जितने धन की जरूरत हो, उतना तुरन्त देना मैनेजर का काम था। वह ऋण लेकर दे, चोरी करे, या प्रजा का गला काटे, इससे उन्हें कोई प्रयोजन न था।"[5] विलास और सच्चे प्रेम में उसने कभी अन्तर ही नहीं जाना था। वह लालसा को ही प्रेम

थी, दूसरी ओर लज्जा किसी पिशाचिनी की भाँति उनपर आग्नेय बाणों का प्रहार कर रही थी।"

—कायाकल्प, पृ० २४८

१. कायाकल्प, पृ० २५०

२. "चक्रधर को रात-भर नींद न आयी। उन्हें बार-बार पश्चात्ताप होता था कि मैं क्रोध के आवेग में क्यों आ गया। जीवन में यह पहला ही अवसर था कि उन्होंने एक निर्बल प्राणी पर हाथ उठाया था। जिसका समस्त जीवन दीनजनों की सहायता में गुजरा हो, उसमें यह कायापलट नैतिक पतन से कम न था। आह ! मुझ पर भी प्रभुता का जादू चल गया। × × × अब मुझे अनुभव हो गया कि इस वातावरण में रहकर मेरे लिए अपनी मनोवृत्तियों को स्थिर रखना असाध्य है।"

—कायाकल्प, पृ० २५५

३. कायाकल्प, पृ० ३२८

४. कायाकल्प, पृ० ५२

५. कायाकल्प, पृ० ५२

समझती थी।[1] यद्यपि वह अपना राज्य त्यागकर इन्द्रविक्रमसिंह के साथ चली जाती है, पर उसकी विलास-तृष्णा शांत नही हो पाती। हर्षपुर की रानी कमला के रूप में भी वह अपने मोह-बंधन को विच्छिन्न नही कर पाती।[2] यही कारण है कि अनेक जन्मों में भटकने पर भी उसे जीवन के वास्तविक सुख और संतोष की प्राप्ति नही हो पाती।

उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि रानी देवप्रिया की कहानी शेष उपन्यास की मूल धारा से अलग टूटी हुई कड़ी अथवा क्षेपक मात्र ही नहीं है। कायाकल्पकार का उद्देश्य यह प्रतिपादित करना है कि जब तक हम चक्रधर की भांति समस्त माया-जालो को छिन्न-भिन्न करके सेवा का मार्ग नही अपनाते, तब तक एक जन्म में तो क्या अनेक जन्मो मे भी हमारा और राष्ट्र का कल्याण सभव नही है।

क्या प्रेमचन्द पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्त मे विश्वास करते थे? 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' के पाठक के मन मे इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक तो है ही, जरूरी भी है। यहाँ इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्त अन्योन्याश्रित सिद्धान्त हैं। पुनर्जन्म की विचारधारानुसार आत्मा अपने कर्मों का फल भोगने के लिए विभिन्न योनियों मे भटकती है अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करती है। इस प्रकार पुनर्जन्म को माने बिना कर्मफल की विचारधारा एक कदम भी नहीं चल सकती। हालाँकि प्रेमचन्द ने इस प्रकार के प्रश्नो पर कभी गंभीरता से विचार नहीं किया, लेकिन 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' के पाठक से यह छिपा नही रहता कि पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्त में उन्हें अविश्वास नही था। 'रगभूमि' के सूरदास का भी कर्मफल के सिद्धान्त में अनन्य विश्वास है। वह मानता है कि पूर्वजन्म के भले-बुरे कर्मो के अनुसार ही हमें इस जन्म में फल भोगना पड़ता है।[3] इधर 'कायाकल्प' मे जगदीशपुर की रानी देवप्रिया और राजकुमार महेन्द्र जीवन के सच्चे सुख तथा कामना-रहित प्रेम की खोज में तीन-तीन जन्मो में भटकते हैं। मध्यवर्गीय सस्कारो से परिचालित होने के कारण प्रेमचन्द यद्यपि कर्मफल और पुनर्जन्म की सामन्तीय विचारधारा को पूर्णतः नही छोड़ सके थे, किन्तु यह स्पष्ट है कि इसकी आड़ मे उन्होने अकर्मण्यता, उद्योगहीनता, पुरुषार्थहीनता तथा निराशा को बढ़ावा देने वाले सिद्धान्त भाग्यवाद और परलोकवाद का कभी समर्थन नही किया। वर्त्तमान शोषण, गरीबी और सामाजिक अन्याय को प्रेमचन्द ने भाग्य अथवा कर्मफल के नाम पर उचित ठहराने का कभी प्रयत्न नहीं किया। कर्मफल मे विश्वास करने वाले प्रेमचन्द के पात्रो मे सिरमौर स्वय सूरदास ही उनके साहित्य का सर्वाधिक कर्मण्य और संघर्षशील चरित्र है।

गांधी-दर्शन में इन सिद्धान्तों की निर्विवाद मान्यता है। गांधीजी कहा करते

---

१. कायाकल्प, पृ० ५७

२. कायाकल्प, पृ० ३३३

३. रंगभूमि, भाग १ पृ० १७

थे : "कर्म का नियम अटूट है, और टाला नहीं जा सकता। इस प्रकार उसमें ईश्वर के हस्तक्षेप की क्या आवश्यकता है। उसने नियम निर्धारित कर दिया और अलग हो गया।"[1] पुनर्जन्म के सिद्धान्त के संबंध में वे कहते हैं : "मैं पुनर्जन्म में उतना ही विश्वास करता हूं जितना अपने वर्तमान शरीर के अस्तित्व में। इसलिए मैं जानता हूं कि थोड़ा भी प्रयत्न बेकार न जायगा।"[2] लेकिन गांधीवाद में इन सिद्धान्तों को तर्क-वितर्क से ऊपर अंधविश्वास पर आधृत धार्मिक नियम मात्र ही नहीं स्वीकार किया गया है। उसके अनुसार ये जीवन के वैज्ञानिक नियम हैं, जिनका आधार धार्मिक या साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं वरन् कारण-कार्य की शृङ्खला है। कर्मफल में विश्वास करने पर भी गांधीजी निरपेक्ष नियतिवाद में विश्वास नहीं करते थे, क्योंकि वह अधिकांशतः अकर्मण्यता और उद्योगहीनता को जन्म देता है।[3]

लेकिन 'कायाकल्प' में केवल आध्यात्मिक रहस्य तथा जन्म-जन्मातंर के पचड़े ही नहीं है; उसके लेखक ने देशी रियासतों की आंतरिक शोचनीय अवस्था, जमींदार-किसान-संघर्ष, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य आदि विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रश्नों पर भी सविस्तार विचार किया है। यह उसकी सजग एवं जागरूक सामाजिक चेतना का प्रमाण है।

'कायाकल्प' की रचना से पूर्व 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द देशी रियासतों की असंतोषपूर्ण अवस्था, वहाँ के कठपुतली-नरेशों तथा निरकुंश अधिकारियों की मनमानी और उसके विरुद्ध वहाँ की जनता के संघर्ष पर प्रकाश डाल चुके थे। 'कायाकल्प' में उसी भूमिका पर इस प्रश्न को फिर से उठाया गया है। अतः जहाँ तक देशी रियासतों की समस्या के चित्रण का सवाल है, 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' को एक-दूसरे का पूरक माना जा सकता है। यद्यपि प्रेमचन्द 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' दोनों ही उपन्यासों में सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध देशी रियासतों की जनता के संघर्ष का कोई निश्चित एवं स्पष्ट स्वरूप अंकित नहीं कर पाए हैं, लेकिन 'कायाकल्प' इस अर्थ में 'रंगभूमि' से एक कदम आगे है। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द रियासत जगदीशपुर की जनता को बेगार के विरुद्ध सामन्तवाद और साम्राज्यवाद की सम्मिलित शक्तियों से सशस्त्र मोर्चा लेते दिखाते हैं। देशी रियासतों की आंतरिक अवस्था के संबंध में 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' द्वारा तीन तथ्य उभरकर हमारे सामने आते हैं : (१) इन रियासतों के नरेशों की स्थिति ब्रिटिश नौकरशाही के इशारों पर नाचने वाली कठपुतलियों से अधिक नहीं है, (२) निरंकुश अधिकारियों के बढ़ते हुए अत्याचारों के कारण इन रियासतों की जनता में भीतर-ही-भीतर असंतोष की आग घुमड़ रही है तथा (३) भीतर-ही-भीतर घुमड़ने वाला यह असंतोष

---

१. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० ४२ पर उद्धृत
२. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० ४३ पर उद्धृत
३. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० ४३-४४

जब एक व्यापक जनांदोलन का रूप ग्रहण करने लगता है तो विनय और चक्रधर सरीखे गांधीवादी नेता अहिंसा के नाम पर उसके मार्ग में आकर खड़े हो जाते हैं और इस प्रकार गांधीवादी नेतृत्व के प्रच्छन्न सहयोग से यह जनांदोलन कुचल दिया जाता है।

कायाकल्पकार प्रेमचन्द दिखाते हैं कि शोषित एवं दलित वर्ग में भी अब इतनी शक्ति और साहस उत्पन्न हो गया है कि वह निःशंक होकर बंदूकों का सामना कर सकता है। 'कायाकल्प' के चमार हंटर और गोलियाँ खाकर भी अपने तथाकथित भाग्य-विधाताओं की आज्ञा मानने से इंकार कर देते हैं।[1] 'कायाकल्प' के चमारों का यह वर्णन निस्सन्देह प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' उपन्यास की पूर्व-सूचना देता है। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने पहली बार मजदूरों को चमारों और किसानों के साथ मिलकर सामन्तवाद तथा साम्राज्यवाद की ताकतों का सशस्त्र मुकाबला करते दिखाया है। इतना ही नहीं, प्रेमचन्द मजदूरों को 'कायाकल्प' के इस सशस्त्र विद्रोह का नेतृत्व करते भी दिखाते हैं।[2] गांधीवादी नेता चक्रधर स्वभावतः मजदूरों और चमारों के इस हिंसापूर्ण कृत्य का विरोध करता है। विद्रोहियों से वह गांधीवाद की पारिभाषिक शब्दावली में कहता है : "अगर तुम्हें खून **की ऐसी प्यास है, तो मैं हाजिर हूं। मेरी लाश को पैरों से कुचलकर तभी तुम आगे बढ़ सकते हो।"**[3] विद्रोही पीछे हट जाते हैं, लेकिन हटने से पूर्व एक मजदूर और चक्रधर में जो प्रश्नोत्तर होता है, वह इस तथ्य का अत्यन्त स्पष्ट द्योतक है कि प्रेमचन्द पर से गांधीवादी विचारधारा का जादू उतरना शुरू हो गया था। मजदूर चक्रधर से सीधा सवाल करता है कि जब हम गोलियों से भुन रहे थे, उस समय आप कहां थे? अब जब कि हम सफलता

---

१. कायाकल्प, पृ० १०६

२. "एक मजदूर—बढ़े आओ, बढ़े आओ, अब मार लिया है। आज ही तो......

"उसके मुँह से पूरी बात भी न निकलने पायी थी कि गोलियों की दूसरी बाढ़ आयी और कई आदमियों के साथ दोनों नेताओं का काम तमाम कर गयी। × × × सहसा एक युवक ने कहा—मारो, रुक क्यों गये? सामने पहुंचकर हिम्मत छोड़ देते हो! बढ़े चलो। जय दुर्गामाई की!

"दूसरा बोला—आज जो मरेगा, वह बैकुण्ठ में जायेगा। × × ×

"उसे भी गोली लगी और चक्कर खाकर गिर पड़ा।"

—कायाकल्प, पृ० ११४

× × ×

"एक मजदूर—कोई चिन्ता नहीं। मर-मरकर जीने से एक बार मर जाना अच्छा है। मारो; आगे बढ़ो, क्या हिम्मत छोड़ देते हो?

"गुरुसेवक—आगे एक कदम भी रखा और गिरे! यह समझ लो कि तुम्हारे आगे मौत खड़ी है।

"मजदूर—हम आज मरने के लिए कमर बांधकर......

"अँग्रेजी कैम्प से फिर गोलियों की बाढ़ आयी और कई आदमियों के साथ यह आदमी भी गिर गया, × × ×।"

—कायाकल्प, पृ० ११५

३. कायाकल्प, पृ० ११६

के सिंहद्वार पर पहुँच गए हैं, आप हमें शांति और अहिंसा का उपदेश देने आ गए हैं।'[1] चक्रधर से मजदूर का यह प्रश्न उस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है जो क्रमशः देश की विचारधारा में आ रहा था।

देशी रियासतों के संबंध में सन् १८५३ में कार्ल मार्क्स ने लिखा था : "सारी दुनिया में इतनी हास्यास्पद, बेहूदा और निकम्मी तानाशाहियाँ और कहीं नहीं हैं जैसी हिन्दुस्तान के ये रजवाड़े और नवाबियाँ हैं, जिन्हें लगता है कि अलिफ लैला के पृष्ठों से निकालकर वहाँ बैठा दिया गया है।"[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि मार्क्स का कथन 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' के प्रणयन-काल में भी उतना ही सही था जितना कि गदर से चार वर्ष पूर्व ! इन रियासतों के स्वेच्छाचारी राजा-महाराजाओं द्वारा अपनाए गए दमन और शोषण के आदिम युगीन तरीकों की आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। बीसवीं शताब्दी में भी इन रियासतों में विभिन्न प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपों में दासता एक आम बात रही है। सन् १९२१ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार अकेले राजपूताना और मध्य-भारत में ही चाकर तथा दरोगा जाति के एक लाख साठ हजार से भी ऊपर दास मौजूद थे।[3] इन रियासतों की प्रशासन-व्यवस्था कितनी खोखली थी—यह जानने के लिए हमें

---

१. "चक्रधर—हम फिर कहते हैं, अब एक कदम भी आगे न उठे।

"जिले के मैजिस्ट्रेट मिस्टर जिम ने कहा—बाबू साहब, खुदा के लिए हमें बचाइए।

"फौज के कप्तान मिस्टर सिम बोले—हम हमेशा आपको दुआ देगा। हम सरकार से आपका सिफारिश करेगा।

"एक मजदूर—हमारे एक सौ जवान भून डाले, तब आप कहाँ थे ? यारो, क्या खड़े हो, बाबूजी का क्या बिगड़ा है। मारे तो हम गये हैं न ? मारो बढ़के।"

—कायाकल्प, पृ० ११६

× × ×

"मजदूर—भैया, हट जाओ, हमने बहुत मार खायी है, बहुत सताये गये हैं, इस वक्त दिल की आग बुझा लेने दो !

"चक्रधर—मेरा लहू इस ज्वाला को शान्त करने के लिए काफी नहीं है ?

"मजदूर—भैया तुम सान्त-सान्त बका करते हो ; लेकिन उसका फल क्या होता है। हमें जो चाहता है, मारता है, जो चाहता है, पीसता है, तो क्या हमीं सान्त बैठे रहें ? सान्त रहने से तो और भी हमारी दुरगत होती है। हमें सान्त रहना मत सिखाओ। हमें मरना सिखाओ, तभी हमारा उद्धार कर सकोगे।

"चक्रधर—अगर अपनी आत्मा की हत्या करके हमारा उद्धार भी होता हो, तो हम आत्मा की हत्या न करेंगे। संसार को मनुष्य ने नहीं बनाया है, ईश्वर ने बनाया है। भगवान् ने उद्धार के जो उपाय बताये हैं, उनसे काम लो और ईश्वर पर भरोसा रखो।"

—कायाकल्प, पृ० ११७

२. भारत संबंधी लेख : कार्ल मार्क्स, पृ० ७८

३. India Today, P. 413-14

उनकी आमदनी और खर्च के अनुपात पर एक दृष्टि डालनी होगी। श्री ए० आर० देसाई द्वारा प्रस्तुत विभिन्न विदेशी तथा देशी नरेशों के व्यक्तिगत व्यय का तुलनात्मक अध्ययन रोचक ही नहीं, आँखें खोल देने वाला भी है।[1] देशी रियासतें ब्रिटिश साम्राज्य की मुख्य रक्षा-स्तम्भ तथा भारत की स्वतंत्रता और उन्नति के मार्ग में बहुत बड़ी रुकावट रही हैं, किन्तु फिर भी गांधीजी—जो संपूर्ण भारत के दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि कहलाते थे—देशी नरेशों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति पर चलते रहे।[2] उन्होंने कुछ गिने-चुने कठपुतली नरेशों के सहयोग की झूठी छलना में उनके जूए के नीचे कसमसा रही आठ करोड़ जनता के सहयोग का मूल्य नहीं समझा। अखिल भारतीय राष्ट्रीय संस्था होने का दावा करते रहने पर भी कांग्रेस ने देशी रियासतों की आठ सौ लाख जनता को अपने साथ लेना उचित अथवा आवश्यक नहीं समझा।

गांधी तथा कांग्रेस के दूसरे नेताओं द्वारा देशी रियासतों के संबंध में अपनाई गई इस दुर्भाग्यपूर्ण नीति के बावजूद प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' उपन्यासों में रियासतों की जनता के संघर्ष को वाणी देने का जो प्रयास किया है, वह इस तथ्य का प्रत्यायक है कि प्रेमचन्द ने कभी गांधी का अंधानुगमन नही किया।

'कायाकल्प' ऐसे समय की रचना है जब कि साम्प्रदायिक वैमनस्य अपने चरमोत्कर्ष

---

१. "The King of England receives roughly one in 1,600 of the national revenue, the King of Belgium one in 1,000, the King of Italy one in 500, the King of Denmark one in 300, the Emperor of Japan one in 400......No king receives one in 17 like the Maharani of Travancore (which is the most progressive State in India), one in 13 as the Nizam of Hyderabad or the Maharaja of Baroda, or one in 5 as the Maharajahs of Kashmir and Bikaner. The world would be scandalised to know that not a few Princes appropriate one in 3 and one in 2 of the revenues of the State." (A.R. Desai)

—India Today, P. 413 पर उद्धृत

२. "When such conditions prevail in the States it would have been natural for the Congress to stand up for the elementary rights of the people of the States and to criticise their wholesale suppression. But Gandhiji fathered a novel policy on the Congress in regard to the States—the "policy of non-interference in the internal administration of the States." This hush-hush policy has been adhered to by him in spite of the most extraordinary and painful occurrences in the States, ××× ."

—An Autobiography : Jawaharlal Nehru, P. 532

पर था। 'कायाकल्प' से पूर्व 'सेवासदन' में प्रेमचन्द हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक वैमनस्य की इस समस्या को उठा चुके थे। 'सेवासदन' की रचना के बाद लखनऊ पैक्ट के परिणामस्वरूप हिन्दू-मुसलमानों में कुछ समय के लिए अस्थायी शांति स्थापित हो गई। लेकिन गांधीजी द्वारा प्रथम असहयोग-आंदोलन को अचानक ही स्थगित कर दिए जाने के कारण साम्प्रदायिकता की अग्नि एक बार फिर भड़क उठी और जल्दी ही देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गई। स्वभावतः प्रेमचन्द जैसा राष्ट्रीय साहित्यकार इस समस्या की उपेक्षा नहीं कर सकता था। आगरे के हिन्दू-मुसलमानों की साम्प्रदायिक मनः-स्थिति का 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने जो चित्र प्रस्तुत किया है,[1] वह वस्तुतः तत्कालीन पूरे भारत का ही चित्र है। 'कायाकल्प' के इस उद्धरण से पता चलता है कि प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता की इस वृद्धि के लिए दोनों जातियों को समान रूप से दोषी मानते थे।

गो-वध का प्रश्न उन दिनों साम्प्रदायिक दंगों का एक बहुत बड़ा कारण था। प्रेमचन्द मानते थे कि गो-रक्षा के नाम पर होने वाले इन दंगे-फिसादों का वास्तविक उद्देश्य गो-रक्षा नहीं है।[2] एक शुद्ध आर्थिक प्रश्न को धार्मिक रंग देकर धर्म के नाम पर

---

१. "आगरे के हिन्दुओं और मुसलमानों में आये-दिन जूतियां चलती रहती थीं। जरा-जरा-सी बात पर दोनों दलों के सिर-फिरे जमा हो जाते और दो-चार के अंग-भंग हो जाते। कहीं बनिये ने डण्डी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दूकान पर धावा कर दिया, कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घड़ा छू लिया और मुहल्ले में फौजदारी हो गयी। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया और इसी बात पर मुहल्ले-भर के हिन्दुओं के घर लुट गये, दूसरे मुहल्ले में दो कुत्तों की लडाई पर सैकडों आदमी घायल हुए; क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था, दूसरा सईद का। निज के रगडे-झगडे साम्प्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाये जाते थे। दोनों ही दल मजहब के नशे में चूर थे। मुसलमानों ने बजाजे खोले, हिन्दू नैचे बांधने लगे। सुबह को ख्वाजा साहब हाकिम-जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानन्दन। दोनों अपनी-अपनी राजभक्ति का राग अलापते। दोनों देवताओं के भाग्य जागे, जहां कुत्ते निद्रोपासना किया करते थे, वहां पुजारीजी की भंग घुटने लगी। मसजिदों के दिन फिरे, मुल्लाओं ने अबाबीलों को बेदखल कर दिया। जहां सांड़ जुगाली करता था, वहा पीर साहब की हँड़िया चढ़ी। हिंदुओं ने 'महावीर दल' बनाया, मुसलमानों ने 'अलीगोल' सजाया। ठाकुरद्वारे में ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होती, मसजिदों में नमाज की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहब ने फतवा दिया—जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजों का सवाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पण्डितों की व्यवस्था मंगवायी कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदानों से श्रेष्ठ है।"

—कायाकल्प, पृ० १९७–९८

२. "यह कुरबानी में गाय के लिए झगड़ा नहीं होता है, यह दोनों के अन्दर एक तरह की कुरेदन रहती है, उसी में परस्पर झगड़ा होता है।"

—प्रेमचन्द : घर में, पृ० ९६

× × ×

"मैं बोली—'यहां सैकडों आदमी गाय के पीछे प्रतिवर्ष कुरबान होते हैं। गाय के पीछे।'

लोगों की भावनाओं को उत्तेजित करना कहाँ तक समीचीन है—यह विचारणीय है। गाय के लिए इंसानों का खून वहाना न तो उचित ही है और न बुद्धिमत्तापूर्ण ही।[१] प्रेमचन्द हिन्दुओं से कहा करते थे कि **"गाय तुम्हारे लिए जितनी जरूरी है, मुसलमानों के लिए भी उतनी जरूरी है।"**[२] 'कायाकल्प' का नायक चक्रधर प्रेमचन्द के इन्ही उदार विचारों का प्रतिनिधि है। मुसलमानों द्वारा गाय की कुरबानी किए जाने के सवाल पर उत्तेजित आगरे के हिन्दुओं को समझाता हुआ वह कहता है कि **"अहिंसा का नियम गौओं ही के लिए नहीं, मनुष्यों के लिए भी तो है।"**[३] आवेश के क्षणो मे विचारशक्ति नष्ट हो जाती है। मजहबी जोश आदमी को अंधा बना देता है। चक्रधर की इस सलाह का जवाब पत्थरों से दिया जाता है। लेकिन चक्रधर एक आदर्श वीर सत्याग्रही की भाँति सिर मे पत्थर खाकर भी अपनी जगह से नही हिलता। वह कहता है . **"अगर मेरे रक्त से आपकी क्रोधाग्नि शान्त होती हो, तो यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। अगर मेरा खून और कई जानों की रक्षा कर सके, तो इससे उत्तम कौन-सी मृत्यु होगी।"**[४] अंत में चक्रधर गाय के साथ स्वयं भी बलिदान हो जाने के लिए तैयार हो जाता है। चक्रधर का यह नैतिक साहस, उदारता तथा अहिंसक वीरता मुसलमानों के हृदय को जीत लेती है और इस प्रकार एक भीषण रक्तपात होते-होते वच जाता है।

यदि गो-वध के प्रश्न पर गाधीजी के विचारो को प्रेमचन्द के उपर्युक्त विचारों के समानान्तर रखकर देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि दोनों मे आश्चर्यजनक साम्य है। गांधीजी भी मानते थे कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में गो-रक्षा का प्रश्न शुद्ध आर्थिक प्रश्न है। हालाँकि गांधीजी गो-सेवा के सवाल को वहुत ही महत्त्व देते थे, किन्तु साथ ही वे यह भी कहा करते थे कि **"गाय की रक्षा का अर्थ गाय नाम के पशु की रक्षा नहीं, बल्कि प्राणीमात्र की, जीवमात्र की रक्षा है।"**[५] महात्मा गांधी के मतानुसार गाय की

"आप बोले—'रानी, पागल न हो तुम, सुनो, वह गाय के पीछे नही कुरवान होते, वल्कि वे अपनी कुरेदन के पीछे कुरवान होते हैं। उनके अन्दर जो कुरेदन रहती है उसी, को मौका पाकर दोनों निकालना चाहते है।' "

—प्रेमचन्द : घर में, पृ० ११५

१. "फिर मै तो कहता हूं, गाय के पीछे आदमी की कुरवानी होना अच्छा है? और वह गाय तो तुम्हारी और मुसलमानों दोनों की है। वह भी इसी जगह पैदा होते है और मरते हैं। जिस-जिस चीज से उनका हानि-लाभ होगा, उसी से तुम्हारा भी होगा।"

—प्रेमचन्द : घर मे, पृ० ११४

२. प्रेमचन्द : घर में, पृ० ४५
३. कायाकल्प, पृ० २६
४. कायाकल्प, पृ० ३०
५. गोसेवा : गांधीजी, पृ० २७ (तीसरी आवृत्ति, १९५५)

रक्षा के लिए मनुष्य का वध हिन्दू धर्म और अहिंसा दोनों के विरुद्ध है।[1] वे मानते थे कि आजकल गाय की रक्षा का अर्थ मुसलमानों के साथ लड़ाई-झगड़ा करने और शत्रुता बढ़ाने तक ही सीमित हो गया है, लेकिन असल में गो-रक्षा का अर्थ यह नहीं है।[2] गांधीजी कहा करते थे कि जिस प्रकार मैं गाय की पूजा करता हूँ, उसी प्रकार मनुष्य की भी पूजा करता हूँ; अतः गाय को बचाने के लिए मैं मुसलमान से लड़ूंगा नहीं, उसकी हत्या नहीं करूँगा।[3] गोमाता के नाम पर नारे लगाने वाले व्यक्तियों से गांधीजी पूछते हैं : "हिन्दुस्तान के ढोरों को हिन्दू किस तरह रखते हैं ? अुनके शरीर में नोकदार आर कौन भोंकता है ? अुन पर असह्य भार कौन लादता है ? अुन्हें कम खुराक कौन देता है ? अुनसे अतिशय काम कौन लेता है ?"[4] गो-रक्षा का प्रश्न वास्तव में भारत के पशुधन की रक्षा के वृहत्तर प्रश्न का ही एक अंग है, लेकिन हमने उसे मुसलमानों के साथ झगड़ा करने का एक वहाना वना लिया है।[5]

कायाकल्पकार यह स्पष्ट करना नहीं भूलता कि गाय की कुरवानी के लिए सिर्फ मुसलमानों को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अपने उदार मुस्लिम चरित्र ख्वाजा महमूद के द्वारा प्रेमचन्द पूछते हैं : क्या हिन्दू शुद्धि-आंदोलन द्वारा मुसलमानों की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचाते ? जव हिन्दू अपने अधिकारों के सामने मुसलमानों के जजवात की परवाह नहीं करते तो कोई कारण नहीं कि मुसलमान अपने हकों के सामने हिन्दुओं की भावनाओं की परवाह करें ![6] स्पष्ट है कि जव तक हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के अधिकारों तथा भावनाओं की रक्षा और सम्मान करना नहीं सीखेंगे तव तक स्थायी साम्प्रदायिक ऐक्य स्थापित नहीं हो सकता। प्रेमचन्द मानते थे कि मुसलमानों में भी शांति की इच्छा उतनी ही वलवती है जितनी हिन्दुओं में।[7] दोनों जातियों में शांति और एकता की समान इच्छा रहते हुए भी वर्त्तमान साम्प्रदायिक अशांति और वैमनस्य

---

१. गोसेवा ; गांधीजी, पृ० ६
२. वही, पृ० ७
३. वही, पृ० १६१
४. वही, पृ० ३
५. कर्मवीर, गांधी, पृ० १३२–३३
६. कायाकल्प, पृ० २८
७. "चक्रधर– × × × मैं तो यही कहूंगा कि मुसलमानों को लोग नाहक वदनाम करते हैं। फिसाद से वे भी उतना ही डरते हैं, जितना हिन्दू ! शान्ति की इच्छा भी उनमें हिन्दुओं से कम नहीं है। लोगों का यह खयाल कि मुसलमान लोग हिन्दुओं पर राज्य करने का स्वप्न देख रहे हैं, विलकुल गलत है। मुसलमानों को केवल यह शंका हो गयी है कि हिन्दू उनसे पुराना वैर चुकाना चाहते हैं, और उनकी हस्ती को मिटा देने की फिक्र कर रहे हैं। इसी भय से वे जरा-जरा-सी वात पर तिनक उठते हैं और मरने-मारने पर आमादा हो जाते हैं।"

—कायाकल्प, पृ० ४६

का कारण वह आशंका है जो गलत इतिहास पढ़ने के कारण दोनों के मन में समा गई है। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने हमारे अंदर यह बात ठूंस-ठूंस कर भर दी है कि हिन्दू और मुसलमान हमेशा-हमेशा से एक-दूसरे के कट्टर शत्रु रहे हैं।[1] प्रेमचन्द जानते थे कि "जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठाने वाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा।"[2] प्रेमचन्द यह भी जानते थे कि खुद कांग्रेस में भी ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जिनका हित साम्प्रदायिकता की बढ़ोतरी में है।[3] प्रेमचन्द के इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी तीव्र दृष्टि से कांग्रेस के नेताओं की साम्प्रदायिकता भी छिपी हुई नहीं थी।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के सवाल पर हालाँकि प्रेमचन्द और गांधी के दृष्टिकोण में आश्चर्यजनक साम्य है, लेकिन दोनों की 'एप्रोच' में एक मौलिक अंतर भी है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, प्रत्येक प्रश्न के संबंध में—चाहे वह राजनीतिक हो, सामाजिक हो अथवा आर्थिक—गांधीजी की 'एप्रोच' मूलतः धार्मिक थी। स्वभावतः हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या को भी वे 'धर्म' से अलग हटकर नहीं देखते थे। इसके विपरीत प्रेमचन्द मूलतः एक अधार्मिक व्यक्ति थे—अधार्मिक इस अर्थ में कि वे धर्म को व्यक्तिगत पूजा और उपासना के क्षेत्र तक ही सीमित रखना चाहते थे। राजनीतिक, आर्थिक आदि

---

१. "हम गलत इतिहास पढ़-पढ़कर, एक दूसरे के प्रति तरह-तरह का गलतफहमियां दिल में भरे हुए हैं, × × ×। मुसलमानों को अगर यह शिकायत है कि हिन्दू हमसे परहेज करते हैं, हमें अछूत समझते हैं, हमारे हाथ का पानी तक नहीं पीना चाहते, तो हिन्दुओं को यह शिकायत है कि मुसलमानों ने हमारे मंदिर तोड़े, हमारे तीर्थस्थानों को लूटा, हमारे राजाओं की लड़कियां अपने महल में डालीं और जाने क्या-क्या उपद्रव किये। × × × विजयी जाति पराजितों पर जो सबसे कठोर आघात करती है वह है उनके इतिहास को विषैला बना देना। प्राचीन हमारे भविष्य का पथदर्शक हुआ करता है। प्राचीन को दूषित करके, उसमें द्वेष और भेद और कीना भरकर भविष्य को भुलाया जा सकता है। वही भारत में हो रहा है। यह बात हमारे अन्दर ठूस दी गयी है कि हिन्दू और मुसलमान हमेशा से दो विरोधी दलों में विभाजित रहे हैं, हालांकि ऐसा कहना सत्य का गला घोंटना है।" (प्रेमचन्द)

—शांति के योद्धा प्रेमचन्द : अमृतराय, पृ० ३६–३७ पर उद्धृत

२. शांति के योद्धा प्रेमचन्द, पृ० ३३ पर उद्धृत

३. "कांग्रेस में दुर्भाग्यवश हिन्दू और मुस्लिम मनोवृत्तियों का अभी तक काफी जोर है। × × × अगर कांग्रेस में इस मनोवृत्ति को प्रोत्साहन न मिलता तो पंथगत द्वेष कभी इतना भीषण रूप न धारण करता। हममें से अधिकांश लोग अब भी कहने को तो कांग्रेस-मैन हैं, इंकलाब की चीख मारते हैं, झण्डे का गीत गला फाड़ फाड़कर गाते हैं, लेकिन अंदर देखिये तो राष्ट्रीयता छू नहीं गयी। × × × धर्म के संकीर्ण क्षेत्र के बाहर उनकी निगाह ही नहीं पहुंचती, वह या तो हिन्दू हैं या मुसलमान, हिन्दुस्तानीपन का भाव उनमें कोसों दूर है।" (प्रेमचन्द)

—शांति के योद्धा प्रेमचन्द, पृ० ३५ पर उद्धृत

वृहत्तर प्रश्नों में वे धर्म का समावेश उचित नहीं समझते थे।[1] यही वह रेखा है जहाँ आकर प्रेमचन्द और गांधी के रास्ते अलग हो जाते हैं। प्रेमचन्द और गांधी की 'एप्रोच' में इस विभेद को समझने के लिए 'कायाकल्प' से एक उदाहरण पर्याप्त होगा। साम्प्रदायिक दंगों के कारणों की जाँच करते हुए गांधीजी ने कहीं भी मौलवा-पंडित वर्ग को उसके लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया है, जब कि 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द इस बात को बिल्कुल साफ कर देते हैं कि साम्प्रदायिक दंगों से लाभ केवल मौलवी-पंडित वर्ग को ही होता है।[2] वे मानते थे कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का कारण दोनों जातियों में वर्त्तमान वे तत्त्व हैं, जिनका हित दोनों के लड़ाने में है।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि पंडे-पुजारी, मुल्ला-मौलवी तथा कतिपय राजनीतिक नेता ही वे व्यक्ति हैं 'जिनकी इज्जत और सरवत दोनों को लड़ाते रहने पर ही कायम है।' पिछली ५-६ दशाब्दियों में होने वाले साम्प्रदायिक दंगों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि धर्म या मज़हब ही उनका मुख्य प्रेरणा-स्रोत रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रश्न पर प्रेमचन्द का दृष्टिकोण सभी प्रकार की साम्प्रदायिक या धार्मिक संकीर्णताओं से मुक्त एक सर्वथा स्वस्थ दृष्टिकोण था। उसके अनुसार जब तक दोनों जातियों में एक-दूसरे के धर्म, आचार-व्यवहार, सभ्यता-संस्कृति के प्रति सहज सम्मान की भावना उत्पन्न नहीं होती और जब तक हिन्दू मुसलमानों को 'म्लेच्छ' तथा मुसलमान हिन्दुओं को 'काफिर' समझते रहेंगे, तब तक साम्प्रदायिक एकता का स्वप्न वास्तविकता में परिणत नहीं हो सकता। प्रेमचन्द अपने जीवन और साहित्य दोनों में ही धार्मिक सहिष्णुता के बहुत बड़े प्रचारक थे। हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे के शाश्वत शत्रु समझने और समझाने वाले इतिहासकारों तथा राजनीतिज्ञों के लिए कायाकल्पकार के निम्नोक्त शब्दों में कितनी मीठी फटकार है—यह सहज ही अनुमेय है : "न मुसलमानों के लिए दुनिया

---

१. "जब तक इस दूषित मनोवृत्ति का हम अन्त न कर देंगे) जब तक अपना हिन्दू या मुसलमान होना भूल न जायेंगे, जब तक हम अन्य धर्मावलम्बियों के साथ उतना ही प्रेम न करेंगे जितना निज धर्मवालों के साथ करते हैं, सारांश यह कि जब तक हम पंथजनित संकीर्णता से मुक्त न हो जायेंगे, इस बेड़ी को तोड़ कर फेंक न देंगे, देश का उद्धार होना असंभव है। कोई नहीं कहता कि आप नमाज न पढ़िये...पांचों वक्त नमाज पढ़िये, तीसों रोजे रखिए, देवताओं की जितनी पूजा चाहे कीजिए, जितनी सन्ध्या चाहे कीजिए, हवन की सुगन्धि से देश को सुगन्धित कर दीजिए, मगर धर्म को राजनीति से गड़बड़ न कीजिए।" (प्रेमचन्द)

—शांति के योद्धा प्रेमचन्द, पृ० ३६ पर उद्धृत

२. कायाकल्प, पृ० ३१

३. "दोनों कौमों में कुछ ऐसे लोग हैं, जिनकी इज्जत और सरवत दोनों को लड़ाते रहने पर ही कायम है। बस, वह एक-न-एक शिगूफ़ा छोड़ा करते हैं।"

—कायाकल्प, पृ० ३२६

में कोई दूसरा ठौर-ठिकाना है, न हिन्दुओं के लिए। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश में मरेंगे। फिर आपस में क्यों लड़ मरते हो, क्यों एक दूसरे को निगल जाने पर तुले हुए हो ? न तुम्हारे निगले वे निगले जायंगे, न उनके निगले तुम निगले जाओगे; मिल-जुलकर रहो,......।'"[1]

प्रेमचन्द की इस धार्मिक सहिष्णुता और उदारता में पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' को उसी प्रकार मुस्लिम-पक्षपात की गंध आती है, जिस प्रकार कि हिन्दू-विचारों के पोषक लोगों को गांधीजी के हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-संबंधी प्रयत्नों में आती थी। पं० 'शिलीमुख' के अनुसार 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' में मुस्लिम-पक्षपात की ध्वनि है।[2] 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' के किन स्थलों पर उन्हें प्रेमचन्द की मुस्लिमपरस्ती का आभास होता है, यह तो वे ही जानें ? 'कायाकल्प' के ऐसे कतिपय स्थलों का अलबत्ता उन्होंने उल्लेख किया है, जिन्हें पढते-पढते पंडितजी को परम ग्लानि हुई है।[3] 'कायाकल्प' के वे स्थल मय पंडितजी की टिप्पणियों के ज्यों-के-त्यों हम नीचे दे रहे हैं।[4]

---

१. कायाकल्प, पृ० २००

२. " 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' के कुछ समालोचकों की राय है कि मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों में मुसलिम-पक्षपात की ध्वनि रहती है। हमने भी इस बात की कुछ ध्वनि इन दोनों उपन्यासों में पाई है और 'कायाकल्प' में भी पाते हैं। × × × 'कायाकल्प' के कुछ पात्रों की भिन्न उक्तिया पढ़कर हमें कभी-कभी यह भ्रम होने लगता है कि जितनी ज्यादतिया हैं वे हिन्दुओं की ही हैं, हिन्दू ही अपकारी हैं और मुसलमान बेचारे गऊ हैं।"

—शिलीमुखी, पृ० ७४-७५

३. "बहुत अवतरण देने की आवश्यकता नहीं है। हमको ऐसे स्थानों पर पढ़ते-पढ़ते परम ग्लानि हुई है, जिससे चक्रधर-मनोरमा की कहानी पढ़ने के आनन्द में व्याघात पहुंचा।"

—शिलीमुखी, पृ० ७६

४. " 'यशोदा०—कैसी बातें करते हो जी ! क्या यहा अपनी आखों से गऊ की हत्या होते देखें ?'
" 'चक्रधर—अगर आप एक बार दिल थामकर देख लेंगे तो यकीन है कि फिर आपको कभी यह दृश्य न देखना पड़े।' (कायाकल्प, प० २९)
"मनोरमा को आगरे का हाल सुनाते हुए चक्रधर कहते हैं—'......मैं तो यही कहूंगा कि मुसलमानों को लोग नाहक बदनाम करते हैं। फिसाद से वे भी उतना ही डरते हैं जितना हिन्दू! शांति की इच्छा भी उनमें हिन्दुओं से कम नहीं है। लोगो का यह ख्याल कि मुसलमान लोग हिन्दुओं पर राज्य करने का स्वप्न देख रहे हैं बिलकुल गलत है। मुसलमानों को केवल यह शंका हो गई है कि हिन्दू उनसे पुराना वैर चुकाना चाहते हैं और उनकी हस्ती मिटा देने की फिक्र कर रहे हैं। इसी भय से वे जरा-जरा-सी बात पर तिनक उठते हैं और मरने-मारने पर आमादा हो जाते हैं।' (पृ० ४६) इस तरह की उक्तियां प्रायः चक्रधर से ही कहलाई गई हैं जो उपन्यास के सबसे 'समझदार' व्यक्ति हैं।
" 'ख्वाजा साहब ने फ़तवा दिया जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय उसे एक

शिलीमुखजी की इस 'परम ग्लानि' का कारण यह है कि प्रेमचन्द ने 'काया-कल्प' के हिन्दुओं की साम्प्रदायिकता को भी उतनी ही निर्ममता से अनावृत किया है जितनी कि मुसलमानों की साम्प्रदायिकता को। वे इस बात की स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते कि हिन्दू इतने 'साहसी और नीच' हो सकते हैं कि काशी के पंडितों से यह व्यवस्था मँगवाएँ कि एक मुसलमान का वध एक लाख गो-दानों से श्रेष्ठ है! हाँ, ख्वाजा साहब का यह फतवा कि एक हिन्दू नाजनीन को भगा ले जाने वाले को एक हजार हजों का सवाब होगा, बिल्कुल सच है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पं० शिलीमुख की यह 'परम ग्लानि' उस व्यक्ति की 'ग्लानि' है जिसे उसका असली चेहरा दिखा दिया गया हो पर वह उसे अपना मानने के लिए तैयार न हो! पंडितजी यह भूल जाते हैं कि धर्मांधता के मामले में हिन्दू भी किसी से कम नहीं हैं। भारत में साम्प्रदायिक दंगों के इतिहास से परिचित व्यक्ति जानता है कि शिलीमुखजी की यह पक्षपातपूर्ण धारणा तथ्यों पर आधृत नहीं है।

हिंदी साहित्य की सुदीर्घ परंपरा में तुलसी के पश्चात् केवल प्रेमचन्द के लिए ही यह कहा जा सकता है कि जीवन की विभिन्न समस्याओं के प्रति उनकी 'एप्रोच' सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त और स्वस्थ 'एप्रोच' थी। तुलसी के समान ही प्रेम-चन्द ने जीवन को अपने पूर्ण, भावात्मक तथा यथार्थ रूप में देखा और परखा था। यह पूरे आत्म-विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि इतने व्यापक दृष्टिकोण से सम्पन्न साहित्यकार पर धार्मिक या साम्प्रदायिक पक्षपात का आरोप लगाना स्वयं अपनी पूर्वा-ग्रहपूर्ण संकीर्ण दृष्टि का सूचक है। प्रेमचन्द के साहित्य में कहीं भी किसी जाति अथवा संप्रदाय-विशेष के प्रति अनुचित पक्षपात या शत्रुता का भाव नहीं है। उनके लिए

हजार हजों का सवाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पण्डितों की व्यवस्था मँगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गऊ-दानों से श्रेष्ठ है।' (पृ० १६८) हम तो सचमुच इसे पढ़कर सहम जाते हैं। हमने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि हिन्दू इतने साहसी और नीच हैं। क्या सचमुच हिन्दुओं से इस प्रकार की व्यवस्था मँगवाने की कल्पना की जा सकती है? हाँ, फ़तवों और हिन्दू औरतों को भगाये जाने की बातें तो रोज सुनते हैं। हिन्दू-कलंक की इस अतिरंजना का क्या अभिप्राय है? क्या हिन्दू संगठन के नेताओं की खबर ली जाती है?

" 'सेवा-दल के दो सौ युवक तलवारें लेकर निकल पड़े और मुसलमान मुहल्लों में घुसे।' (पृ० १६६) हिन्दुओं की जातीय वीरता, जो आत्म-रक्षा तक में यथेष्ट रूप से समर्थ नहीं होती, क्या सचमुच ऐसा कर सकती है? आज तक कहाँ-कहाँ ऐसा हुआ है?

" 'चक्रधर—अगर इस गाय की कुर्बानी करना आप अपना मजहबी फर्ज समझते हों तो शौक से कीजिए। मैं आपके मजहबी मामले में दखल नहीं दे रहा हूं। लेकिन क्या लाजमी है कि इसी जगह कुर्बानी की जाय?' (पृ० ३१) हमारी समझ में, यदि हिन्दुओं की बहू-बेटियों को भगा ले जाना मुसलमानों का मजहबी फर्ज है तो इसमें भी हमें रोक-टोक न करना चाहिए। हाँ, मुसल-मानों से हम इतनी प्रार्थना कर सकते हैं कि वह हमारी आँखों के सामने ऐसा न करें।"

—शिलीमुखी, पृ० ७५–७६

[illegible]

'चक्रधर [illegible] होकर बोले — दोनों भाइयों (यशोदानन्दन और ख्वाजा महमूद) [illegible] पर आ गये होंगे। जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेंगे, हमारी यही दशा रहेगी। [illegible] मैं तो नीति ही को धर्म समझता हूँ और सभी सम्प्रदायों की नीति एक-सी है। [illegible] हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए। ये मानव-जाति के निर्माता हैं। × × बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है, जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू। देखना यह चाहिए कि वह कैसा आदमी है, न कि यह कि वह किस धर्म का आदमी है। संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा।'[2]

'कायाकल्प' की विभिन्न समस्याओं के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अंत में अब हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द का प्रस्तुत उपन्यास भी उनकी सामान्य विचारधारा की ही एक अविभाज्य कड़ी है। रानी देवप्रिया की कहानी के आधार पर उसे 'गोरख-धंधा' अथवा 'शब्दाडम्बर' मात्र ही नहीं माना जा सकता। जब हम इस बात का

---

१. "मैं बोली—'तो क्या आप मुसलमानों के हिमायती हैं?'
"आप बोले—'मैं किसी का हिमायती नहीं हूं, न किसी का दुश्मन हूं।'
"मैं बोली—'आखिर आप राम को मानते हैं कि रहीम को?'
"आप बोले—'मेरे लिए राम, रहीम, बुद्ध, ईसा सभी श्रद्धा के पात्र हैं। और मैं इन सबों को महापुरुष समझता हूं।'
"मैं बोली—'आखिर आप हैं क्या?'
"आप बोले—'मैं एक इंसान हूं, और जो इंसानियत रखता हो, इंसान का काम करता हो, मैं वही हूं, और उन्हीं लोगों को चाहता हूं। मेरे दोस्त अगर हिन्दू हैं, तो मेरे कम दोस्त मुसलमान नहीं हैं। और इन दोनों में मेरे नजदीक कोई खास फर्क नहीं है, मेरे लिए दोनों बराबर हैं।' "

—प्रेमचन्द : घर में, पृ० ९६

२. कायाकल्प, पृ० १७५ (कोष्ठकबद्ध लेखक के)

विश्लेषण करते हैं कि आलोचकों ने 'कायाकल्प' को 'गोरखधंधा' या 'शब्दाडम्बर' मात्र मानने की गलती क्यों की है, तो पता चलता है कि इसके दो कारण हैं। (१) आलोचकों ने रानी देवप्रिया की कहानी को चक्रधर-अहल्या तथा विशालसिंह-मनोरमा की कहानियों के परिपार्श्व में देखने-समझने का कष्ट नहीं उठाया है। अतः वे तीनों कहानियों के मूल में निहित संगति को नही पकड़ सके हैं। (२) उन्होंने रानी देवप्रिया की कहानी को उपन्यास की दूसरी समस्याओं के मुकाबले आवश्यकता से अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया है। हम यह स्वीकार करते हैं कि 'कायाकल्प' में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ पर प्रेमचन्द रहस्यवाद और आध्यात्मिकता की भूलभुलैयाँ में खो जाने का प्रयास करते हैं, लेकिन 'कायाकल्प' के इन स्थलों को उपन्यास के शेष कथा-भाग की तुलना में सर्वप्रमुख नहीं माना जा सकता। अंत में निष्कर्षस्वरूप हम कहना चाहेंगे कि 'प्रेमाश्रम' या 'कर्मभूमि' के प्रेमचन्द का 'कायाकल्प' में पूरा आभास मिलता है। उसे प्रेमचन्द के शेष कृतित्व से बहुत भिन्न नहीं माना जा सकता।

४. निर्मला—

'निर्मला' में प्रेमचन्द ने दहेज और अनमेल विवाह की गंभीर सामाजिक समस्या का चित्रण किया है। 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन' और 'निर्मला' को एक दूसरे की पूरक कृतियाँ माना जा सकता है—पूरक इस अर्थ में कि इनमें एक ही समस्या के भिन्न-भिन्न पहलुओं को प्रस्तुत किया गया है। 'प्रतिज्ञा' में विधवा-समस्या, 'सेवासदन' में वेश्या-समस्या और 'निर्मला' में अनमेल विवाह की समस्या को उठाया गया है। नाम अलग होने पर भी समस्या वस्तुतः एक ही है—वर्त्तमान पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री की पराधीनता की समस्या। विधवा-समस्या, वेश्या-समस्या, दहेज, अनमेल विवाह इत्यादि में से कोई भी वास्तव में मौलिक समस्या नहीं है; क्योंकि इन सभी का मूल कारण कुछ और है। 'प्रतिज्ञा' और 'निर्मला' को एक साथ रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि वर्त्तमान समाज में स्त्री और पुरुष की नैतिकता के दोहरे मापदण्ड हैं। स्त्री यदि विधवा हो जाती है तो पूर्णा की भाँति उसे अपनी समस्त जीवनैषणा को कुचलकर जिंदा ही मुर्दा बन जाना पड़ता है। किन्तु पुरुष पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। मुंशी तोताराम की तरह वह कभी भी नया ब्याह रचा सकता है, एक नई पत्नी और नई जवानी खरीद सकता है। यह दोहरी नैतिकता ही वह मूल कारण है जिसकी वजह से दहेज, अनमेल विवाह, विधवा-समस्या, वेश्या-समस्या जैसी अनेकानेक समस्याएँ पनपती और जिंदा रहती हैं। 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन' और 'निर्मला' के द्वारा प्रेमचन्द ने इसी सत्य का उद्घाटन किया है।

'निर्मला' प्रेमचन्द की प्रथम यथार्थवादी त्रासदी (ट्रेजेडी) है जिसमें उन्होंने समस्या का कोई आदर्शवादी आश्रमपरक समाधान नहीं सुझाया है। 'निर्मला' के लेखक ने समाधान की अपेक्षा समस्या के विश्लेषण पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा है। यही कारण है कि उपन्यास की कथा आदर्शवाद की भूलभुलैयाँ में न भटककर तीव्र गति से अपने

[illegible] ।

[illegible]

[illegible] 'सेवासदन' में सुमन [illegible]। निर्मला में [illegible] नहीं है, पर फिर भी उसके मन में उस व्यवस्था के प्रति—जिसने पन्द्रह वर्षीय बालिका को [illegible] वर्ष के मंसाराम की मां और चालीस वर्ष के मुंशी तोताराम की पत्नी बनने पर विवश किया था—एक तीव्र असन्तोष की भावना अवश्य है।[3] निर्मला के चरित्र में कुल मिलाकर कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। आम भारतीय स्त्रियों की तरह वह भी चुपचाप सहना, कुढ़ना और जलना ही जानती है। अपनी परिस्थितियों से विद्रोह करने की शक्ति उसमें नहीं है। उसके विपरीत सुधा में सुमित्रा की तेजस्विता और सुमन की विद्रोहात्मकता है। अपने 'पतिदेव' के उचित-अनुचित सभी कृत्यों को चुपचाप बर्दाश्त करने और घुट-घुट कर मरने वाली स्त्रियों में से सुधा नहीं है। डॉ० सिन्हा द्वारा आत्महत्या कर लिए जाने पर वह साहसपूर्वक कहती है : "ऐसे सौभाग्य से मैं वैधव्य को बुरा नहीं समझती।"[4]

प्रेमचन्द की मृत्यु के लगभग चौथाई शताब्दी पश्चात् आज भी इस देश में न जाने कितने भालचन्द्र और भुवनमोहन विद्यमान हैं और न जाने प्रतिवर्ष कितनी निर्मलाएँ समाज-व्यवस्था की इस बलि-वेदी पर अपने प्राण देने को विवश होती हैं! विविध समाज-सुधार संस्थाओं तथा सहृदय सुधारकों के निरन्तर सद्प्रयत्नों के बावजूद प्रस्तुत

---

१. प्रेमचन्द और उनका युग : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० ६७

२. निर्मला, पृ० ३७ (ग्यारहवां संस्करण)

३. "निर्मला जब वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर आइने के सामने खड़ी होती और उसमें अपने सौन्दर्य की सुषमापूर्ण आभा देखती, तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था। उस वक्त उसके हृदय में एक ज्वाला-सी उठती। मन में आता इस घर में आग लगा दूँ।"

—निर्मला, पृ० ३८

४. निर्मला, पृ० १८७

समस्या (दहेज और अनमेल विवाह) का यथावत् वर्त्तमान रहना यह सिद्ध करता है कि इसकी जड़ें और अधिक गहरे में अर्थात् वर्त्तमान समाज-व्यवस्था के मूल में निहित हैं। आदर्शवाद या गांधीवाद के प्रति अपने आग्रह के कारण यद्यपि प्रेमचन्द ने डा० सिन्हा के हृदय में अपनी पिछली भूल के प्रति पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न करवाकर निर्मला की छोटी बहिन कृष्णा के विवाह की समस्या का समाधान करवा दिया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि समस्या का यह समुचित एवं स्थायी समाधान नहीं है। डा० सिन्हा का यह हृदय-परिवर्तन आश्चर्यजनक रूप से आकस्मिक तथा कारण-कार्य की शृङ्खला से रहित है। उपन्यास के आरंभ में प्रेमचन्द ने भुवनमोहन का जो परिचय दिया है, वह डा० सिन्हा के इस स्वरूप से बिल्कुल भिन्न है। आरंभ में उसका चित्रण एक ऐसे नवयुवक के रूप में किया गया है जो विवाह में धन को सर्वाधिक महत्त्व देता है। कल्याणी का करुण पत्र पढ़कर उसकी माता तो फिर भी निर्मला से ही विवाह करने पर राजी हो जाती है, पर पिता भालचन्द्र द्वारा इसका निर्णय उसी पर छोड़ दिए जाने पर वह अपने धन-लोलुप पिता के पक्ष में ही मत देता है। वह अपनी माता रंगीलीबाई से ढिठाईपूर्ण शब्दों में कहता है : "कहीं ऐसी जगह शादी करवाइए, कि खूब रुपए मिलें। और न सही, एक लाख का तो डौल हो। वहाँ अब क्या रखा है। वकील साहब रहे ही नहीं, बुढ़िया के पास अब क्या होगा ?"[1] इसके पश्चात् भी निर्मलाकार ने भुवनमोहन के चरित्र में किसी ऐसे विकास-सूत्र का संकेत नहीं किया है जिसके आधार पर उसके इस हृदय-परिवर्तन को विश्वसनीय तथा स्वाभाविक सिद्ध किया जा सके। भुवनमोहन या डा०सिन्हा के चरित्र की जो दो झाँकियाँ उपन्यास में हमें मिलती हैं—आरंभ में भुवनमोहन के नाम से और अन्त में डा० सिन्हा के नाम से—वे सर्वथा भिन्न हैं। लगता है भुवनमोहन और डा० सिन्हा एक नहीं दो व्यक्ति हैं। अतः हम कह सकते हैं कि भुवनमोहन या डा० सिन्हा के चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द सफल नहीं हो सके हैं। और, यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की इस असफलता का कारण आदर्शवाद के प्रति उनका अनावश्यक आग्रह है।

निर्मला की कहानी प्रेमचन्द के यथार्थवाद की और कृष्णा की कहानी उनके आदर्शवाद की द्योतक है। श्री प्रेमनाथ दर के इस मत से हम सहमत हैं कि 'निर्मला' में कृष्णा की कहानी की योजना ही संभवतः इसलिए की गई है, क्योंकि प्रेमचन्द पापी से प्रायश्चित्त करवाना चाहते थे।[2] पापी द्वारा प्रायश्चित्त करने पर प्रेमचन्द का यह आग्रह स्पष्टतः उन पर गांधीवाद के प्रभाव का द्योतक है।

'निर्मला' में प्रेमचन्द पर महात्मा गांधी के प्रभाव की सूचना एक अन्य स्थान पर भी मिलती है। वे दिखाते हैं कि कृष्णा के होने वाले पति अर्थात् डा० सिन्हा के छोटे भाई 'खद्दर के बड़े प्रेमी हैं, पीठ पर खद्दर लाद कर देहातों में बेचने जाया करते हैं और

---

१. निर्मला, पृ० २५
२. प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० २८६

[illegible] देने में भी चतुर हैं।" [illegible] गया है, किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि [illegible] तथा [illegible] का एक [illegible] है।

गांधी के अनुसार विवाह में दहेज के लेन-देन [illegible] नहीं उठना चाहिए, क्योंकि विवाह दो आत्माओं का पवित्र सम्बन्ध है न कि कोई व्यावसायिक सौदा। उनके अनुसार जब तक किसी एक विशेष जाति के भीतर-भीतर लड़के-लड़कियों में से ही वर या वधू चुने जाने का प्रतिबन्ध रहेगा तब तक [illegible] नहीं [illegible] जा सकता।[२] गांधीजी का मत था कि "जो युवक शादी के लिये दहेज की शर्त रखता है, वह अपनी तालीम को और अपने देश को बदनाम करता है और साथ ही स्त्री-जाति का अपमान करता है।"[३] [illegible] युवकों का [illegible] कर दिया जाना चाहिए।[४] गांधीजी [illegible] दहेज के प्रश्न पर युवकों को अपने माता-पिता की आज्ञा मानने से साफ इनकार कर देना चाहिए।[५]

इस सम्बन्ध में निर्मला[illegible] भी गांधीजी से सहमत हैं। वह भी मानता है कि जब तक देश का युवक वर्ग अपने कर्तव्य के प्रति सजग नहीं हो जाता तब तक दहेज का लेना और देना बंद नहीं हो सकता। भुवनमोहन के द्वारा प्रेमचन्द ने दिखाया है कि दहेज की प्रथा को जीवित रखने में जितना दोष भालचन्द्र जैसे पिताओं का है, उतना ही—बल्कि उससे भी अधिक—भुवनमोहन जैसे युवकों का भी है। भुवनमोहन यदि चाहता तो निर्मला के जीवन की इस 'ट्रेजेडी' को बचाया जा सकता था। बाद में जब सुधा को अपने पति डा० भुवनमोहन सिन्हा के इस नीच कृत्य का पता चलता है तो वह उनसे एक सीधा प्रश्न करती है—"किसका अपराध बड़ा है, वर का या वर के पिता का?" जब डा० सिन्हा सारा दोष पिता का बताकर स्वयं बचने की कोशिश करते हैं तो सुधा उन्हें आड़े हाथों लेते हुए कहती है: "यह कहो कि वर और उसका पिता दोनों अपराधी हैं;

---

१. निर्मला, पृ० १२१

२. "अिस प्रथा को मिटाना ही पड़ेगा। विवाह रुपये के खातिर मां-बाप का किया हुआ सौदा नहीं होना चाहिये। अिस प्रथा का जाति-पाति से गहरा ताल्लुक है। जब तक किसी खास जाति के ही सौ-दो सौ युवक-युवतियों के भीतर चुनाव करना पड़ेगा, तब तक अिस प्रथा का कितनी ही निन्दा की जाय वह कायम रहेगी। अगर अिस बुराई को जड़ से मिटाना है, तो लड़के-लड़कियां या अुनके मां-बाप को जाति का बंधन तोड़ना होगा। शादी की अुम्र भी बढ़ानी पड़ेगी और जरूरत हुअी, यानी योग्य वर न मिला तो लड़कियों को कुंवारी रहने का साहस करना पड़ेगा।"
—स्त्रियां और अुनकी समस्यायें : गांधीजी, पृ० ७०-७१

३. वही, पृ० ६९

४. वही, पृ० ७०

५. वही, पृ० ५८

परन्तु वर अधिक! बूढ़ा आदमी सोचता है—मुझे सारा खर्च सँभालना पड़ेगा, कन्या-पक्ष से जितना ऐंठ सकूं, उतना ही अच्छा; मगर यह वर का धर्म है कि यदि वह स्वार्थ के हाथों बिलकुल बिक नहीं गया है, तो अपने आत्मबल का परिचय दे। अगर वह ऐसा नहीं करता तो कहूंगी कि वह लोभी है और कायर भी।"[1] सुधा मानती है कि जब नया कोट बनवाने जैसी साधारण बात पर पुत्र पिता से अड़ सकता है तो कोई कारण नहीं कि विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण विषय में वह पिता के कानों तक अपनी आवाज न पहुँचा सके।[2]

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि दहेज के प्रश्न पर प्रेमचन्द भी करीब-करीब उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिस पर गांधीजी पहुँचे थे।

५. 'गबन'—

डॉ० रामरतन भटनागर आदि कतिपय आलोचकों का कहना है कि प्रेमचन्द का 'गबन' सन् १९०४ के आस-पास इंडियन प्रेस से प्रकाशित उनके 'कृष्णा' नामक उर्दू उपन्यास का ही परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण है।[3] 'कृष्णा' को 'गबन' का पूर्वरूप माना जाए अथवा नहीं—इस संबंध में निश्चित और प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'कृष्णा' अब उपलब्ध नहीं है। थोड़ी देर के लिए यदि 'कृष्णा' को 'गबन' का पूर्वरूप मान भी लिया जाए तो भी इतना तो स्पष्ट ही है कि उन दोनों में विशेष साम्य की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि वे दो विभिन्न युगों की रचनाएँ हैं। १९०४ से १९३१ तक प्रेमचन्द ने एक लंबी विकास-यात्रा तय की है। स्वभावतः इस अर्से में प्रेमचन्द की कला और उनके विचारों ने एक नया रंग-रूप, एक नई सामाजिक चेतना प्राप्त की है। 'गबन' के पाठकों को प्रेमचन्द की इस विकसित सामाजिक चेतना का पूरा आभास हो जाता है। यही कारण है कि 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'निर्मला' आदि प्रेमचन्द के दूसरे तथाकथित सामाजिक उपन्यासों की अपेक्षा 'गबन' का मूल स्वर कहीं अधिक प्रगतिशील और यथार्थवादी है। प्रेमचन्द के 'गबन' उपन्यास की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें उन्होंने बालाजी ('वरदान'), अमृतराय ('प्रतिज्ञा'), विट्ठलदास ('सेवासदन'), प्रेमशंकर ('प्रेमाश्रम'), सूरदास ('रंगभूमि'), चक्रधर ('कायाकल्प') आदि की परंपरा में किसी आदर्श चरित्र की अवतारणा नहीं की है। प्रेमचन्द के मानस-जगत् में उनके संस्कारजात आदर्श तथा अनुभूतिजात यथार्थ के मध्य लगभग अंत तक एक दुर्दमनीय संघर्ष चलता रहा है। जीवन का कठोर यथार्थ उन्हें बार-बार अपनी ओर खींचता था, किन्तु हर बार उनका आदर्श ही अधिक शक्तिशाली सिद्ध होता था। प्रस्तुत उपन्यास प्रेमचन्द के अन्तर में अविरत रूप से चलने वाले आदर्श और यथार्थ के इस संघर्ष में यथार्थ की एक और विजय का द्योतक है। प्रेमचन्द के अधिकतर

१. निर्मला, पृ० १०७
२. निर्मला, पृ० १०७
३. कलाकार प्रेमचन्द : डॉ० रामरतन भटनागर, पृ० १७५

उपन्यासों का अन्त या तो प्रेमाश्रम, सेवासदन, विधवाश्रम आदि की स्थापना में होता है या उपन्यास के मुख्य पात्र के साधु होकर समाज-सेवा व्रत धारण करने के साथ। स्पष्ट है कि यह प्रेमचन्द के आदर्शवाद की सीमा है। हालाँकि गबनकार ने किसी विशिष्ट आश्रम की स्थापना नहीं की है, लेकिन नगर के कोलाहलपूर्ण एवं कृत्रिम वातावरण से दूर दयानाथ और रामेश्वरी, देवीदीन और जग्गो, रमानाथ और जालपा जिस सामूहिक कर्मयोगी-जीवन का सूत्रपात करते हैं, वह भी वस्तुतः आश्रम-स्थापना का ही एक रूप है। प्रेमचन्द जीवन भर गाँवों के सरल, संतोपमय और सादे जीवन का स्वप्न देखते रहे। 'गबन' का यह अंत प्रेमचन्द के उसी स्वप्न की प्रतिच्छाया है। इसमें संदेह नहीं कि 'गबन' के इस अंतिम अध्याय का प्रेमचन्द की मनोरचना को समझने में अपना महत्त्व है, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उपन्यास के मूल कथा-प्रवाह में उसका महत्त्व बिल्कुल नगण्य ही है। वह अनावश्यक तो है ही, ऊपर से जोड़ा हुआ भी प्रतीत होता है। अतः अंतिम विश्लेपण में 'गबन' का मूल स्वर अत्यन्त स्पष्ट रूप से यथार्थवादी ही ठहरता है।

'सेवासदन', 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला' आदि अपने अन्य सामाजिक उपन्यासों की भाँति 'गबन' में प्रेमचन्द ने किसी विशिष्ट सामाजिक कुरीति का विरोध मात्र ही नहीं किया है। गबनकार पूरे मध्यवर्गीय समाज की दुर्वलताओं, विडम्बनाओं और 'हिपोक्रेसी' के उद्‌घाटन की महती आकांक्षा लेकर चला है; किसी सामाजिक कुरीति-विशेप के सुधार मात्र की इच्छा लेकर ही नहीं। यही कारण है कि जहाँ 'सेवासदन', 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला' आदि में प्रेमचन्द के समाज-सुधारक रूप का प्राधान्य है; वहाँ 'गबन' में उनके नश्तर लगाने वाले व्यंग्यकार का रूप प्रमुख है। यूँ तो प्रेमचन्द की सभी रचनाओं में व्यंग्य का नश्तर देखा जा सकता है, पर 'गबन' का तो प्राण ही व्यंग्य है। और, यही कारण है कि प्रेमचन्द ने 'गबन' की समस्या को गहनों की समस्या तक ही सीमित नहीं रखा है। गहनों की समस्या के माध्यम से प्रेमचन्द ने मध्यवर्गीय समाज के खोखले, झूठे, आडम्बर-युक्त और आस्था-रहित जीवन का एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में मध्यवर्ग की स्थिति बड़ी ही विचित्र एवं निराधार है। आर्थिक दृष्टि से यह निम्नवर्ग के अन्तर्गत आता है, किन्तु फिर भी उच्चवर्ग ही उसके जीवन का स्वप्न होता है। स्वयं शोपित होते हुए भी वह अपने आप को उच्चवर्ग के तुल्य सिद्ध करने की मिथ्या प्रवंचना में आजीवन फँसा रहता है। उच्चवर्ग की लूट की जूठन के कुछ टुकड़े पाकर वह अपने को धन्य मानने और निम्नवर्ग को हिकारत की निगाह से देखने लगता है।[1] इस वर्ग के व्यक्तियों में शारीरिक श्रम के प्रति एक प्रकार

१. "It is necessarily a class whose whole existence is based on a lie. Functionally it is exploited, but because it is allowed to share in some of the crumbs of exploitation that fall from the rich bour-

का जन्मजात हेय दृष्टिकोण होता है। स्वभावतः अपनी आजीविका के लिए यह वर्ग बाबूगिरी को ही पसंद करता है। कम और सीमित आय, परन्तु अपने आपको उच्च-वर्ग के तुल्य सिद्ध करने और बड़े आदमियों के साथ उठने-बैठने की असीमित लालसा; फलतः दिखावे का ढोंग तथा अपनी आर्थिक स्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की चाह; फलतः दस्तूरी, रिश्वत, छल-कपट तथा ऋण और फलतः अंत में गबन—इस वर्ग के व्यक्तियों के जीवन-क्रम की यह अत्यन्त स्वाभाविक परिणति है।

'गबन' रमानाथ नामक एक ऐसे ही 'टिपिकल' मध्यवर्गीय नवयुवक के जीवन की इस 'ट्रेजेडी' को प्रस्तुत करता है। रमानाथ अपने वर्ग की समस्त बुराइयों और अच्छाइयों का जीता-जागता प्रतिनिधि है। उसके चरित्र में पूरा मध्यवर्ग साकार हो उठा है। वह एक अस्थिरचित्त, व्यक्तिवादी, कायर, दिखावे पर जान देने वाला, अपने ऐश-आराम के आगे दूसरों की जान की भी परवाह न करने वाला और अपने साधारण स्वार्थ के लिए भी जघन्य-से-जघन्य कार्य करने में न हिचकिचाने वाला व्यक्ति है। वह अपने माता-पिता, पत्नी, मित्रों इत्यादि सभी को धोखा देता है, अपनी आर्थिक स्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर बताता है। परिस्थिति का सामना करने की शक्ति और क्षमता उसमें नहीं है। वह सदा जीवन की गर्मी, जीवन के ताप से भागता फिरता है, मानों कोई मोम का पुतला हो। स्वतंत्र निर्णय-शक्ति उसमें बिल्कुल नहीं है।

इसके विपरीत जालपा के चरित्र में वे सब गुण प्रचुर मात्रा में हैं, जिनका रमा के चरित्र में एकदम अभाव है। जालपा के चरित्र में कोई मौलिक दुर्गुण, दुर्बलता या

---

geois table, it identifies itself with the bourgeois system on which, whether as bank manager, small shopkeeper or upper household servant, it seems to depend. It has only one value in life, that of bettering itself, of getting a step nearer the good bourgeois things so far above it. It has only one horror, that of falling from respectability into the proletarian abyss which, because it is so near, seems so much dangerous. It is rootless, individualist, lonely, and perpetually facing, with its hackles up, an antagonistic world. It can never know the security of the rich bourgeoisie or the companionship of the worker. It can never rest on anything, for it is always struggling to better itself. It is the most deluded class, for it has not the cynicism of the worker with practical proof of bourgeois fictions, × × ×. It has no traditions of its own and it does not adopt those of the workers, which it hates, but those of the bourgeois, which are without virtue for it, since it did not help to create them."

—Studies in a Dying Culture : Christopher Caudwell, P. 76-77

असंगति नहीं है। मूलतः वह एक सद्वृत्तियों वाली स्त्री है जो अवसर आने पर बड़े-से-बड़ा त्याग करने की सामर्थ्य और शक्ति रखती है। उसके जीवन में विश्वास, निष्ठा, त्याग और सेवा की भावना अपने पति से कहीं अधिक है। उसमें जहाँ भूल करने की कमजोरी है, वहाँ उसे सुधारने के लिए अपेक्षित आत्म-शक्ति और नैतिक साहस भी है। अपनी माँ के चन्द्रहार को लौटाकर वह सिद्ध कर देती है कि उसे अपना आत्म-सम्मान गहनों से अधिक प्रिय है। जालपा को इस बात की अत्यधिक कचोट है कि उसका प्राणप्रिय पति उसे केवल रमणी ही समझता है, उस पर पूरा विश्वास नहीं करता, उसे अपने सुख-दुःख की साथिन नहीं समझता। वह बार-बार रमा से कहती है : "मैं वेश्या नहीं, कि तुम्हें नोच-खसोटकर अपना रास्ता लूं। मुझे तुम्हारे साथ जीना और मरना है। अगर मुझे सारी उम्र बेगहनों के रहना पड़े, तो भी मैं कर्ज लेने को न कहूंगी।"[१] "मैं क्या जानती थी कि तुम मुझसे यह छल कर रहे हो; कोई वेश्या तो थी नहीं, कि तुम्हें नोच-खसोटकर अपना घर भरना मेरा काम होता। मैं तो भले-बुरे दोनों ही की साथिन हूं।"[२] "मुझसे प्रेम होता तो मुझपर विश्वास भी होता। बिना विश्वास के प्रेम हो ही कैसे सकता है? जिससे तुम अपनी बुरी-से-बुरी बात न कह सको, उससे तुम प्रेम नहीं कर सकते। हाँ, उसके साथ विहार कर सकते हो, उसी तरह जैसे कोई वेश्या के पास जाता है। वेश्या के पास लोग आनन्द उठाने ही जाते हैं, कोई उससे मन की बात कहने नहीं जाता। हमारी भी वही दशा है। बोलो, है या नहीं? आँखें क्यों छिपाते हो?"[३]

अपने स्त्रैण पति की भाँति जालपा कठिनाइयों से भागती नहीं, उनका सामना करती है, उनसे जूझती है। रमानाथ के घर से भाग जाने पर वह साधारण स्त्रियों की भाँति रो-धोकर अपने भाग्य पर संतोष नहीं कर लेती। उसके पिता जब उसे लिवाने आते हैं तो वह मैके जाने से इंकार कर देती है, क्योंकि वह अपने दुर्भाग्य से पलायन करना नहीं चाहती।[४] सास-ससुर का आश्रय छोड़कर कलकत्ते चले जाने पर उसके ये गुण और भी स्पष्टता से उभरकर सामने आते हैं। उसमें इतना आत्मबल है कि वह एक बार जो निश्चय कर लेती है उसे पूरा करने से कोई भी शक्ति उसे नहीं रोक सकती। कलकत्ते पहुँचकर वह जिस साहस के साथ अपने पति द्वारा झूठी गवाही दिए जाने का विरोध करती है, वह हिंदी कथा-साहित्य में आज भी विरल है।

लेकिन प्रेमचन्द ने जालपा के चरित्र की केवल अच्छाइयां-ही-अच्छाइयां चित्रित नहीं की हैं, उसकी दुर्बलताओं की ओर संकेत करना भी नहीं भूले हैं। प्रेमचन्द दिखाते

---

१. गबन, पृ० ६१–६२
२. गबन, पृ० १४७
३. गबन, पृ० १६१
४. गबन, पृ० १८२–८३

हैं कि एक हद तक जालपा में भी मध्यवर्गीय समाज की विडम्बनाएं वर्त्तमान हैं। पतिदेव द्वारा चन्द्रहार और शीशफूल का उपहार पाकर उसकी पतिसेवा जागृत होती है। गबन-कार के शब्दों में "उस दिन से जालपा के पति-स्नेह में सेवा-भाव का उदय हुआ। वह स्नान करने जाता तो उसे अपनी धोती चुनी हुई मिलती। आले पर तेल और साबुन भी रखा हुआ पाता। जब दफ्तर जाने लगता तो जालपा उसके कपड़े लाकर सामने रख देती। पहले पान मांगने पर मिलते थे, अब जबरदस्ती खिलाये जाते थे। जालपा उसका रुख देखा करती। उसे कुछ कहने की जरूरत न थी। यहाँ तक कि वह भोजन करने बैठता तो वह पंखा झला करती। पहले वह अनिच्छा से भोजन बनाने जाती थी और उस पर भी बेगार-सी टालती थी। अब बड़े प्रेम से रसोई में जाती। चीजें भी वही बनती थीं, पर उनका स्वाद बढ़ गया था।"[1] मध्यवर्गीय समाज पर प्रेमचन्द का यह बहुत ही तीखा और अर्थपूर्ण व्यंग्य है। यहाँ पर पत्नी का प्रेम भी बिना दाम चुकाए नहीं मिलता। गहने होने पर ही पत्नी का प्रेम मिल सकता है—गहने चाहे कर्ज लेकर लाए जाएँ अथवा गबन करके!

रमानाथ के घर छोड़कर चले जाने के बाद जालपा के चरित्र में जो महान् गुणात्मक परिवर्तन आता है, उसके संबंध में हिंदी के कतिपय आलोचकों का मत है कि वह सर्वथा अस्वाभाविक तथा आकस्मिक है। उदाहरण के लिए श्री हंसराज 'रहबर' का यही मत है।[2] इसमें संदेह नहीं कि जालपा का पिता जमींदार का मुख्तार है, वह सामन्ती वातावरण में बड़ी हुई है, अधिक पढ़ी-लिखी भी नहीं है तथा अन्य स्त्रियों की ही भाँति वह भी दिखावे और आभूषणों की भूखी है। पर इसके साथ ही यह भी सच है कि वह एक आत्माभिमानिनी लड़की है, उसमें गलती करके स्वीकार करने का नैतिक साहस और आत्मबल है (तभी तो वह सहेलियों के नाम अपने पत्रों में अपने पति की निंदा और दुर्भाग्य का रोना रोकर फौरन बाद ही रमानाथ से सच्ची

---

१. गबन, पृ० ७६

२. "जालपा का चरित्र प्रेमचन्द के मन के अनुसार आदर्श महिला का चरित्र हो सकता है; लेकिन स्वाभाविक नहीं है। उसका पिता जमींदार का मुख्तार है। वह सामन्ती वातावरण में पली हुई लड़की है। दिखावे और आभूषणों की भूखी है। अधिक पढ़ी-लिखी भी नहीं और अनुभव से भी अधिक सामाजिक-ज्ञान नहीं रखती। फिर उसका एकदम रमानाथ की खोज में कलकत्ता जाना, क्रांतिकारियों का पक्ष लेकर पति से घृणा करना उसके लिये असंभव-सा दीख पड़ता है। कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव को अकस्मात् नहीं बदल सकता। जन्म और वातावरण के संस्कारों को एकदम छोड़ देना बहुत कठिन होता है। उसके लिये बहुत देर तक विभिन्न परिस्थितियों में रहना पड़ता है और नई विचारधारा का अनुकरण करना पड़ता है। मनुष्य का बदलना इतना सहज नहीं है जितना जालपा के चरित्र में दिखाया गया है।"

—प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व : हंसराज 'रहबर', पृ० २४८

बात कहने तथा क्षमा मांगने में समर्थ हो पाती है।'), भलाई-बुराई को परखने की शक्ति है, कष्टों को सहने और उनका सामना करने का माद्दा है तथा कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी मानसिक सन्तुलन बनाए रखने की क्षमता है। निस्सन्देह जालपा को गहनों से प्रेम है और अपनी हैसियत से बढ़-चढ़कर दिखाने की मन मे लालसा है, पर इसमें दोष उसका नहीं उसके पति का है। रमा ने कभी उसे अपने घर की वास्तविक स्थिति बताई ही नहीं। उल्टे हमेशा उसके सामने घर की सम्पन्नता का झूठा चित्र खींचा।[2] जैसे ही उसे वास्तविक स्थिति का पता चलता है, वह अपने आभूषणो को बेच देती है और मखमली स्लीपर, रेशमी मोजे, तरह-तरह की बेलें, फीते, पिन, कंघियां, आइने आदि दूसरी अनगिनत शौक शृंगार की चीजों को गंगा मे विसर्जित कर देती है।[3] अस्तु,

उपर्युक्त विवेचन से यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि जालपा के चरित्र मे होने वाला यह परिवर्तन या विकास न तो आकस्मिक है और न अस्वाभाविक ही, क्योंकि इसके बीज उसके चरित्र में प्रारम्भ से ही विद्यमान हैं।

स्त्रियों की आभूषणप्रियता के लिए अक्सर उन्हें भला-बुरा कहा जाता है, पर हम यह नही सोचते कि उनकी इस आभूषणप्रियता का कारण क्या है और उसका दायित्व किस पर है? स्पष्ट है कि स्त्रियों के आभूषण-प्रेम का दायित्व उस सामन्ती समाज-व्यवस्था पर है जिसमें स्त्री के रमणी रूप को ही मुख्य समझा जाता है। जिस समाज-व्यवस्था मे स्त्री के लिए घर को छोड़कर जीवन के अन्य सभी क्षेत्र निषिद्ध समझे जाते हों, उसमें यदि वह आभूषणों से इतना प्रेम करे तो आश्चर्य ही क्या? अपने को सँवारने-सजाने की प्रवृत्ति केवल स्त्रियों में ही हो—ऐसी बात नहीं है।

---

१. गबन, पृ० ७०–७१

२. "रमानाथ ने जवानों के स्वभाव के अनुसार जालपा से खूब डींग उड़ाई थी। खूब बढ़-बढ़कर बातें की थीं। जमींदारी है, उससे कई हजार का नफा है। बैंक में रुपये हैं, उनका सूद आता है।"

—गबन, पृ० २२

× × ×

"घर का किराया पांच रुपया था। रमानाथ ने पन्द्रह बतलाये थे, लड़कों की शिक्षा का खर्च मुश्किल से दस रुपये था, रमानाथ ने चालीस बतलाये थे।"

—गबन, पृ० २४–२५

× × ×

"रमा को बड़ी-बड़ी बातें करने का फिर अवसर मिला। वह खुश था कि इतने दिनों के बाद आज उसे प्रसन्न करने का मौका मिला। बोला—प्रिये, तुम्हारा खयाल बहुत ठीक है। जरूर यही बात है। नहीं तो दो-तीन हजार उनके लिए क्या बड़ी बात थी? पचासों हजार बैंक में जमा हैं, दफ्तर तो केवल दिल बहलाने जाते हैं।"

—गबन, पृ० ४०

३. गबन, पृ० १९४

पुरुष भी इस प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त नहीं कहा जा सकता। हम यह स्वीकार करेंगे कि आत्म-प्रदर्शन एक सहज मनोवृत्ति है, जो किसी-न-किसी रूप में तथा किसी-न-किसी परिमाण में प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है—स्त्री में भी और पुरुष में भी। पर क्योंकि स्त्रियों की तरह पुरुष का जीवन घर तक ही सीमित नहीं होता तथा जीवन के अन्यान्य कार्यक्षेत्र भी उसके लिए खुले होते हैं, अतः उसे अपने आप को इस प्रवृत्ति तक ही केन्द्रित रखने का न तो अवकाश होता है और न आवश्यकता ही! लेकिन स्त्री के लिए वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में पुरुष को रिझाने, उसके लिए बच्चे पैदा करने और उसके घर को सँभालने के इलावा जीवन के अन्य सभी कार्यक्षेत्रों के दरवाज़े बंद हैं। निष्कर्ष यह कि स्त्रियों की आभूषणप्रियता का मूल कारण वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में निहित है। अतः उसे अन्यत्र नहीं खोजा जाना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'गबन' के लेखक का भी यही निष्कर्ष है। उपन्यास के आरम्भ में ही वह इस प्रश्न का उत्तर दे देता है कि जालपा को गहनों से इतना प्रेम क्यों है? जालपा जब तीन वर्ष की अबोध बालिका थी, उसके लिए सोने के चूड़े बनवाए गए थे। दादी उसे गोद में लेकर खिलाती तो गहनों की ही चर्चा करती। दादी उसे यह कहकर बहलाया करती थी की तेरा दूल्हा तेरे लिए बड़े सुंदर गहने लाएगा। जालपा जब कुछ और बड़ी हुई तो गुड़ियों के ब्याह रचाने लगी। उसकी इन बाल्य-क्रीड़ाओं में भी स्वभावतः गहनों का प्रवेश हो गया था। उसकी गुड़िया गहनों के लिए रूठती तो गुड्डा बेचारा कहीं-न-कहीं से गहने लाकर उसे प्रसन्न करता।[1] कुछ और बड़ी हुई तो बड़ी-बूढ़ियों में बैठकर गहनों की बातें सुनने लगी। "महिलाओं के उस छोटे-से संसार में इसके सिवा और कोई चर्चा ही नहीं थी। किसने कौन-कौन गहने बनवाये, कितने दाम लगे, ठोस हैं या पोले, जड़ाऊ हैं या सादे, किस लड़की के विवाह में कितने गहने आये—इन्हीं महत्त्वपूर्ण विषयों पर नित्य आलोचना-प्रत्यालोचना, टीका-टिप्पणी होती रहती थी।"[2] इस आभूषणमय वातावरण में जिस बालिका का लालन-पालन हुआ हो, वह यदि गहनों पर जान दे तो दोष किसका है?—उस बालिका का या उस वातावरण का? उत्तर दो नहीं हो सकते!

स्पष्ट है कि स्त्रियों के आभूषण-प्रेम की समस्या वर्त्तमान दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था में स्त्री की पारिवारिक एवं सामाजिक पराधीनता की समस्या के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। अतएव एक स्वतंत्र एवं मौलिक सामाजिक समस्या के रूप में उसे ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए।

महात्मा गांधी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सादगी के बहुत बड़े हामी थे। स्वभावतः वे स्त्रियों द्वारा आभूषणों के प्रयोग के तीव्र विरोधी थे। वे मानते थे कि जिस देश के

---

१. गबन, पृ० ३४–३५

२. गबन, पृ० ३५

अधिकांश निवासी आधे भूखे रहते हों, उस देश में गहनों का प्रयोग एक अक्षम्य अपराध है।[१] गांधीजी ने नैतिक ही नहीं सामाजिक दृष्टि से भी गहनों के प्रयोग का विरोध किया है। आभूषणों को वे ठीक उसी प्रकार नारी की सामाजिक पराधीनता का प्रतीक मानते थे जिस प्रकार हथकड़ी और बेड़ियाँ एक कैदी की पराधीनता की प्रतीक होती हैं।[२] वे कहा करते थे कि "स्त्री को यह समझना छोड़ देना चाहिये कि वह पुरुष के भोग की चीज है। अगर वह पुरुष की बराबर की साझीदार बनना चाहती है तो अुसे पुरुषों के लिये—पति के लिये भी—अपने को सजाने से अिनकार—कर देना चाहिये।"[३] अर्थात् गांधीजी के अनुसार स्त्री जब तक पुरुष को रिझाने के लिए अपने को वस्त्रालंकारों से सजाती-सँवारती रहेगी तब तक उसे समाज में पुरुष के बराबर का दर्जा हासिल नहीं हो सकता। उनका मत है कि स्त्री पुरुष का खिलौना बनने के लिए ही पैदा नहीं हुई है। पुरुष के समान ही उसे भी 'दुनिया के मामलों में अपना हिस्सा अदा करना है।'[४] इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी भी गहनों की समस्या को स्त्रियों की सामाजिक पराधीनता की व्यापक समस्या के साथ जोड़कर देखते थे।

'गबन' के बड़े बाबू रमेश और देवीदीन गहनों के प्रयोग के संबंध में प्रेमचन्द के विचारों के प्रतिनिधि हैं। भारत जैसे दरिद्र देश में गहनों के इतने व्यापक प्रचलन पर रमेश का आश्चर्य स्वयं गबनकार का ही आश्चर्य है। भारतीय समाज के शरीर में इस कुप्रथा के कीटाणु इतनी गहराई तक प्रविष्ट हो चुके हैं कि जिन लोगों के भोजन का भी ठिकाना नहीं है, वे भी गहनों के पीछे प्राण देते हैं।[५] "वह धन जो भोजन में खर्च होना चाहिए, बाल-बच्चों का पेट काटकर गहनों की भेंट कर दिया जाता है। बच्चों को दूध न मिले, न सही। घी की गंध तक उनकी नाक में न पहुँचे, न सही। मेवों और फलों के दर्शन उन्हें न हों, कोई परवाह नहीं। पर देवीजी गहने जरूर पहनेंगी और स्वामीजी गहने जरूर बनवायेंगे। दस-दस, बीस-बीस रुपये पाने वाले क्लर्कों को देखता हूं, जो सड़ी हुई कोठरियों में पशुओं की भांति जीवन काटते हैं; जिन्हें सबेरे का जल-पान तक मयस्सर नहीं होता, उन पर भी गहनों की सनक सवार रहती है।"[६] रमेश

---

१. Women and Social Injustice, P. 93

२. स्त्रियां और अुनकी समस्यायें, पृ० २४

३. वही, पृ० २२

४. "आप दुनिया के मामलों में अपना हिस्सा अदा करना चाहती हों, तो आपको पुरुषों को रिझाने के खातिर अपने को सजाने से अिनकार कर देना चाहिये। मैं स्त्री का जन्म पाअूं तो मैं पुरुष की अिस झूठी धारणा के खिलाफ बगावत कर दूं कि स्त्री अुसका खिलौना बनने को पैदा हुअी है।"

—स्त्रियां और अुनकी समस्यायें, पृ० २२

५. गबन, पृ० ६५

६. गबन, पृ० ६५–६६

की भाँति ही देवीदीन भी गहनों के प्रयोग का तीव्र आलोचक है। गहनों के पीछे वह तीन वर्ष की सजा भी काट चुका है। उसका विश्वास है कि आभूषण-प्रेम ही गबन के अधिकांश मुकदमों का कारण होता है।[1] संक्षेप में गबनकार के अनुसार इस प्रथा के कारण 'हमारा कितना आत्मिक, नैतिक, दैहिक, आर्थिक और धार्मिक पतन हो रहा है, इसका अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते!'[2]

'गबन' में प्रेमचन्द की राजनीतिक चेतना का भी सम्यक् प्रस्फुटन मिलता है। प्रस्तुत उपन्यास के स्पष्टतः दो भाग हैं जिन्हें हम पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध अथवा क्रमशः प्रयाग और कलकत्ता की कथाएँ कह सकते हैं। श्री नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार इन कथाओं को एक ही उपन्यास में न जोड़ कर यदि उनके आधार पर दो अलग-अलग उपन्यासों (एक शुद्ध पारिवारिक और दूसरा शुद्ध राजनीतिक) की रचना की जाती तो ज्यादा अच्छा रहता। उनके मतानुसार 'इन दोनों को एक में मिलाकर प्रेमचन्दजी ने दोनों का प्रभाव घटा दिया है।'[3] वाजपेयीजी के मतानुसार दो कथाओं को एक में मिलाने का कारण यह है कि "उन्होंने देखा, कहानी बहुत शीघ्र समाप्त हो रही है। कदाचित् इसीलिए कलकत्ते का सारा प्रकरण जोड़कर उसे विस्तार दिया है।"[4] कहना न होगा कि आचार्य वाजपेयी का यह मन्तव्य सर्वथा असंगत एवं भ्रामक है। यह द्योतित करता है कि आलोचक ने प्रेमचन्द-साहित्य की आत्मा को ही नहीं समझा है। केवल कहानी कहना प्रेमचन्द का कभी उद्देश्य नहीं रहा। 'वरदान' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक प्रेमचन्द के किसी भी उपन्यास के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने केवल कहानी को विस्तार प्रदान करने के लिए ही किसी विशिष्ट घटना, प्रसंग या चरित्र की उद्भावना की है। प्रेमचन्द-साहित्य की अन्तरात्मा से परिचित पाठक जानता है कि वहाँ पर कोई भी ऐसा चरित्र, प्रसंग या घटना नहीं है, जिसका कुछ-न-कुछ सामाजिक उद्देश्य या महत्त्व न हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'गबन' भी इस सामान्य तथ्य का अपवाद नहीं है। कलकत्ते वाला प्रकरण केवल कहानी को जल्दी समाप्त होने से बचाने के लिए ही नहीं जोड़ा गया है, उपन्यास के मूल प्रतिपाद्य—मध्यवर्गीय समाज की 'हिपोक्रैसी' का उद्घाटन—के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। इस प्रकरण से सिद्ध होता है कि प्रेमचन्द अपनी कथा को केवल गहनों की 'ट्रेजेडी' ही नहीं बनाना चाहते थे। प्रेमचन्द कतिपय आदर्शवादी विचारकों की भाँति समाजनीति और राजनीति को अलग-अलग खानों में रखकर देखने के समर्थक नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने 'गबन' की कहानी को प्रयाग की घटनाओं तक ही सीमित नहीं रखा है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उपन्यास की मूल समस्या

---

१. गबन, पृ० २०८—२०९
२. गबन, पृ० ९९
३. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० १२४
४. वही, पृ० १२४

न आना ही श्रेयस्कर है।[1]

'गबन' का लेखक धन और धर्म के अपवित्र गठबंधन (Unholy alliance) के रहस्य को भी भली भांति हृदयंगम कर चुका है। वह जानता है कि आज धर्म का उपयोग शोषण का आवरण और कवच बनना मात्र ही रह गया है। 'गबन' के सेठ करोड़ीमल उन लक्ष्मी-पुत्रों में से हैं जो मजदूरों को हंटरों से पिटवाकर और घी में चरबी मिलाकर भी त्रिकाल संध्यावादन, भजन-पूजन तथा दान-पुण्य करना नहीं भूलते।[2] धर्म ने सामन्तवाद के जमाने में ही मालिक श्रेणी का साथ नहीं दिया, आज भी वह उसका दाहिना हाथ बना हुआ है।

प्रेमचन्द की रचनाओं में कहीं-कहीं गांधीवाद के सिद्धान्त-वाक्यों का अविकल अनुवाद मिलता है। उदाहरणार्थ 'गबन' से निम्नोक्त वाक्य उपस्थित किया जा सकता है: "जिस आदमी में हत्या करने की शक्ति हो, उसमें हत्या न करने की शक्ति का न होना अचंभे की बात है। जिसमें दौड़ने की शक्ति हो, उसमें खड़े रहने की शक्ति न हो, उसे कौन मानेगा?"[3] गांधी के जीवन-दर्शन का यह मूल सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति बुराई कर सकता है वह उतनी ही सरलता और सहजता के साथ अच्छाई भी कर सकता है। हिंसा, द्वेष, शत्रुता, असत्य आदि विभाजक वृत्तियाँ मनुष्य की सहज-वृत्तियाँ नहीं हैं। अतः उन्हें मनुष्य का स्वाभाविक धर्म नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर सत्य, प्रेम, अहिंसा आदि मनुष्य की सहज अतएव स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। गांधीजी मानते थे कि यदि बड़ी-बड़ी सेनाओं को सामूहिक रक्तपात जैसी सर्वथा अस्वाभाविक वृत्ति के लिए शिक्षित किया जा सकता है तो कोई कारण नहीं कि किसी व्यक्ति, वर्ग, जाति, समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि समग्र विश्व को प्रेम, भाईचारा, अहिंसा जैसी सहज मानवीय वृत्तियों की दिशा में प्रेरित नहीं किया जा सके। गांधीजी का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन उनके इसी विश्वास पर आधृत है। हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त के पीछे भी उनका यही विश्वास है।

'गबन' में हमें गांधीजी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त की मान्यता भी मिलती है। जोहरा नामक वेश्या, जो रमा को फँसाए रखने के लिए पुलिस द्वारा भेजी जाती है, जालपा के निस्स्वार्थ त्याग, निश्छल सेवा-भाव और आत्मपश्चात्ताप को देखकर अपने विगत पापमय जीवन का अंत करके एक सर्वथा नए जीवन का सूत्रपात करती है। शुद्ध

---

१. "रूपमणि ने आवेश से कहा—अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। × × × कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जायें। मैं समाज की ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूं, जहां कम-से-कम विषमता को आश्रय मिल सके।"

—समरयात्रा, पृ० ११०

२. गबन, पृ० २०५

३. गबन, पृ० ३२४

वस्तुपरक दृष्टि से देखने पर हालांकि जोहरा का यह हृदय-परिवर्तन सर्वथा अस्वाभाविक तथा आकस्मिक ही कहा जाएगा, पर गांधीवादी जीवन-दर्शन स्वाभाविकता और कारण-कार्य की शृङ्खला का इतना कायल नहीं है जितना कि चमत्कारों (Miracles) का। सभी आदर्शवादी विचारधाराओं की भाँति गांधीवाद में शुद्ध वस्तुपरक (Objective) दृष्टि का अभाव है। जालपा के सेवामय आत्मबलिदान और निस्स्वार्थ त्याग से प्रभावित-प्रेरित होकर अंत में रमानाथ द्वारा अपना बयान बदलने के लिए राजी हो जाना भी हृदय-परिवर्तन की कोटि में ही आएगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द के 'गबन' को केवल सामाजिक रचना ही नहीं कहा जा सकता, गहनों की 'ट्रेजेडी' मात्र ही नहीं माना जा सकता। यद्यपि मध्यवर्गीय दिखावे की समस्या 'गबन' का केन्द्रीय प्रश्न है, पर फिर भी वह राष्ट्रीय स्वाधीनता की समस्या की सीमाओं को छूता हुआ चलता है। इसीलिए उसमें एक व्यापकता और विस्तृति आ गई है, जो तथाकथित सामाजिक कृतियों में साधारणतः नहीं मिलती। जीवन को व्यापक दृष्टि से देखने के अनभ्यस्त आलोचक प्रेमचन्द की इस व्यापकता और विस्तृति के लिए उनकी आलोचना करते हैं, पर यह निर्विवाद है कि आज भी हिंदी के कथाकारों में जीवन को अपने सर्वांगीण रूप में ग्रहण करने की इस क्षमता का सर्वथा अभाव है। इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचन्द की इस विशेषता को अपने दृष्टि-पथ से ओझल करके हम प्रेमचन्द-साहित्य का सही व्याख्यान-विश्लेषण तथा उसके महत्त्व का आकलन नहीं कर सकते।

६. 'कर्मभूमि'

'कर्मभूमि' का प्रणयन गांधीजी के सविनय अवज्ञा-आंदोलन और उत्तरप्रदेश के किसानों के लगानबंदी-आंदोलन की पृष्ठभूमि पर हुआ है। सन् '२० के सत्याग्रह-आंदोलन को—जब कि वह अपने चरमोत्कर्ष पर था—बीच में ही स्थगित कर दिए जाने के कारण देश में एक प्रकार की राजनीतिक निराशा और निष्क्रियता की लहर व्याप्त हो गई थी। इस बीच के व्यवधान के पश्चात् मार्च सन् '३० में गांधीजी के आह्वान पर राष्ट्र ने एक बार फिर प्राणों की बाजी लगाई। भविष्यदृष्टा प्रेमचन्द सन् '२५ में ही 'रंगभूमि' में इस आंदोलन के संबंध में महत्त्वपूर्ण संकेत कर चुके थे।[1] कहना न होगा कि यही राष्ट्रीय आंदोलन प्रस्तुत उपन्यास का प्रेरणा-स्रोत है, आधार है। 'कर्मभूमि' में भारत के इस स्वाधीनता-संग्राम और तज्जन्य जन-जागृति के व्यापक प्रसार का अंकन किया गया है। इस आंदोलन में हिन्दू और मुसलमान, नागरिक और किसान, विद्यार्थी और प्रोफेसर, अछूत और सवर्ण, युवक और वृद्ध, माताएँ और बहिनें, दूकानदार और मजदूर—सभी

---

१. "फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे, और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।"

—रंगभूमि, भाग २ पृ० ४०६

सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। सच्चे अर्थों में जिस विशाल राष्ट्रीय स्तर पर यह आंदोलन लड़ा गया था, 'कर्मभूमि' उसकी उस व्यापकता और गहराई का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है।

'कर्मभूमि' उपन्यास और 'समरयात्रा' कहानी-संग्रह की कहानियों का रचना-काल लगभग एक ही—सन् १९२९-'३२ है। प्रेमचन्द की उक्त दोनों ही रचनाओं में आधुनिक भारत के इन तूफानी वर्षों की विभिन्न हलचलों की प्रतिध्वनि अपनी पूरी व्यापकता, गहराई और गरिमा के साथ सुनी जा सकती है। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के आयाम का इन वर्षों में अभूतपूर्व विस्तार तथा विकास हुआ और उसने नई मंजिलें तय कीं। इस आंदोलन की बागडोर उच्च मध्यवर्गीय और उच्चवर्गीय नेताओं के हाथ में होते हुए भी देश की कोटि-कोटि जनता ने एक नई आशा, नए उत्साह और विश्वास के साथ उसमें भाग लिया। प्रेमचन्द ने इस आंदोलन को दूर खड़े होकर नहीं देखा था, स्वयं उसमें सक्रिय भाग लिया था। हम पीछे देख चुके हैं कि इस आंदोलन में प्रेमचन्द जेल जाने के लिए कितने उत्सुक और बेचैन थे! पर उनकी पत्नी शिवरानी देवी उनसे पूर्व जेल चली गई और इस प्रकार प्रेमचन्द की साध मन में ही रह गई। श्री हंसराज 'रहबर' का कहना है कि प्रेमचन्द अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण ही 'सन् '३० के सत्याग्रह-आंदोलन में बहुत चाहने के बावजूद जेल नहीं जा सके'।[1] यहाँ हम इस ऊहा-पोह में नहीं पड़ना चाहते कि प्रेमचन्द के जेल नहीं जा पाने का क्या कारण था, पर हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि जेल जाने या न जाने मात्र से ही प्रेमचन्द बड़े या छोटे नहीं हो जाते। 'कर्मभूमि', 'समरयात्रा' और 'हंस' के द्वारा प्रेमचन्द ने देश की आजादी के इस जंग में जेल जाने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण योग दिया है। यही नहीं, व्यक्तिगत रूप से भी प्रेमचन्द का इस आंदोलन के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा है। अपनी पत्नी को सार्वजनिक जीवन में आने की प्रेरणा देकर उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से अपने जेल नहीं जाने की क्षतिपूर्त्ति ही की थी। 'प्रेमचन्द : घर में' से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमती शिवरानी देवी ने इस आंदोलन में बहुत ही सक्रिय भाग लिया था। इस आंदोलन के दौरान में ही प्रेमचन्द ने 'विशाल भारत' के संपादक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के एक प्रश्न के उत्तर में अपने

---

१. "प्रेमचन्द का जन्म भी मध्यमवर्ग में हुआ था। उनकी भी गांव में पैतृक भूमि थी। पैतृक घर था और 'घर' से उन्हें वह अनुराग था, जो मध्यमवर्ग के लोगों को हुआ करता है। ××× और यही कारण था कि वे सन् १९३० के सत्याग्रह आंदोलन में बहुत चाहने के बावजूद जेल नहीं जा सके। सोचते रहे कि शिवरानी चली गयीं, यदि वे भी चले गये तो बच्चों का और घर का क्या बनेगा?

"सत्याग्रह की लड़ाई इसी प्रकार लड़ी जाती थी कि घर भी बना रहे और जेल यात्रा भी हो जाये। बड़े आदमी जब जेल जाते थे, तो बाहर उनका कारोबार चलता रहता था।"

('प्रेमचन्द और कला' : हंसराज 'रहबर')

—प्रेमचन्द : चिंतन और कला : सं० डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० १७१-७२

जीवन और साहित्य का एकमात्र ध्येय स्वाधीनता-प्राप्ति घोषित किया था।[1] इस आंदोलन से कुछ ही समय पूर्व प्रेमचन्द संयुक्त प्रांत के गवर्नर द्वारा रायसाहब की उपाधि दिए जाने के प्रस्ताव को नम्र किन्तु दृढ़ शब्दों में ठुकरा चुके थे।[2]

'कर्मभूमि' की रचना से कुछ ही समय पूर्व १९२८ में बारदोली के किसानों का आंदोलन सफलतापूर्वक समाप्त हो चुका था। 'कर्मभूमि' पर बारदोली के किसानों की इस विजय का भी अप्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। संयुक्त प्रांत के किसानों के लगानबंदी-आंदोलन को तो प्रेमचन्द ने अपने आस-पास ही अपनी आँखों से देखा और अनुभव किया था। इन दिनों प्रेमचन्द लखनऊ में रहकर 'माधुरी' का संपादन कर रहे थे।[3]

उपर्युक्त विवेचन से प्रेमचन्द की उस मनःस्थिति का एक सहज अनुमान लगाया जा सकता है, जिसमें 'कर्मभूमि' और 'समर-यात्रा' संग्रह की कहानियों की रचना की गई थी।

'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने प्रथम बार इतने व्यापक स्तर पर अछूतोद्धार की समस्या को उठाया है। छुआछूत की समस्या हिन्दू-समाज में व्याप्त उस सामाजिक वैषम्य और भेदभाव की सूचक है, जो शताब्दियों से धर्म के नाम पर उसका एक अनिवार्य अंग बना हुआ है। यों तो वर्ण, रंग, जाति इत्यादि के आधार पर सामाजिक भेदभाव विश्व के और भी अनेक देशों में पाया जाता है, किन्तु भारत में जिस प्रकार धर्म के नाम पर करोड़ों मनुष्यों को मध्ययुगीन दासों से भी बदतर जीवन व्यतीत करने पर विवश किया जाता रहा है और उनकी छाया को भी अपवित्र माना जाता रहा है—वह विश्व में अपना उदाहरण आप है। संभवतः भारत के इलावा अन्य किसी भी दूसरे देश में इस प्रकार की संस्था नहीं मिलेगी। हिंदू समाज ने अपने माथे पर लगे हुए इस कलंक को धोने का प्रयास न किया हो—ऐसी बात नहीं है। स्वामी रामानन्द से लेकर महात्मा गांधी तक ज्ञात-अज्ञात अनेक समाज-सुधारक और धर्माचार्य अपने-अपने ढंग से इस विषम समस्या के सुधार की दिशा में प्रयत्न करते आ रहे हैं, लेकिन सैकड़ों वर्षों के निरन्तर प्रयत्नों के बावजूद हिन्दू-समाज के इस कोढ़ को समाप्त नहीं किया जा सका है। कारण स्पष्ट है।

---

१. प्रेमचन्द और गोर्की, पृ० ४१

२. प्रेमचन्द : घर में, पृ० ११८-१९

३. 'प्रेमचन्द : घर में' पुस्तक में इस संबंध में एक विचित्र वदतोव्याघात मिलता है। पृष्ठ १२१ पर शिवरानी देवी लिखती हैं : "उसी साल (सन् १९२९) अप्रैल में हम दोनों बनारस आए। उन्होंने 'माधुरी' का काम छोड़ दिया।" पर इसके विपरीत पृष्ठ १२६ पर उन्होंने लिखा है : "सन् १९३० की लखनऊ की बात है। महात्मा गांधी नमक कानून तोड़ने डांडी गये। सब शब्दों में महात्मा गांधी की जय की धूम मची हुई थी। उन दिनों हम लोग लखनऊ में थे। वे 'माधुरी' का संपादन करते थे। अप्रैल का महीना था।" श्रीमती प्रेमचन्द के इन दो परस्पर-विरोधी वक्तव्यों में से किसे सही माना जाए—यह एक समस्या है।

[illegible] किया गया है, वह उसे सफल समाप[illegible]
[illegible] अस्पृश्यों की बस्[illegible]
[illegible] किया गया है
[illegible] को समान मानते हुए भी जाति-प्र[illegible]
[illegible] समाप्त करना नहीं चाहते। जाहिर है कि जाति[illegible]
[illegible] के जीवित रहते हुए अस्पृश्यता [illegible]
[illegible] किया जा सकता।

[illegible] कि इस समस्या के प्रति कर्मभूमिका[illegible]
[illegible] है?

[illegible] आंदोलन के दो रूप हैं—शहर और गांव। नगर [illegible] प्रश्न को लेकर होता है, पर शीघ्र ही व[illegible] [illegible] आंदोलन का रूप धारण कर लेता है [illegible] यह आंदोलन तथाकथित निम्न जाति वालों के लि[illegible] [illegible] मकान बनाने के प्रश्न पर आकर सफलतापूर्वक समाप्त होत[illegible] है। इसी भांति नगर से दूर गांव में भी कर्मभूमिकार अछूत-समस्या को भारत के ग्रामी[illegible] जीवन की मूल समस्या—किसानों के शोषण के साथ सम्बद्ध करके देखता है। वह दिखाता है कि शराबबंदी, मुर्दा मांस खाने की प्रथा के सुधार, शिक्षा के प्रचार इत्यादि मात्र से ही अछूतों की समस्या हल नहीं हो सकती, क्योंकि भारत की शेष शोषित जनता के समान ही अछूतों की मूल समस्या भी मूलतः आर्थिक है। यही कारण है कि 'कर्म-भूमि' के चमार दूसरे किसानों के कंधे-से-कंधा मिलाकर जमींदार और नौकरशाही के अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।

नगर में यह आंदोलन पं० मधुसूदन की कथा में कुछ 'अछूतों' द्वारा भगवान के भक्तों की चरण-पादुकाओं के पास आकर बैठ जाने के अक्षम्य अपराध को लेकर आरंभ होता है। भक्तों की जूतियों के पास बैठकर भगवान की कथा-श्रवण के प्रसाद के रूप में स्वभावतः उन्हें जूते ही मिल सकते थे! अतः "भगवान के मन्दिर में, भगवान के भक्तों के हाथों, भगवान के भक्तों पर पादुका-प्रहार होने लगा।"[1] 'कर्मभूमि' का यह वाक्य उसके रचयिता के अनुप्रास-प्रेम का नहीं, उसके हृदय की तीव्र वेदना और कसक का परिचायक है। अपने स्वाभाविक प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द अछूत-समस्या के मूल तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। वे इस तथ्य से परिचित हैं कि धर्म के नाम पर होने वाले इस घोर अधार्मिक कृत्य के सहायक बड़े-बड़े सेठ-साहूकार हैं। सरकार भी उन्हीं का साथ देती है। प्रेमचन्द अछूतों के मंदिर-प्रवेश के प्रश्न को जुआ खेलने और झूठी गवाही देने वाले धर्म के ठेकेदारों, घी में चरबी मिलाने और टेनी मारने वाले महाजनों,

---

१. कर्मभूमि, पृ० २०२

रिश्वतें खाने वाले अफसरों और दूध से स्नान करने वाले भगवान के संदर्भ में रखकर देखते हैं।[1] वे इन झूठे, ढोंगी और पाखण्डी धर्माचार्यों को सचेत करना नहीं भूलते कि शीघ्र ही अब वह समय आ रहा है, जब धर्म के नाम पर लोगों की आँखों में धूल झोंककर हलवे-मांडे खाने को नहीं मिलेंगे और जब भगवान को भी दूध के स्थान पर पानी से स्नान करना पड़ेगा।[2]

एक भीषण संघर्ष के अनन्तर—जिसमें कई आदमी पुलिस की लाठी-गोली के शिकार होते हैं—मंदिर के द्वार अन्त्यजों के लिए खुल जाते हैं। लेकिन प्रेमचन्द इस उपलब्धि से सन्तुष्ट नहीं थे। वे यह दिखाना नहीं भूलते कि मंदिर के द्वार खुल जाने के बावजूद अछूतों की सामाजिक स्थिति में जरा भी फर्क नहीं पड़ता। ऊँची जाति वाले सज्जन अब भी उनसे उसी तरह देह बचाते थे, नाक सिकोड़ते थे; मानों वे कोई छूत की बीमारी हों।[3] इस प्रकार कर्मभूमिकार दिखाता है कि मंदिर-प्रवेश आंदोलन से अधिक मूलभूत परिणामों की आशा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि बाहरी दबाव के कारण हरिजनों को मंदिरों में प्रवेशाधिकार प्राप्त हो जाने मात्र से ही उनका सामाजिक और आर्थिक शोषण समाप्त नहीं हो जाता। प्रेमचन्द इस बात को महसूस करते थे कि अस्पृश्यों और दूसरी निम्न जाति वालों के लिए मंदिर इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि उनके रहने के लिए साफ-सुथरे और हवादार मकान !

निःसन्देह मंदिर-प्रवेश का अपने आप में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। मंदिर-प्रवेश एक प्रतीक है जिसका अर्थ है—सार्वजनिक जीवन में अछूतों से समता का व्यवहार। गांधीजी हरिजनों के मंदिर-प्रवेश पर इतना अधिक बल इसलिए देते थे क्योंकि वे मंदिरों को हिन्दू धर्म का एक अभिन्न अंग मानते थे। अतः उनमें हरिजनों के निषेध को वे उस सामाजिक अन्याय का ज्वलन्त प्रतीक मानते थे जो शताब्दियों से सवर्ण हिन्दुओं द्वारा अस्पृश्यों पर किया जा रहा है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गांधीजी केवल मंदिर-

---

१. कर्मभूमि, पृ० २०३

२. "शांतिकुमार उत्तेजित होकर बोले—अन्धे भक्तों की आँखों में धूल झोंककर यह हलवे बहुत दिन खाने को न मिलेंगे महाराज, समझ गये? अब वह समय आ रहा है, जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं।"

—कर्मभूमि, पृ० २०३

३. "दूसरे दिन मन्दिर में कितना समारोह हुआ, शहर में कितनी हलचल मची, कितने उत्सव मनाये गये, इसकी चर्चा करने की जरूरत नहीं। सारे दिन मन्दिर में भक्तों का तांता लगा रहा। ब्रह्मचारी आज फिर विराजमान हो गये थे और जितनी दक्षिणा उन्हें आज मिली, उतनी शायद उम्र भर में न मिली होगी। इससे उनके मन का विद्रोह बहुत कुछ शांत हो गया; किन्तु ऊँची जाति वाले सज्जन अब भी मन्दिर में देह बचाकर आते और नाक सिकोड़े हुए कतराकर निकल जाते थे।"

—कर्मभूमि, पृ० २१५

प्रवेश से ही संतुष्ट नहीं थे; अन्य सार्वजनिक स्थानों—यथा बाजारों, स्कूलों, दूकानों, धर्मशालाओं, कुवों, रेलों, मोटरों इत्यादि में भी वे हरिजनों से पूर्ण समानता का व्यवहार चाहते थे।[1] हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गांधीजी मंदिर-प्रवेश को अछूतों के आर्थिक और राजनीतिक विकास का स्थानापन्न नहीं मानते थे।[2]

प्रेमचन्द के अधिकतर समालोचकों ने 'कर्मभूमि' के इस आंदोलन की परीक्षा केवल मंदिर-प्रवेश आंदोलन के रूप में ही की है, लेकिन जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, इस आंदोलन को मंदिर-प्रवेश तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। मंदिर-प्रवेश को इस आंदोलन का प्रारंभ ही माना जा सकता है, अन्त नहीं। मंदिर-प्रवेश के अपेक्षाकृत छोटे और अमहत्त्वपूर्ण प्रश्न से शुरू होकर यह आंदोलन शीघ्र ही नगर की समस्त तथाकथित निम्न जातियों में एक व्यापक जन-जागृति का रूप धारण कर लेता है और क्रमशः नगर की समस्त शोषित जनता को अपने दायरे में समेट लेता है।

पैसेवालों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शासित म्युनिसिपल बोर्ड स्वभावतः नगर की गरीब जनता के लिए छोटे-छोटे हवादार मकान बनाने की माँग को ठुकरा देता है। किन्तु नगर की जनता अब जागृत हो चुकी थी और उसे अपनी संगठित शक्ति का आभास हो चुका था। अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर उसने यह जान लिया था कि छोटे-से-छोटे व्यक्ति को भी स्वस्थ और आरामदेह मकानों में रहने का उतना ही हक है जितना किसी बड़े आदमी को। उपन्यासकार यहाँ पर यह संकेत करना नहीं भूला है कि मंदिर-प्रवेश के लिए लड़ा गया सफल आंदोलन ही इस अभूतपूर्व जन-जागृति का

---

१. "सार्वजनिक मेले, बाजार, दूकानें, मदरसे, धर्मशालाएं, मन्दिर, कुएं, रेल, मोटरें इत्यादि में, जहां कहीं दूसरे हिंदुओं को आजादी से जाने और उनसे लाभ उठाने का अधिकार हो वहां अस्पृश्यों को भी अवश्य अधिकार है। इस अधिकार से उन्हें वञ्चित रखने वाला अन्याय करता है। इस अधिकार को स्वीकार करने वाले उन पर मेहरबानी नहीं करते बल्कि अपनी ही भूल को सुधारते हैं।"

—गांधी-विचार-दोहन, पृ० ४४

२. "There is undoubtedly a difference of opinion as to the emphasis laid on temple entry as compared to the economic and political uplift. × × × The fact is temple entry is not a substitute for any other uplift. × × × It is not impossible to conceive that untouchables may all become economically and politically superior to the caste-Hindus and may yet be treated as untouchables by caste-Hindus, no matter how poor and degraded they themselves may be".

—Harijan : 8-4-1933, P. 4

कारण है।[1] इस दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं में मंदिर-प्रवेश आंदोलन की उपलब्धि का कोई विशेष महत्त्व न होने पर भी जन-जागृति के वाहक के रूप में उसका महत्त्व निर्विवाद है।

'कर्मभूमि' में अछूतोद्धार-आंदोलन का दूसरा केन्द्र गंगा के किनारे स्थित बीस-पच्चीस 'रैदास' परिवारों का एक छोटा-सा गाँव है। घर छोड़ने के पश्चात् अमरकांत यहीं आकर रहता है। एक संभ्रान्त और कुलीन युवक को अपने गाँव में टिकते देखकर सलोनी काकी को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। पर अमर उसे विश्वास दिलाता है कि वह जात-पाँत में विश्वास नहीं करता। वह कहता है कि छोटे-बड़े का निर्णय कर्म के आधार पर किया जाना चाहिए, जाति के आधार पर नहीं। जो सच्चा है, वह चमार होने पर भी आदर का तथा जो झूठा और लंपट है,वह ब्राह्मण होने पर भी तिरस्कार का पात्र होना चाहिए।[2]

महात्मा गांधी के अछूतोद्धार-कार्यक्रम के दो कार्यक्षेत्र थे, पहला सवर्ण हिन्दुओं के मध्य और दूसरा स्वयं हरिजनों के बीच में। गांधी जी केवल निषेधात्मक कार्यक्रम लेकर कभी नहीं चलते थे। रचनात्मक कार्यक्रम उनकी कार्यविधि और आंदोलन का सदा एक अभिन्न अंग हुआ करता था। इसीलिए वे मानते थे कि अछूत-समस्या का संतोषपूर्ण और स्थायी समाधान उस समय तक संभव नहीं है जब तक कि स्वयं अछूतों में व्याप्त कुरीतियों एवं कुप्रथाओं में सुधार नहीं किया जाता। कर्मभूमिकार भी अछूत-समस्या के इस पक्ष के प्रति उदासीन नहीं है। यही कारण है कि वह अछूतों में प्रचलित मुर्दा मांस खाने, मादक पदार्थों के सेवन इत्यादि कुप्रथाओं के सुधार और उनमें शिक्षा के प्रचार पर इतना अधिक बल देता है। वह दिखाता है कि अमर के सद्प्रयत्नों के फल-स्वरूप चमारों के जीवन में एक नवीन उत्साह और उमंग का उदय होता है। वे शराब और मुर्दा मांस का प्रयोग छोड़ देते हैं। शुभ कार्य का आरंभ दूसरों के लिए भी उत्साहप्रद एवं प्रेरणाप्रद हुआ करता है। अतः आस-पास के गाँवों के चमार ही नहीं उच्चवर्ण के लोग भी उसका अनुसरण करते हैं। शिक्षा के प्रति भी उनकी सहज रुचि जागृत हो जाती है। अमर की पाठशाला में अब बच्चे ही नहीं युवक और वृद्ध भी पढ़ने आते हैं। उसके सदुद्योग से छुआछूत का लोप हो जाता है।[3] कुछ ही दिनों की शिक्षा से बच्चों में अच्छी

---

१. "नगर की जनता अब उस दशा में न थी कि उस पर कितना ही अन्याय हो और वह चुपचाप सहती जाय। उसे अपने स्वत्व का ज्ञान हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि उन्हें भी आराम से रहने का उतना ही अधिकार है, जितना धनियों को। एक बार संगठित आग्रह की सफलता देख चुके थे। अधिकारियों की यह निरंकुशता, यह स्वार्थपरता उन्हें असह्य हो गयी।"

—कर्मभूमि, पृ० २६१

२. कर्मभूमि, पृ० १४२

३. कर्मभूमि, पृ० १७३

पर बल देना न तो उचित ही है और न आवश्यक ही। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'कथाकार प्रेमचन्द' के लेखक-द्वय का यह मत निस्सार और असंगत ही नहीं भ्रामक भी है।

अमर के समझाने-बुझाने और उसकी शिक्षाओं से प्रेरित होकर गाँव वाले शराब पीना भी छोड़ देते हैं। अमर की यह बात उनके मन में बैठ जाती है कि जहाँ सौ में अस्सी आदमियों को दोनों जून भरपेट भोजन भी न मिलता हो, वहाँ शराब पीना गरीबों का खून पीने के बराबर है।[1] महात्मा गांधी भी मानते थे कि "जब लोग भुखमरी और नंगेपन के किनारे खड़े हों तब शराब, अफीम, वगैरह के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता।"[2] गांधीजी की ही तरह प्रेमचन्द भी इस कुप्रथा का सुधार डाँट-फटकार और बाह्य दबाव से नहीं बल्कि त्याग, सेवा और प्रेम की आत्मिक शक्ति के द्वारा चाहते थे।[3]

कर्मभूमिकार ने जिस प्रकार नगर में अछूतोद्धार-आंदोलन को छुआछूत-निवारण तक ही सीमित न रखकर उसे एक व्यापक जनांदोलन का विराट् रूप दिया है, उसी प्रकार यहाँ भी वह इस समस्या को लगानबंदी-आंदोलन के साथ ग्रथित करके उसे जमींदार-किसान-संघर्ष का एक व्यापक आर्थिक रूप दे देता है।

'कर्मभूमि' के लगानबंदी-आंदोलन के मूल में सन् '२९-'३० का वह विश्वव्यापी आर्थिक संकट है, जिसका सर्वाधिक प्रत्यक्ष दुष्प्रभाव किसानों पर पड़ा। चमारों के इस इलाके के जमींदार एक महन्तजी थे। उन्हीं के चेले-चाँटे कारकुन और मुख्तार थे। एक तो जमींदार और ऊपर से महन्त—मानों करेला और नीम चढ़ा। यूँ तो सदा से अर्थ का धर्म से गठबंधन रहता आया है, पर जब एक ही व्यक्ति में उनका सम्मिलन हो जाता है तो उसके अत्याचार और अधिक निर्मम, निर्द्वन्द्व और पाशविक हो जाते हैं। गरीब अछूत किसान अर्थ से तो फिर भी विद्रोह कर सकते हैं, पर धर्म के विरुद्ध मुँह खोलने की शक्ति स्वभावतः उनमें नहीं है। ऋण के बोझ से दबे, अशिक्षित और कायदे-कानून से अनभिज्ञ अछूत असामियों से महन्तजी इच्छानुसार लगान वसूल करते थे। जब चाहते इजाफा करते और जब चाहते बेदखली करते। किसानों को अधिकतर अपनी उपज से भी अधिक लगान देना पड़ता था, पर धन और धर्म के इस दोहरे शोषण के

ऐसी अवस्था में उनको मुर्दा मांस खाने से रोकना यह कहने के तुल्य है कि तुम कभी कोई स्वादिष्ट पदार्थ खाओ ही मत।"

—कथाकार प्रेमचन्द, पृ० ६६६

१. कर्मभूमि, पृ० १५५
२. गांधी-साहित्य, भाग ४ पृ० ५४ (प्रथम संस्करण, १९५०)
३. "अमर ने जाँघ पर हाथ पटककर कहा—फिर वही डाँट-फटकार की बात? अरे दादा? डाँट-फटकार से कुछ न होगा। दिलों में पैठिये। ऐसी हवा फैला दीजिये कि ताड़ी-शराब से लोगों को घृणा हो जाय।"

—कर्मभूमि, पृ० २८८

सम्मुख वे लाचार थे। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि यद्यपि यह कोई नई बात नहीं थी, लेकिन इस वर्ष अप्रत्याशित रूप से अनाज और दूसरी जिन्सों के भाव चालीस वर्ष पूर्व के भावों से भी नीचे गिर गए। इस भयंकर आर्थिक मन्दी के कारण किसान लगान, दस्तूरियाँ और कर्ज चुकाने में सर्वथा असमर्थ हो गया। किसानों ने अपनी कुल फसल का एक-एक दाना और एक-एक तिनका तक बेच डाला, किन्तु फिर भी चौथाई से अधिक लगान अदा नहीं कर सके। यह मंदी केवल इसी इलाके में नहीं बल्कि सारे प्रांत, सारे देश और यहाँ तक कि सारे संसार में फैली हुई थी।[1]

इस विषम परिस्थिति पर विचार करने के लिए गंगा-तट पर स्वामी आत्मानंद के सभापतित्व में चमारों की पंचायत होती है। यहाँ आकर उग्रतावादी आत्मानंद और तथाकथित अहिंसा-पथ के राही अमरकांत की नीतियों में टकराव होता है। आत्मानंद कहता है कि महन्तजी अथवा किसी और हाकिम के पास जाकर अनुनय-विनय करने मात्र से कोई लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि महन्तजी को उत्सव मनाने के लिए और हाकिमों को अपनी बड़ी-बड़ी तलबों के लिए रुपये चाहिए। स्वभावत: उन्हें किसानों के मरने-जीने की उतनी चिंता नहीं हो सकती जितनी अपने सुख-चैन की, अपने राग-रंग की! अत: आत्मानंद की राय में उनके लिए अब एक ही मार्ग रह जाता है—वह यह कि महन्तजी का मकान तथा ठाकुरद्वारा घेर लिया जाय और उस समय तक कोई उत्सव न होने दिया जाय जब तक कि उनकी माँगे पूरी न की जावें।[2] किन्तु अमरकांत आत्मानंद की इस उग्र नीति को अनुचित ही नहीं अनावश्यक भी मानता है। लगान-बंदी-आंदोलन के प्रति उसके दृष्टिकोण को हम उस युग के कांग्रेसी नेतृत्व के दृष्टिकोण का प्रतिनिधि मान सकते हैं। आंदोलन के प्रारंभिक काल में कांग्रेसी नेताओं ने उसके प्रति एक प्रकार से निष्क्रिय उदासीनता और उपेक्षा का भाव धारण किया हुआ था। आंदोलन में भाग लेकर वे गांधी-इर्विन समझौते को भंग करना नहीं चाहते थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि पहल उनके हाथ से निकलकर स्वयं किसानों के हाथों में जा रही है और आंदोलन क्रमश: क्रांतिकारी रूप धारण करता जा रहा है तो उन्होंने उसमें भाग लेना आवश्यक समझा। विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के कारण किसानों की गिरती हुई दशा को स्वीकार करते हुए भी कांग्रेसी नेतृत्व जमींदारों और ताल्लुकेदारों के अधिकारों पर चोट करना नहीं चाहता था।[3] अत: उसने शुरू से ही किसानों के इस आंदोलन

---

१. कर्मभूमि, पृ० २९०–९२

२. कर्मभूमि, पृ० २९३–९४

३. २८–५–३१ के 'यंग इंडिया' में संयुक्त प्रांत के किसानों के नाम गांधीजी ने एक पत्र प्रकाशित किया था, जिसके कुछ अंश हम यहा पर उद्धृत करते हैं :—

"Bad as your condition was even in normal times, the unprecedented fall this year in the prices of the crops usually grown by you made it infinitely worse. × × × × In several

को कुंठित करने का प्रयत्न किया ।

अमरकांत की चरित्र-रेखा के पीछे स्पष्टतः उस युग के कांग्रेसी नेतृत्व की ही छाया है । एक ओर जहाँ वह किसानों के विद्रोह को 'अरज-मारूज' और अनुनय-विनय के 'अहिंसक' मार्ग पर डालने की कोशिश करता है, वहाँ दूसरी ओर किसानों के उग्र नेता और अपने साथी स्वामी आत्मानंद से विश्वासघात करके उसे गिरफ्तार करवाने की चाल चलता है । किसानों को चेतावनी देता हुआ वह उनसे कहता है कि जिस मार्ग पर वे जा रहे हैं, वह उद्धार का नहीं सर्वनाश का मार्ग है । जिस प्रकार बैलों के बीमार पड़ जाने पर हम उनकी चिकित्सा करवाते हैं, मारते नहीं, और जिस प्रकार घर में आग लग जाने पर हम घर का शेष सामान भी लाकर उसमें नहीं झोंक देते; ठीक उसी प्रकार हमें इस विपत्ति का सामना उग्र नीति से नहीं बल्कि शांति और समझदारी से करना चाहिए।[1] साम और भेद नीति के अतिरिक्त वह दंड नीति का भी आश्रय लेता है।[2] कहना न होगा कि डंडे का भय दिखाकर किसानों को विद्रोह और संघर्ष के पथ से विरत करने का प्रयत्न प्रतिक्रियावादिता की सीमा है ।

---

districts inquiries were made in a few hundred villages disclosing a serious state of affairs. It was found that the price of your gross produce had fallen to such an extent that the sales were not enough to pay the rents. It was in this connection that I came to Nainital to see H. E. the Governor. His Excellency gave me a patient hearing and fully discussed the situation. He was sympathetic. × × × × And I submitted certain proposals which he kindly promised to consider."

× × ×

" × × × × The Congress expects every tenant to pay as early as possible all the rent he can, and in no case as a general rule less than 8 annas or 4 annas as the case may be."

× × ×

"Lastly, let me warn you against listening to the advice, if it has reached you, that you have no need to pay to the Zamindars any rent at all. I hope that you will not listen to such advice, no matter who gives it. Congressmen cannot, we do not seek to injure the Zamindars. We aim not at destruction of property."

—Towards Non-Violent Socialism, P. 117 to 119

१. कर्मभूमि, पृ० २६४–६५

२. "अमर ने गर्व से कहा—अगर धैर्य से काम लोगे, तो सब कुछ हो जायगा । हुल्लड़ मचाओगे, तो कुछ न होगा, उल्टे और डंडे पड़ेंगे ।"

—कर्मभूमि, पृ० ३०७

यहाँ पर स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि प्रेमचन्द के विचारों का प्रतिनिधित्व अमरकांत करता है या स्वामी आत्मानंद ? जाहिर है कि इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर स्पष्ट 'हाँ' या 'नही' में नही दिया जा सकता। एक ओर प्रेमचन्द यह दिखाते हैं कि एक दिन जो गाँव वाले अमर का भाषण सुनकर मस्त हो जाते थे, आज उसके भाषण का उन पर कोई असर नही पड़ता[1] और उन्हें अमर की अहिंसक नीति की सफलता के बारे में संदेह होने लगता है।[2] दूसरी ओर वे यह भी दिखाते हैं कि जब सात-आठ दिन की भाग-दौड़ के बाद अमर महन्त-जमीदार आशाराम गिरि से साक्षात् करके यह आश्वासन पाने में सफल हो जाता है कि वे शीघ्र ही सरकार को आधी छूट के लिए लिखेंगे; तो स्वामी आत्मानंद जिस किसी गाँव में जाते, लोग उन पर आवाजें कसते। इस समय स्वामीजी को किसानों की इतनी चिंता नही थी जितनी अपनी बात रखने की। लोग उनकी बातों को इस कान से सुनकर उस कान से उड़ा देते, किन्तु स्वामीजी अब भी अपनी ही रट लगाए हुए थे।[3]

अमर के चरित्र की समस्त असंगतियों के बावजूद भी यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द का झुकाव उसी के प्रति है। संभवत. यही कारण है कि प्रेमचन्द स्वामी आत्मानंद के चरित्र की रूप-रेखा मात्र प्रस्तुत करते हैं, उसमे रंग नही भरते। अमरकांत 'कर्मभूमि' का आदर्श चरित्र है।[4] अत. उसके साथ उपन्यासकार का वैचारिक तादात्म्य होना जरूरी है। जहाँ तक उसके चरित्र की असंगतियों और दुर्बलताओ का प्रश्न है, किसी हद तक वे स्वय

---

१. "उसने एक लम्बा भाषण किया, पर वही जनता जो उसका भाषण सुनकर मस्त हो जाती थी, आज उदासीन बैठी थी। उसका सम्मान सभी करते थे, इसीलिए कोई उधम न हुआ, कोई बमचख न मचा, पर जनता पर कोई असर न हुआ। × × ×
"सभा बिना कुछ निश्चय किये उठ गयी, लेकिन बहुमत किस तरफ है, यह किसी से छिपा न था।"

—कर्मभूमि, पृ० २९५

२. "सलोनी सिर पर हाथ रखकर बोली—अरे भगवान्! तेलहन था ही कितना। कुल एक रुपया तो मिला। वह कल प्यादा ले गया। घर में आग लगाये देता था। क्या करती, निकालकर फेंक दिया। उस पर अमर भैया कहते हैं—महन्तजी से फरियाद करो। कोई नहीं सुनेगा बेटा! मैं कहे देती हूँ।
"मुन्नी बोली—अच्छा, तो चलो मेरे घर खा लो।
"सलोनी ने सजल-नेत्र होकर कहा—तू आज खिला देगी बेटी, अभी तो पूरा चौमासा पड़ा हुआ है। आजकल तो कहीं घास भी नहीं मिलती। भगवान् न जाने कैसे पार लगायेंगे। घर मे अन्न का एक दाना भी नहीं है। डाँडी अच्छी होती, तो बाकी देके चार महीने निबाह हो जाता। × × × अमर भैया को तू समझाती नहीं, स्वामीजी को बढ़ने नहीं देते।"

—कर्मभूमि, पृ० २९६–९७

३. कर्मभूमि, पृ० ३०७
४. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व : हंसराज 'रहबर', पृ० २५१

प्रेमचन्द की असंगतियाँ और दुर्बलताएँ हैं।

यहाँ अमर के चरित्र पर कुछ विस्तार से विचार कर लेना उपयोगी होगा। हम देखते हैं कि अमर के चरित्र में प्रारंभ से ही निष्ठा, स्थिरता और किसी सुनिश्चित जीवनादर्श का एकान्त अभाव है। यही कारण है कि न केवल उसके पारिवारिक जीवन में, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भी हम उसे निरन्तर भटकते हुए देखते हैं। पारिवारिक कारणों की वजह से वह सार्वजनिक जीवन में आता है, लेकिन उसके व्यक्तित्व में सार्वजनिक जीवन अपनाने के लिए अपेक्षित शक्ति का सर्वथा अभाव है। सौतेली माँ के आगमन के कारण उसके घर का वातावरण कुछ इस प्रकार का बन जाता है कि एक बच्चे के स्वस्थ और सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक स्नेह उसे नहीं मिल पाता। स्वभावतः उसके बाल-मन में अपने पिता के प्रति विद्वेष और विद्रोह के अंकुर जम जाते हैं। उसे अपने पिता के महाजनी हथकण्डों और धन-लोलुपता से घृणा हो जाती है।[1] और, इस प्रकार प्रत्येक बात का व्यक्तिगत विरोध उसका स्वभाव बन जाता है। अपने पिता और पत्नी से विद्रोह करके वह पूरे समाज और शासन से विद्रोह करने की कोशिश करता है। पर स्वभाव से दुर्बल और अस्थिरचित्त होने के कारण अंत में वह वहीं आ जाता है जहाँ से आरंभ करता है। अस्वाभाविक परिस्थितियों में पालित-पोषित होने के कारण उसके शरीर और बुद्धि का समुचित विकास नहीं हो पाता।[2] ठीक से देख-भाल न होने के कारण वह कुसंगति में पड़ जाता है और इस प्रकार उसमें आत्मपीड़क हीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है।[3] प्रेमचन्द उसे ठीक ही 'युवती-प्रकृति का युवक' (She type he) कहते हैं।[4]

अमर के चरित्र में कई क्रमिक उतार-चढ़ाव (चढ़ाव कम और उतार अधिक) दिखाई देते हैं। आरंभ में हम उसे एक ऐसे युवक विद्यार्थी के रूप में देखते हैं जो स्कूल से लौटकर नियमपूर्वक चर्खा चलाता है, संध्या समय जलसों में भाग लेता है और रात को स्त्री-पाठशाला में पढ़ाता है। इस समय वह सादगी पर प्राण देता था। वह मानता था कि चर्खा आर्थिक लाभ का नहीं वरन् आत्म-शुद्धि का साधन है।[5] इस समय वह गांधी के

---

१. कर्मभूमि, पृ० ६

२. "अमरकान्त की अवस्था १६ साल से कम न थी; पर देह और बुद्धि को देखते हुए, अभी किशोरावस्था ही में था। देह का दुर्बल, बुद्धि का मंद। पौधे को कभी मुक्त प्रकाश न मिला, कैसे बढ़ता, कैसे फैलता। बढ़ने और फैलने के दिन कुसंगति और असंयम में निकल गये। दस साल पढ़ते हो गये थे और अभी ज्यों-त्यों करके आठवें में पहुँचा था।"

—कर्मभूमि, पृ० ७

३. प्रेमचन्द के पात्र, पृ० १४७

४. कर्मभूमि, पृ० ७

५. कर्मभूमि, पृ० ११

कायिक श्रम के अनुकरणीय सिद्धान्त में विश्वास करता था।[1] वह अपने नगर की कांग्रेस कमेटी का सदस्य था और उसकी गति-विधियों में सक्रिय भाग लेता था।

अमर के जीवन में दूसरा मोड़ उसकी सास रेणुका देवी के काशी आने पर आता है। बाल्यकाल से ही स्नेह से वंचित अमर रेणुका का मुक्त स्नेह पाकर शीघ्र ही अपने आदर्शों को भूल जाता है। "पाँच ही छः महीने में वह विलासिता का द्रोही, वह सरल जीवन का उपासक, अच्छा खासा रईसजादा बन बैठा, रईसजादों के भावों और विचारों से भरा हुआ; उतना ही निर्द्वन्द्व और स्वार्थी।"[2] सैर-तमाशों के प्रति उसकी पुरानी अरुचि समाप्त हो गई, अध्ययनशीलता जाती रही तथा ताश और चौसर में ज्यादा आनन्द आने लगा।[3] पुत्र-जन्म के पश्चात् उसकी रही सही-विद्रोहात्मकता भी समाप्त हो जाती है।[4]

अमर के चरित्र में तीसरा मोड़ सकीना से परिचय होने पर आता है। सकीना की घोर दरिद्रता देखकर उसका वह विद्रोह जो पिछले कुछ दिनों से शांत हो चला था, फिर द्विगुणित वेग से उठने लगा। उसका मन एक बार फिर घर से उचाट होने लगता है और दूकान से रुचि घटने लगती है।[5] सकीना के तथाकथित प्रेम में पड़कर 'वह धर्म के पीछे लाठी लेकर दौड़ने लगा।' उसे ऐसे धर्म से घृणा हो जाती है जो आत्मा और प्रेम को भी विधि-निषेध के संकीर्ण नियमों में आबद्ध करके देखता है।[6] विद्यालय

---

१. "अमर ने शान्तिपूर्वक कहा—काम करके कुछ उपार्जन करना शर्म की बात नहीं। दूसरों का मुँह ताकना शर्म की बात है।"

—कर्मभूमि, पृ० १९

२. कर्मभूमि, पृ० २२

३. कर्मभूमि, पृ० २२

४. "लाला समरकान्त ने नाच-तमाशे और दावत में खूब दिल खोलकर खर्च किया। वही अमरकान्त जो इन मिथ्या व्यवहारों की आलोचना करते कभी न थकता था, अब मुँह तक न खोलता था, बल्कि उलटे और बढ़ावा देता था— × × × ×।

"अमरकान्त को अब घर से विशेष घनिष्ठता होती जाती थी। अब वह विद्यालय तो जाने लगा था, पर जलसों और सभाओं से जी चुराता रहता था। अब उसे लेन-देन से उतनी घृणा न थी। शाम-सवेरे बराबर दुकान पर आ बैठता और बड़ी तन्देही से काम करता। स्वभाव में कुछ कृपणता भी आ चली थी। दुःखी जनों पर उसे अब भी दया आती थी; पर वह दुकान की बँधी हुई कौड़ियों का अतिक्रमण न कर पाती।"

—कर्मभूमि, पृ० ८०

५. कर्मभूमि, पृ० ९०

६. "वह धर्म के पीछे लाठी लेकर दौड़ने लगा। धन के संबंध का उसे बचपन से ही अनुभव होता आता था। धर्म-बन्धन उससे कहीं कठोर, कहीं असह्य, कहीं निरर्थक था। धर्म का काम संसार में मेल और एकता पैदा करना होना चाहिए। यहाँ धर्म ने विभिन्नता और द्वेष पैदा कर दिया है। क्यों खान-पान में, रस्म-रिवाज में धर्म अपनी टाँगें अड़ाता है? मैं चोरी करूँ, खून करूँ, धोखा दूँ, धर्म मुझे अलग नहीं कर सकता। अछूत के हाथ से पानी पी लूँ, धर्म छू मन्तर हो

में 'धर्म' पर हुए विवाद में अमर का भाषण नगर में धूम मचा देता है। अब वह क्रांति में ही देश का उद्धार समझता है—ऐसी क्रांति जो सर्वव्यापी हो; जो जीवन के मिथ्या-दर्शों, झूठे सिद्धान्तों और खोखले रीति-रिवाजों का अन्त कर दे; जो मानव को धन और धर्म पर आधृत राज्य से मुक्ति दिला दे और जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़-फोड़कर चकनाचूर कर दे।[1] धर्म के विरुद्ध क्रांति के पक्ष में अमर भाषण तो काफी भारी-भरकम और प्रभावशाली दे लेता है, लेकिन जब इन्हीं बातों को स्वयं अपने जीवन में कार्यान्वित करने का अवसर आता है तो सकीना को असहाय छोड़कर घर से भाग जाता है। वस्तुतः परिस्थितियों का सामना कर पाने की शक्ति अमर में है ही नहीं। वह प्रकृत्या पलायनवादी और भगोड़ा है। यही कारण है कि उसके क्रिया-कलापों के पीछे क्षणिक आवेश और भावुकता ही अधिक रहती है, किसी सिद्धान्त अथवा बुद्धि का आग्रह नहीं। घर से जाते हुए अपने स्वभावानुसार वह फिर लंबी-चौड़ी बातें करता है,[2] लेकिन पाठक जानते हैं कि यह केवल बातें-ही-बातें हैं।

घर से भागकर महीनों इधर-उधर भटकने के पश्चात् अमर गंगा के किनारे बसे हुए चमारों के एक पहाड़ी गाँव में आकर टिकता है और वहाँ क्रमशः एक व्यापक जन-जागृति का अगुआ बनता है। उसके प्रयत्नों से गाँव वालों में जो जागृति आती है, उसका हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं। लगानबंदी-आंदोलन में भाग लेकर वह जेल जाता है, लेकिन 'कर्मभूमि' के पाठक जानते हैं कि उसके इस कृत्य के पीछे भी क्षणिक आवेश ही था। किसानों की एक सभा में सुखदा की गिरफ्तारी का समाचार पाकर आवेश और भावुकता में वह अपने आपको भूल जाता है और पूर्व योजना के विरुद्ध अपने स्वभावानुसार एक जोशीला भाषण दे डालता है।[3] फलतः उसे गिरफ्तार कर लिया जाता है। गाँव वालों को जब उसकी गिरफ्तारी की सूचना मिलती है तो वे उत्तेजित होकर सलीम की कार की ओर बढ़ते हैं। लेकिन अमर उन्हें समझाता है कि यह हमारा धर्म-युद्ध है, अतः हमें शांति-

---

गया। अच्छा धर्म है! हम धर्म के बाहर किसी से आत्मा का संबंध भी नहीं कर सकते। आत्मा को भी धर्म ने बांध रखा है, प्रेम को भी जकड़ रखा है? यह धर्म नहीं है, धर्म का कलंक है।"

—कर्मभूमि, पृ० ९०-९१

१. कर्मभूमि, पृ० ९१

२. "ज्यों ही लालाजी चुप हुए, उसने धृष्टता के साथ कहा—दादा, आपके घर में मेरा इतना जीवन नष्ट हो गया, अब मैं उसे और नष्ट नहीं करना चाहता। × × × × मैं एक नये जीवन का सूत्रपात करने जा रहा हूँ, जहाँ मजदूरी लज्जा की वस्तु नहीं, जहाँ स्त्री पति को केवल नीचे नहीं घसीटती, उसे पतन की ओर नहीं ले जाती; बल्कि उसके जीवन में आनन्द और प्रकाश का संचार करती है। मैं रूढ़ियों और मर्यादाओं का दास बनकर नहीं रहना चाहता।"

—कर्मभूमि, पृ० १३६

३. कर्मभूमि, पृ० ३१२-१३

पथ से विचलित नही होना चाहिए। गांधीजी की भाषा में वह उन्हे बताता है कि उनकी विजय उनके त्याग, कष्ट-सहन, बलिदान एवं सत्य-बल से होगी।[1] यह स्पष्टत. गांधी के सिद्धान्तो की स्वीकृति है। महात्मा गाधी भी मानते थे कि पराधीन भारत को विदेशी शासको के विरुद्ध अपने स्वाधीनता-संग्राम मे हिंसा अर्थात् असत्य का आश्रय लेने की आवश्यकता ही नही है, क्योकि सत्य-बल और न्याय-बल स्पष्टत उसके पक्ष मे है। सत्य और न्याय की विजय के लिए असत्य और अन्यायपूर्ण साधनों की अपेक्षा नही होती। जीवन-भर शोषण मे रत रहने वाला व्यक्ति लाला समरकात भी आगे चलकर किसानो को गाधीवाद के इसी सत्य का उपदेश देता है। वह कहता है कि "तुम धर्म की लड़ाई लड़ रहे हो। लड़ाई नहीं, यह तपस्या है। तपस्या में क्रोध और द्वेष आ जाता है, तो तपस्या भंग हो जाती है।"[2] तथा "आपको अपनी नीतिपरता से अपने शासकों को नीति पर लाना है। यदि वह नीति पर ही होते, तो आपको यह तपस्या क्यों करनी पड़ती ? आप अनीति पर अनीति से नहीं, नीति से विजय पा सकते हैं।"[3] जीवन-भर जिस व्यक्ति ने नीति और अनीति मे कोई फर्क नही समझा हो, उसके मुंह से धर्म और नीति की यह दुहाई अगर खोखली लगे तो कोई ताज्जुब नही।

शत्रुता पर मित्रता, अनीति पर नीति, अन्याय पर न्याय, अधर्म पर धर्म, असत्य पर सत्य, हिंसा पर अहिंसा, द्वेष पर प्रेम, अनाचार पर सदाचार और युद्ध पर शांति से विजय प्राप्त करने का यह आदर्श गाधीवादी विचारधारा की केन्द्रीय धुरी है। गाधी से पूर्व महात्मा बुद्ध ने भी इसी जीवन-सिद्धान्त का प्रचार किया था।

जेल के शान्त वातावरण मे अमर अपने जीवन की पिछली घटनाओ का आत्म-विश्लेषण करता है। उसे जान पड़ता है कि उस दिन भरी सभा मे सुखदा की गिरफ्तारी की सूचना पाकर उसने समझौते का मार्ग छोड़कर लगानबंदी के दुर्गम पथ पर चलने की किसानो को जो सलाह दी थी, वह आवेशजन्य और अविचारपूर्ण ही थी।[4] अमर की यह स्वीकारोक्ति उस पर गाधी-दर्शन के प्रभाव की द्योतक है।

लखनऊ जेल मे अमर काले खाँ के संसर्ग मे आता है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि एक दिन जिस काले खाँ को अमर ने पाप का पुतला समझकर घृणापूर्वक दुत्कार दिया था, वही अब उसके हृदय-परिवर्तन का कारण बनता है।[5] काले खाँ जैसे चोर-डाकू के

१. कर्मभूमि, पृ० ३२६
२. कर्मभूमि, पृ० ३५१
३. कर्मभूमि, पृ० ३५२
४. कर्मभूमि, पृ० ३५५
५. "वही डाकू, जिसे अमर ने एक दिन अधमता के पैरों के नीचे लोटते देखा था, आज देवत्व के पद पर पहुंच गया था। उसकी आत्मा से मानो एक प्रकाश सा निकलकर अमर के अन्तःकरण को आलोकित करने लगा।"

—कर्मभूमि, पृ० ३५६

हृदय में भी प्रेम, सेवा, त्याग, धर्म-निष्ठा, आत्म-बलिदान आदि उच्चतम दैवी गुणों की अवस्थिति देखकर अमर के जीवन में भी एक सर्वथा नवीन निष्ठा और विश्वास, संकल्प और लक्ष्य, आदर्श और व्रत का उदय होता है। काले खाँ का देवोपम आत्म-बलिदान अमर के सिद्धान्त-विहीन जीवन में एक अनन्त प्रेरणा-स्रोत बन जाता है। अब उसके जीवन में एक ऐसी सेवापरायणता का उदय होता है, जिसका आधार यश-लालसा या अहंकार की तुष्टि मात्र नहीं बल्कि सच्चा प्रेम और कर्त्तव्य-भाव है।[1] इस प्रकार अमर के दंभ और झूठे अहंकार का शमन हो जाने पर वह सच्चे हृदय से अपनी उन भूलों को स्वीकार कर लेता है, जो उसने कभी द्वेष और प्रमादवश अपने स्वजनों के प्रति की थीं। सुखदा, सकीना, मुन्नी और लाला समरकांत के प्रति अपने पूर्व-व्यवहार को स्मरण कर-करके उसका हृदय आत्म-विगर्हणा से भर जाता है।[2]

जेल में प्रेमचन्द ने सलीम और अमरकांत के मध्य एक ऐसा वार्त्तालाप प्रस्तुत किया है, जिस पर विचार किए बिना 'कर्मभूमि' और कर्मभूमिकार पर गांधीवाद के प्रभाव का विवेचन अपूर्ण ही रहता है।

हिंसा पर लगाम लगाने की बात सुनकर सलीम अमर पर आक्षेप लगाता हुआ कहता है कि उस जैसे व्यक्ति आजादी तो चाहते हैं, लेकिन उसकी कीमत चुकाना नहीं चाहते। अमर उसे समझाता है कि स्वाधीनता का मूल्य न्याय और सत्य पर दृढ़तापूर्वक स्थिर रहने की शक्ति में है। किन्तु अन्याय पर आधृत व्यवस्था पर सत्य और न्याय का प्रभाव कैसे पड़ सकता है? गांधीवादी अमर सलीम के इस प्रश्न के उत्तर में उसे बताता है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्तःस्तल में मानवीय सहानुभूति का एक ऐसा तार विद्यमान रहता है जो निःस्वार्थ त्याग और आत्म-बलिदान से झंकृत हुए बिना नहीं रहता। उसे विश्वास है कि एक भी ऐसा मनुष्य नहीं मिल सकता, जो सेवा, प्रेम और त्याग से प्रभावित न हो। यह दूसरी बात है कि किसी पर इसका असर जल्दी हो और किसी पर देर में।[3]

प्रश्न के सैद्धान्तिक पक्ष पर अंशतः सहमत होकर सलीम उसके व्यावहारिक पहलू पर आता है। वह अमर से सीधा प्रश्न करता है कि इस समय किसानों के पास लगान देने को नहीं है, किन्तु सरकार उसे वसूल करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ है। सरकार के पास बन्दूकें हैं, किन्तु असहाय किसानों के पास सामूहिक जन-शक्ति के इलावा कुछ नहीं है। तो क्या किसान बिना कुछ बोले संगीनों और गोलियों के शिकार होते रहें? मरने वाला निस्सन्देह हृदयों में सहानुभूति उत्पन्न कर सकता है; लेकिन मारने वाला भय पैदा करने

---

१. कर्मभूमि, पृ० ३७३–७४
२. कर्मभूमि, पृ० ३७४–७५
३. कर्मभूमि, पृ० ३७६–७७

में समर्थ है, जो सहानुभूति से कहीं अधिक प्रभावकारी है।[1]

अमर ने पशुबल और आत्मबल, हिंसा और अहिंसा के इस प्रश्न पर महीनों आत्म-चिंतन किया था। वह सलीम को समझाते हुए कहता है कि कोई भी जाति अथवा राष्ट्र हिंसा के द्वारा स्थायी तथा वास्तविक मुक्ति नही प्राप्त कर सकता। व्यवहारतः ऐसी मुक्ति का अर्थ होगा—एक वर्ग के हाथ से निकलकर शासन-शक्ति का दूसरे वर्ग के हाथों मे चला जाना। और, फिर वह वर्ग भी तलवार के बल पर ही शासन करेगा। यथार्थ मुक्ति तो मनुष्य में मानवता के उदय होने पर ही प्राप्त हो सकती है—उससे पूर्व नहीं। उत्तर मे सलीम चिरपरिचित तर्क उपस्थित करता है—इस संसार मे देवता नही, आदमी बसते हैं। पर अमर अब भी विचलित नही होता। वह सलीम को बताता है कि हमें निराश होने की आवश्यकता नही है, क्योकि शताब्दियो तक अंधकार में भटकने के पश्चात् मानवता अब सही मार्ग की ओर अग्रसर हो रही है। उसमे प्रेम, त्याग, कष्ट-सहन और आत्म-बलिदान की दैवी शक्ति उसी भाँति विद्यमान है; जिस प्रकारभूमि के गर्भ में घास की जड़ें। जिस प्रकार वर्षा-काल से पूर्व सूखी जमीन मे घास की जड़ें दृष्टिगोचर नही होतीं, उसी प्रकार शस्त्रास्त्रों और वैज्ञानिक यंत्रों से सुसज्जित इस भौतिक जड़-वादी युग में भी वह दैवी शक्ति आज पूर्णत. विलुप्त-सी प्रतीत होती है। किन्तु अब वह समय आ गया है जब तलवारों की झनझनाहट और तोपो की गड़गड़ाहट में भी न्याय की आवाज स्पष्टतः सुनाई देगी। अमर कहता है कि जब तक हम आपस के भेदभाव को भुलाकर सबसे प्रेम करना और सेवा में ईश्वर का रूप देखना नही सीखेंगे, तब तक हमें स्वाधीनता प्राप्त नही हो सकती।[2]

अमर और सलीम का यह वार्त्तालाप गांधीवाद के सिद्धान्तो से अत्यधिक बोझिल होते हुए भी गांधी-दर्शन का अरोचक सैद्धान्तिक विवेचन मात्र बनकर ही नही रह गया है। इसका कारण प्रेमचन्द की स्वाभाविक तथा व्यंग्यपूर्ण भाषा-शैली है। इस वार्त्तालाप का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि केवल तीन-चार पृष्ठो में ही प्रेमचन्द ने गांधीजी की मूल स्थापनाओं का सम्यक् प्रतिपादन कर दिया है। इसमें संदेह नही कि इस प्रकार के सैद्धान्तिक वाद-विवाद उपन्यास के कथा-प्रवाह और पात्रों के चरित्र-चित्रण मे बाधा ही डालते हैं, किन्तु यह भी निर्विवाद है कि 'कर्मभूमि' जैसे राजनीतिक उपन्यासो मे सैद्धान्तिक वाद-विवाद से एकदम बचा नही जा सकता।

'कर्मभूमि' का अन्त भी प्रेमचन्द की इस गांधीवादिता के अनुरूप ही होता है। नैना के बलिदान से सेठ धनीराम का हृदय-परिवर्तन (?) हो जाता है और उनके प्रयत्नो से सरकार किसानो की माँगो पर विचार करने के लिए सात सदस्यों की एक समिति बनाने का निश्चय कर लेती है, जिसमे पाँच सदस्य जनता की ओर से और दो सरकार की ओर

१. कर्मभूमि, पृ० ३७७–७८
२. कर्मभूमि, पृ० ३७८–७९

से होंगे। सलीम के विरोध के बावजूद अमर सेठ धनीराम के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। वह कहता है कि "हम इसके सिवा और क्या चाहते हैं कि गरीब किसानों के साथ इन्साफ़ किया जाय और जब उस उद्देश्य को पूरा करने के इरादे से एक ऐसी कमेटी बनाई जा रही है, जिससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह किसानों के साथ अन्याय करे, तो हमारा धर्म है कि उसका स्वागत करें।"[1] हालाँकि सरकार लिखित रूप से ऐसा कोई आश्वासन नहीं देती कि वह इस समिति के निर्णयों को स्वीकार कर ही लेगी, किन्तु फिर भी अमर सेठ धनीराम के इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में संकोच नहीं करता। और, इस प्रकार महात्मा गांधी के सविनय अवज्ञा-आंदोलन की भाँति 'कर्मभूमि' का लगानबंदी-आंदोलन भी 'कमेटीवाद' और समझौते की भूलभुलैयाँ में खो जाता है। जनता के महान् बलिदानों को इस प्रकार व्यर्थ जाते हुए देखकर स्वभावत: किसी भी विचारशील पाठक को क्षोभ हुए बिना नहीं रहता। जनता की पीठ पीछे चुपचाप अमर का इस प्रकार आंदोलन को समाप्त करने का फ़ैसला कर लेना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। सेठ धनीराम और लाला समरकांत जैसे सेठ-साहूकारों और महाजनों ने हमेशा जनांदोलनों को दबाने में सरकार का साथ दिया है। पहले वे नौकरशाही से मिलकर जनता पर गोलियाँ चलवाते हैं, जमीन कुर्क करवाते है, फसलें और मवेशी नीलाम करवाते हैं; लेकिन जब देखते हैं कि अकेले दमन से ही जनता की विद्रोहात्मकता को नहीं कुचला जा सकता तो वे जनता के हिमायती बनकर मध्यस्थ बन बैठते हैं। प्रेमचन्द इस तथ्य को स्पष्ट करना नहीं भूले हैं कि सरकार की प्रेरणा से ही सेठ धनीराम मध्यस्थ बनकर जेल में अमर के पास आते हैं।[2] स्पष्ट है कि 'कर्मभूमि' में सेठ धनीराम ने जो रोल अदा किया है, वह एकदम प्रतिक्रियावादी है।

'कर्मभूमि' के इस अंत को हम प्रेमचन्द की समझौतावादिता का परिचायक नहीं मान सकते, क्योंकि यह अंत प्रेमचन्द का प्रतिपाद्य नहीं वरन् युग के सामाजिक यथार्थ पर एक गहरा और तीखा व्यंग्य है। कहना न होगा कि इस अंत के द्वारा प्रेमचन्द ने सेठ धनीराम अथवा अमरकांत की समझौतावादिता का समर्थन नहीं प्रत्युत् उस युग के कांग्रेसी नेतृत्व की दुर्बलताओं और सीमाओं की ओर संकेत किया है। प्रेमचन्द दिखाना यह चाहते हैं कि अमर जैसे 'मध्यवर्गीय' नेता चाहते हुए भी समझौतावाद को नहीं छोड़ सकते, किसान-मजदूरों के आंदोलन को अपना आंदोलन नहीं बना सकते। वे उन्हें सदा

---

१. कर्मभूमि, पृ० ४०८

२. "सेठजी ने शान्ति-पूर्वक कहा—× × × × इस विषय पर गवर्नर साहब से मेरी बातचीत हुई है और वह भी यही कहते हैं कि ऐसे जटिल मुआमले में विचार से काम नहीं लिया गया। तुम तो जानते हो, उनसे मेरी कितनी बेतकल्लुफ़ी है। नैना की मृत्यु पर उन्होंने खुद मातमपुर्सी का तार दिया था। × × × × साहब इस झगड़े को जल्द तय कर देना चाहते हैं।"

—कर्मभूमि, पृ० ४०६–७

'बेचारे किसान' और 'बेचारे मजदूर' ही समझते रहेंगे।

'कर्मभूमि' के इस अंत के द्वारा प्रेमचन्द ने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि मध्यवर्ग पूरी तरह कभी भी 'पूंजी' से विद्रोह नहीं कर सकता। वह 'पूंजी' से विद्रोह अवश्य करता है, किन्तु 'पूंजी' ने जहाँ जरा-सा प्रगतिशील रूप धारण किया नहीं कि वह हाथ फैलाकर उसे अपनाने दौड़ता है। 'कर्मभूमि' के अमर के साथ ठीक यही होता है। 'कर्मभूमि' के इस अंत से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अमर अब शीघ्र ही समरकांत का प्रतिरूप लाला अमरकांत बन जाएगा और थोड़े ही दिनों में उसकी शेष विद्रोहात्मकता भी समाप्त हो जाएगी। अमर का यह अंत उसके चरित्र की अत्यन्त स्वाभाविक परिणति है।

अमर के विरुद्ध प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में कतिपय ऐसे जीवन्त पात्रों की सृष्टि की है जिन्हें सरलता से हिंदी कथा-साहित्य के अमर यथार्थवादी पात्रों की अग्रिम पंक्ति में रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम सुखदा, सलोनी और सलीम का उल्लेख करना चाहेंगे। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द की शुद्ध यथार्थवादी जीवन-दृष्टि का परिचय मिलता है। 'कर्मभूमि' के ये चरित्र अमर की भाँति संघर्ष से पलायन अथवा समझौता नहीं करते। विनय, चक्रधर, अमर जैसे प्रेमचन्द के तथाकथित आदर्श चरित्रों के सर्वथा विपरीत 'कर्मभूमि' के इन पात्रों में संघर्ष के प्रति एक स्वस्थ एवं सहज दृष्टि-कोण मिलता है। सुखदा और सलोनी में हमें प्रेमचन्द के अब तक के स्त्री-पात्रों का चरम विकास मिलता है—सुमित्रा, सुमन, जालपा और अब सुखदा, सलोनी तथा मुन्नी ! अन्याय-प्रतिकार की जितनी तीव्र चेतना सुखदा, सलोनी और मुन्नी में है उसका शतांश भी अमर में नही है। कारण चाहे जो भी हो पर यह सत्य है ! इतने बड़े जनांदोलन का नायक बनकर भी अमर निराशा को नही त्याग पाता। रह-रहकर उसके मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या इस आंदोलन को शुरू करके उसने गलती नही की ? क्या आंदोलन के इलावा दूसरा कोई मार्ग नही रह गया था ?[1] किन्तु सुखदा को ऐसी कोई शंका नही सताती। उल्टे वह अमर को समझाती है कि बलिदान कभी व्यर्थ नही जाता। वह पूछती है कि जनता मे आज जो अभूतपूर्व जन-जागृति दिखाई दे रही है, क्या वह इन बलिदानों के बिना भी आ सकती थी ?[2] स्पष्ट है कि संघर्ष के प्रति सुखदा की 'एप्रोच' ही स्वस्थ और वैज्ञानिक 'एप्रोच' है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि अमरकांत की आदर्शवादिता के बावजूद 'कर्मभूमि' यथार्थवाद की दिशा मे प्रेमचन्द की विकास-यात्रा की दूसरी बड़ी मंजिल है। स्वभावतः इसके पश्चात् 'गोदान' आता है।

---

१. कर्मभूमि, पृ० ३७९
२. कर्मभूमि, पृ० ४१०

उत्तर गांधीयुगीन कृतियाँ

१. गोदान

प्रेमचन्द की सम्पूर्ण विशेषताएँ यदि एक ही स्थान पर देखनी हों तो निस्सन्देह हमें 'गोदान' का अध्ययन करना होगा। 'गोदान' प्रेमचन्द का अंतिम पूर्ण उपन्यास है, जिसमें हमें उनकी प्रतिभा का सर्वोच्च विकास दिखाई देता है। यदि कभी किसी कारण-वश प्रेमचन्द का शेष कृतित्व नष्ट हो जाय और केवल 'गोदान' ही बचा रह जाय तो भी वह उन्हें अमर रखने के लिए पर्याप्त होगा। 'गोदान' में प्रेमचन्द समाज-तत्त्व और कला-तत्त्व में एक असाधारण सामंजस्य उत्पन्न करने में सफल हो सके हैं, जो उनकी गोदान-पूर्व रचनाओं में बहुत कम पाया जाता है। यही कारण है कि 'गोदान' से पूर्व कला-तत्त्व की उपेक्षा के नाम पर जो आलोचक प्रेमचन्द की कटु आलोचना करते नहीं अघाते थे, उन्हें भी 'गोदान' को देखकर चुप हो जाना पड़ा है। होरी के रूप में गोदान-कार ने एक ऐसे चरित्र की सृष्टि की है, जो 'टाइप' ही नहीं 'व्यक्ति' भी है। 'टाइप' और 'व्यक्ति' का यह सामंजस्य 'गोदान' को समूचे हिंदी कथा-साहित्य में एक अनोखा वैशिष्ट्य प्रदान कर देता है।

लगभग एक युग तक दक्षिणपंथीय जीवन-दर्शन की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उपयोगिता को परखने के पश्चात् 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द के सम्मुख उसकी निस्सारता भली भाँति प्रकट हो चुकी थी। 'गोदान' तक आते-आते महात्मा गांधी के कार्यक्रम और जीवन-दर्शन के प्रति प्रेमचन्द की श्रद्धा-भक्ति की भावना खंडित हो चली थी और उनके आदर्शवाद में दरारें पड़ने लगी थीं। 'गोदान' तक आते-आते पाप और पुण्य, असत्य और सत्य के सनातन संघर्ष में पुण्य और सत्य की अन्तिम विजय में प्रेमचन्द की दृढ़ आस्था डगमगाने लगी थी। अपने इस विश्वास के कारण ही प्रेमचन्द ने गांधीयुगीन रचनाओं में प्रेमशंकर, मायाशंकर, सूरदास, चक्रधर, अमरकांत जैसे गांधीवादी पात्रों की सृष्टि की है और बुरे-से-बुरे व्यक्ति के हृदय में भी प्रेम, सेवा, त्याग, बलिदान आदि उच्च दैवी गुणों की अवस्थिति दिखाई है। अपनी इस आदर्श एवं सुधारवादी प्रवृत्ति के कारण प्रेमचन्द ने गांधीयुगीन उपन्यासों में शोषण के मूल पर प्रहार किए बिना ही रामराज्य की अवतारणा की है। इस गांधी-वादी विचारधारा से प्रेरित होने के कारण ही, गांधीयुगीन कृतियों में प्रेमचन्द के चरित्रों का आकस्मिक हृदय-परिवर्तन होता है, किन्तु 'गोदान' इस दृष्टि से एक सर्वथा भिन्न रचना है। उसमें न तो किसी आदर्शवादी नायक की सृष्टि की गई है और न समस्या का काल्पनिक तथा 'यूटोपियन' समाधान ही प्रस्तुत किया गया है। 'गोदान' में बल समस्या पर नहीं वरन् चरित्र (होरी) के विकास पर है। यही कारण है कि 'गोदान' के चरित्र समस्या के नीचे दबकर गौण नहीं बन गए हैं। 'गोदान' में समस्या या आदर्श की खातिर चरित्रों के स्वतंत्र और स्वाभाविक विकास को अनुचित ढंग से नहीं रोका

गया है। स्वभावत: 'गोदान' के प्रत्येक छोटे-बड़े चरित्र का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। उसका प्रत्येक पात्र एक जीवित इकाई है, किसी निर्जीव आदर्श का प्रतीक-मात्र नही। गोदानकार ने अपने आदर्श की रक्षा के लिए कहीं भी चरित्रों को अनावश्यक रूप से तोड़ा-मरोड़ा नही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'गोदान' प्रेमचन्द का पहला उपन्यास है जिसमें वे अपनी यथार्थ दृष्टि को आद्योपांत निभाए रखने में सफल हो सके हैं। 'गोदान' में किसी आदर्श का आग्रह नही है, वह शुद्ध यथार्थ के बेलाग चित्र प्रस्तुत करता है।

गोदानकार की संभवत: सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक समस्या से अधिक चरित्र (होरी) पर बल देकर भी वह सामाजिक वैषम्य और वर्ग-संघर्ष को अपने पूरे भयावह और नग्न रूप मे उभारकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में सफल हो सका है। 'गोदान' मे उपन्यासकार स्वय कुछ न कहकर अपने चरित्रों और कथा-विकास के माध्यम से कहता है। 'गोदान' से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यकार शुद्ध समाज-सुधारक तथा राजनीतिक प्रचारक बने बिना भी शोषण पर आधृत वर्त्तमान वर्ग-विभाजित समाज-व्यवस्था का सही चित्र प्रस्तुत कर सकता है और अपने पाठको के हृदय मे इस व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश की भावना उत्पन्न कर सकता है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' आदि उपन्यासो की भाँति 'गोदान' का लेखक किसी सामयिक आंदोलन या हलचल को आधार बनाकर नहीं चला है। किसी विशिष्ट सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक आदोलन को अपनी रचना का विपय न बनाकर गोदानकार ने भारतीय किसान के समूचे जीवन और उसके दु:ख-दर्द को ही वाणी प्रदान करने का प्रयास किया है। स्वभावत: प्रेमचन्द की गांधीयुगीन रचनाओ की अपेक्षा 'गोदान' मे एक असाधारण व्यापकता, गहराई, प्रभविष्णुता और महाकाव्योचित गरिमा आ गई है।

'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' मे सामन्तवाद और पूजीवाद के मध्य जो एक टकराव और संघर्प चित्रित किया गया है, 'गोदान' तक आते-आते वह पूरी तरह समाप्त हो जाता है। 'प्रेमाश्रम' और 'रगभमि' के समाज को न तो सामन्तवादी समाज कहा जा सकता है और न पूजीवादी। वह उस सक्रान्तिकाल का परिचायक समाज है जब कि देश मे पूंजीवाद का आगमन हो चुका था लेकिन अभी सामन्तवाद भी उसके समानान्तर चल रहा था। पुरानी समाज-व्यवस्था के विघटन की प्रक्रिया आरंभ हो चुकी थी, किन्तु अभी वह पूर्णता को प्राप्त नही हुई थी। पर 'गोदान' का समाज शुद्ध पूजीवादी या प्रेमचन्द के शब्दों मे महाजनी समाज है। सामन्तवाद के अवशेप के रूप मे हालांकि अब भी समाज मे जागीरदार और जमीदार हैं, लेकिन उनका स्वतंत्र रूप से कोई अस्तित्व नही है। जिस प्रकार किसान गॉव के महाजनों का कर्जदार है उसी प्रकार जमीदार भी शहर के महाजनों, बैंकरों, मिल-मालिकों और शेअर-ब्रोकरों का ऋणी

है। 'गोदान' के रायसाहब का सारा ठाठ-बाट इस नई व्यवस्था के प्रतीक खन्ना के सहारे ही चल रहा है, वर्ना एक दिन में उनका टाट उलट सकता है। 'गोदान' में चारों ओर, गाँव और शहर दोनों में समान रूप से महाजनों का बोल-बाला है। इस व्यवस्था में जमींदार अब इतना निर्बल और अशक्त हो गया है कि उसे गाँव के छोटे-से-छोटे महाजन से भी दबना और हार माननी पड़ती है। यह इस नई व्यवस्था का ही प्रताप है कि पं० दातादीन, झिंगुरीसिंह, नोखेराम, पटेश्वरी इत्यादि भी गाँव के जमींदार रायसाहब के विरुद्ध सिर उठाने का साहस कर सकते हैं।[1]

प्रेमचन्द के आलोचकों ने 'कर्मभूमि' और 'गोदान' उपन्यासों की दो सर्वथा पृथक् इकाइयों के रूप में परीक्षा की है, किन्तु यदि जरा गहराई से देखा जाय तो पता चलेगा कि बात ऐसी नहीं है। 'कर्मभूमि' और 'गोदान' उपन्यासों का एक-दूसरे से गहरा संबंध है। सच तो यह है कि वे एक-दूसरे की पूरक रचनाएँ ही हैं। 'गोदान' में 'कर्मभूमि' से आगे की कथा कही गई है। 'कर्मभूमि' के किसान सन् १९२९–'३० की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के कारण उत्पन्न भयंकर स्थिति का सामना करने के लिए जमींदार और सरकार के विरुद्ध संघर्ष (लगानबन्दी-आंदोलन) करते हैं। अमरकांत, लाला समरकांत और सेठ धनीराम जैसे नेताओं के प्रयत्नों से उन्हें लगान में कुछ अस्थायी छूट मिल जाती है। लेकिन इतने रक्तपात और दमन के पश्चात् मिलने वाली इस अस्थायी और नाकाफी छूट का किसानों की निरन्तर बिगड़ती हुई आर्थिक अवस्था पर कोई असर नहीं पड़ता। इस आर्थिक मंदी से पहले के वर्षों में अनाज और दूसरी चीजों की कीमतें बेहद बढ़ गई थीं। सरकार और जमींदारों ने स्वभावतः किसानों के लगान को भी उसी अनुपात में बढ़ा लिया था। इस प्रकार अनाज की कीमतों में इस वृद्धि का असली लाभ सरकार और जमींदारों को मिला, किसानों को नहीं। आर्थिक मंदी के दौरान और बाद के वर्षों में भी लगान उसी हिसाब से वसूल किया जाता रहा।[2] इस तथ्य के प्रकाश

१. गोदान, पृ० १६९–१७१

२. "The agricultural slump of 1929 and onwards came as a climax to a steadily worsening situation. For many years past world agricultural prices had tended to go up, and Indian agriculture, tacked on to the world market, had shared in this tendency. The disproportion in the development of industry and agriculture all over the world had everywhere sent up agricultural prices. As these prices went up in India, the Government revenue and the landlord's rent went up also, so that the actual cultivator hardly profited by this upward tendency. On the whole, the peasantry, except in some favoured areas, deteriorated. In the United Provinces rent went up much faster than revenue, the

में देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'कर्मभूमि' में किसानों को अमरकांत जैसे नेताओं के प्रयत्नों से लगान में कुछ-एक आनों की जो छूट मिलती है, वह वास्तव में कोई छूट नहीं थी। यह छूट किसानों के बोझ को हल्का करने में बिल्कुल असमर्थ थी। परिणामतः किसानों को लगान अदा करने के लिए विवश होकर महाजनों की शरण लेनी पड़ती है। और, यहीं से 'गोदान' की कहानी आरंभ होती है। 'कर्मभूमि' का अमरकांत किसानों को जिस अवस्था में छोड़कर लेन-देन का अपना पैतृक धंधा अपना लेता है, उसके बाद क्रमशः किसान स्वभावतः सूदखोर महाजनों के चँगुल में फँसता चला जाता है। धीरे-धीरे उसके चारों ओर महाजन का फँदा कसता चला जाता है और एक दिन वह आता है कि उसकी दो-तीन बीघे जमीन पर महाजन का कब्जा हो जाता है और वह अपने ही खेत में मजदूर बनकर काम करने के लिए मजबूर हो जाता है। 'गोदान' में किसानों की इस विवशता का ही चित्रण किया गया है।

यूँ तो 'गोदान' की कथा-धारा इतनी विस्तृत और व्यापक है कि उसके अन्तर्गत भारतीय कृषक के जीवन का सम्पूर्ण वृत्त ही आ जाता है, किन्तु फिर भी अध्ययन की स्पष्टता के लिए यह कहा जा सकता है कि 'गोदान' की प्रमुख समस्या ऋण की समस्या है। महाजन, कर्ज और सूद यद्यपि हिन्दुस्तानी किसान के लिए कभी भी अपरिचित शब्द नहीं रहे, लेकिन आर्थिक संकट के दौरान और बाद के वर्षों में इन शब्दों ने उसके लिए एक नया और डरावना रूप धारण कर लिया। सेंट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी (Central Banking Enquiry Committee) के अनुसार सन् '३१ में भारतीय किसानों पर कुल ९०० करोड़ रुपये का कर्ज था।[१] सन् '३१ के बाद के ५-६ वर्षों में हिन्दु-

---

proportion of relative increase of these two during the first thirty years of this century being nearly (to quote from memory) five to one. Thus while the Government's income from land increased substantially, the landlord's income increased far more, and the tenant remained, as ever, at starvation level. Even where prices fell or there were local natural calamities—× × ×—the rent and revenue remained at the original figures, some remissions being granted very hesitatingly, for the season only."

—An Autobiography : Nehru, P. 301

१. "The total volume of rural debt at that time (1931) was estimated by the Committee at 900 crores of rupees, or £ 675 million. Since then, following the economic crisis and the collapse of agricultural prices, a very steep further increase has taken place, and recent estimates place the total at double the figure."

—India Today, P. 232

स्तानी किसान पर कर्ज का यह बोझ लगभग दुगुना हो गया था।[1] कहना न होगा कि सन् '२९–'३० से '३५–'३६ तक के वर्ष भारतीय किसानों के लिए बहुत ही कसाले के वर्ष थे। किसानों की इस निरन्तर गिरती हुई दशा को रोकने के लिए सरकार ने सन् '३३–'३५ के बीच में कई नए एक्ट पास किए। अकेले संयुक्त प्रांत में ही १९३४ में पाँच Debt Relief Acts पास किए गए।[2] लेकिन इन कानूनों में किसानों को महाजनों के पंजे से छुड़ाने की शक्ति नहीं थी, अतः उनमें असन्तोष बढ़ता ही गया। दो-तीन वर्षों के अन्दर ही इतने सारे एक्ट पास किया जाना दिखाता है कि सन् '३४-'३५ तक किसानों पर ऋण का बोझा अत्यधिक बढ़ गया था। फलतः सरकार इस समस्या के प्रति अब और अधिक उदासीन नहीं रह सकती थी।

'गोदान' में प्रेमचन्द ने भारतीय किसान की इसी समस्या को उठाया है। 'गोदान' के प्रणयन-काल में स्वयं प्रेमचन्द भी कर्जदार हो गए थे। कर्ज से छुटकारा पाने के लिए ही उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध फ़िल्म-व्यवसाय में जाना पड़ा था। वहाँ से उन्होंने जैनेन्द्र कुमार को लिखा था : "मैं जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। × × × यह साल तो पूरा करना है ही। कर्जदार हो गया था, कर्ज पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं। उधर मन ही नहीं जाता।"[3] स्पष्ट है कि 'गोदान' में प्रेमचन्द ने होरी की जीवन-गाथा के साथ-साथ अपनी कहानी भी कही है।

होरी अवध के बेलारी गाँव का एक छोटा-सा किसान है। उसकी ३-४ बीघे की खेती है। घर में कुल मिलाकर ५ प्राणी हैं—होरी, धनिया, गोबर, सोना और रूपा। छोटे-बड़े पाँचों-के-पाँचों जी-तोड़ मेहनत करते हैं, लेकिन फिर भी आधे भूखे और आधे नंगे रहते हैं। पूरी-की-पूरी फसल खलिहान से ही जमींदार और महाजन के पेट में चली जाती है। इस पर भी जब जमींदार के आधे रुपये और देने बाकी रह जाते हैं तो होरी को दुलारी सहुआइन की शरण में जाना पड़ता है। जमींदार तो एक ही है, किन्तु महाजन

---

१. An Autobiography : Nehru, P. 302

२. "The government passed a number of relief measures to alleviate the conditions of the kisans. In the U. P., five Debt Relief Acts were passed in 1934 ; in the Punjab, the Regulation of Accounts Act was passed in 1934 ; in Bengal, the Moneylenders Act was passed in 1933 and the Relief of Indebtedness Act in 1935. Since even this legislation did not appreciably improve the position of the kisans, their discontent continued to grow and find expression in the growth of the kisan movement."

—Social Background of Indian Nationalism, P. 168

३. प्रेमचन्द-स्मृति, पृ० ९२

पूरे आधा दर्जन हैं—झिंगुरीसिंह, लाला पटेश्वरी, नोखेराम, पण्डित दातादीन, मँगरू और दुलारी।[१] पाँच वर्ष हुए होरी ने मँगरू से बैलों के लिए साठ रुपये लिए थे। इस अर्से में होरी मँगरू को साठ रुपये दे देता है, लेकिन वे साठ ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। तीन साल पहले दातादीन से तीस रुपये लेकर आलू बोये थे। आलू तो चोर खोद ले गए, पर दातादीन के तीस इस अर्से में सौ हो जाते हैं। बटवारे के समय भाइयों को देने के लिए होरी ने दुलारी से चालीस रुपये लिए थे—वे भी इस बीच में सौ हो जाते हैं।[२] एक होरी की ही यह दशा नहीं थी, सारा गाँव इसी भाँति महाजनों के जाल में फँसा हुआ था। शोभा और हीरा को होरी से अलग हुए अभी केवल तीन साल ही हुए थे, लेकिन उन पर भी चार-चार सौ का कर्ज चढ़ गया था। झींगुर के यहाँ दो हल की खेती थी, पर उसे भी एक हजार से अधिक देना था।[३] कर्ज की चिंता होरी को दिन-रात परेशान करती रहती थी, पर इससे छुटकारा पाने का उसे कोई मार्ग दिखाई नहीं देता था। वह चाहता था कि किसी से एक पाई भी कर्ज न ले, पर मजबूर होकर लेना पड़ता था।[४] होरी इस बात को अच्छी तरह जानता है कि 'कर्ज़ वह मेहमान है, जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता'[५] लेकिन फिर भी उसे विवश होकर बार-बार इस अवांछित अतिथि को अपने घर आमंत्रित करना पड़ता है। किसान चाहता है कि महाजन उसे एक पैसा भी कर्ज न देवे, पर यदि पैसे वाले उसे उधार न देवें तो उनकी हजारों की सम्पत्ति कैसे जुड़े? एक महाजन यदि किसान पर दावा करके कुर्की लाता है तो दूसरा दौड़ा हुआ सहानुभूति जताने आकर सूद पर रुपये दे जाता है। किसान एक के पाश से निकलकर दूसरे के जाल में फँस जाता है।[६] होरी को अपनी ईख के एक सौ बीस रुपये मिलते हैं, लेकिन घर वह खाली हाथ ही पहुँचता है।[७] गिरधारी की दशा तो और भी शोचनीय है। बीस लेकर

---

१. गोदान, पृ० २३
२. गोदान, पृ० ३५
३. गोदान, पृ० ३६
४. "कितना चाहता है कि किसी से एक पैसा कर्ज न ले, जिसका आता है, उसका पाई-पाई चुका दे; लेकिन हर तरह का कष्ट उठाने पर भी गला नहीं छूटता। इसी तरह सूद बढ़ता जायगा और एक दिन उसका घर-द्वार सब नीलाम हो जायगा, उसके बाल-बच्चे निराश्रय होकर भीख मांगते फिरेंगे। होरी जब काम-धन्धे से छुट्टी पाकर चिलम पीने लगता था, तो यह चिन्ता एक काली दीवार की भांति चारों ओर से घेर लेती थी, जिसमें से निकलने की उसे कोई गली न सूझती थी; मगर सन्तोष था, तो यही कि यह विपत्ति अकेले उसी के सिर न थी। प्रायः सभी किसानों का यही हाल था। अधिकांश की दशा तो इससे भी बदतर थी।"

—गोदान, पृ० ३६

५. गोदान, पृ० १०३
६. गोदान, पृ० १८३
७. गोदान, पृ० १८५

एक सौ साठ भरता है।[1] अभागा किसान ऋण लेने के पश्चात् ही महाजन के सूद-दर-सूद का शिकार नहीं होता; लेने से पहले भी नजराने, तहरीर, कागज, दस्तूरी और पेशगी सूद के नाम पर उसकी लूट जारी हो जाती है। गोदानकार ने महाजनों के इन हथकण्डों का बड़ा ही तीखा और व्यंग्यपूर्ण वर्णन किया है।[2] वह दिखाता है कि इन हथकण्डों के सहारे ही एक-एक महाजन ने हजारों की सम्पत्ति बना ली है।[3]

प्रेमचन्द इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित थे कि कानून के पास इन महाजनी हथकण्डों का कोई इलाज नहीं है। कानून और न्याय, पुलिस और अदालत भी उसी के साथ है, जिसके पास पैसा है। झिंगुरीसिंह दातादीन को आश्वस्त करते हुए कहता है: "तुम क्या कहते हो पंडित, क्या तब संसार बदल जायेगा। कानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है। कानून तो है कि महाजन किसी असामी के साथ कड़ाई न करे, कोई जमींदार किसी कास्तकार के साथ सख्ती न करे; मगर होता क्या है। रोज ही देखते हो। जमींदार मुसक बँधवा के पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात करता है। × × × असामी में इतना बूता है कि रोज अदालत दौड़े? सारा कारबार इसी तरह चला जायगा, जैसे चल रहा है। कचहरी-अदालत उसी के साथ है, जिसके पास पैसा है। हम लोगों को घबराने की कोई बात नहीं!"[4] प्रेमचन्द जानते थे कि जब तक सरकार किसानों को नाम-मात्र के सूद पर कर्ज देने की व्यवस्था नहीं करती, तब तक केवल कानून बनाने से कुछ नहीं हो सकता।[5]

महात्मा गांधी ने यद्यपि इस समस्या पर प्रत्यक्ष रूप से कहीं विचार नहीं किया है, किन्तु उनके अस्तेय, अपरिग्रह, शरीर-श्रम आदि सिद्धान्तों के आधार पर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे साहूकारी के वर्त्तमान स्वरूप के विरोधी थे। गांधीवाद में इस समस्या पर उसके आर्थिक संदर्भ में नहीं प्रत्युत् पाप, हिंसा और अनैतिकता के दृष्टिकोण से विचार किया गया है। गांधीवाद के प्रमुख विचारक स्वर्गीय श्री किशोरी लाल मशरूवाला के शब्दों में "अपढ़, भोले और विश्वासपरायण लोगों अथवा विलास-लिप्त अमीरों या राजा-रईसों को बुरे खर्चों और व्यसनों में पड़ने को प्रोत्साहित कर उन्हें कर्ज में फंसाना, देन-लेन के व्यवहार में उन्हें ठगना, झूठे बहीखाते और दस्तावेज बनाना साहूकारी नहीं बल्कि ज्वलन्त पाप और हिंसा है।"[6] कहना न होगा कि उपर्युक्त उदाहरण से एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है, और वह यह कि गांधीवाद, स्वयं साहू-

---

१. गोदान, पृ० १८६
२. गोदान, पृ० २१८–१९
३. गोदान, पृ० १२५
४. गोदान, पृ० २४७
५. गोदान, पृ० २४७
६. गांधी-विचार-दोहन, पृ० ६५

कारी को नहीं बल्कि उसके वर्त्तमान स्वरूप को गलत समझता है। स्पष्ट है कि गांधीवाद की यह विचारधारा होरी, हीरा, शोभा, गिरधारी आदि को दातादीन, झिंगुरीसिंह, नोखेराम, मँगरू साह, दुलारी सहुआइन और पटेश्वरी के चँगुल से मुक्ति नहीं दिला सकती।

प्रेमचन्द किसानों के चौमुखी शोषण की जिस दर्दनाक स्थिति का 'गोदान' में चित्रण करने में सफल हो सके हैं, वह उनके पूर्व गांधीयुगीन या गांधीयुगीन उपन्यासों में सर्वथा विरल है। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने किसानों के शोषणकर्ताओं की एक लंबी सूची पेश की है—मातादीन आदि आधा दर्जन महाजन, जमींदार रायसाहब, जमींदार के चपरासी और कारिन्दे, पटवारी, तहसीलदार, थानेदार और पुलिस के दूसरे कर्मचारी, कानूनगो, कलक्टर, कमिश्नर तथा दूसरे अनेक सरकारी और अर्द्ध-सरकारी अफसर।[1] इन असंख्य जोंकों के कारण किसान का समस्त जीवन-रस निचुड़ गया है। उसके जीवन में कोई रस, कोई आशा, कोई उमंग, कोई आनन्द, कोई हरियाली नहीं रह गई है। उसके सामने कोई भविष्य नहीं है, कोई वर्त्तमान नहीं है। उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और चेतना शिथिल हो गई हैं। वह जीवित मनुष्य न रहकर एक ऐसी चलती-फिरती कठपुतली मात्र रह गया है, जिसकी डोर उसके शोषणकर्ताओं के हाथ में है। इस शोषण के कारण उसका इतना पतन हो चुका है कि वह धेले-धेले के लिए बेईमानी कर सकता है, मुट्ठी-भर अनाज के लिए लाठियाँ चला सकता है।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि किसानों के शोषण का चित्रण करते हुए गोदानकार उसे एक महान् यथार्थवादी कलाकार की निर्ममता से चरम परिणति तक पहुँचा सका है, किन्तु फिर भी 'गोदान' में एक कमी खटकती है। 'गोदान' का किसान अपने शोषण की इस भयंकरता और तीव्रता को अनुभव तो करता है, लेकिन इससे आगे वह नहीं बढ़ पाता। उसके मन में अपनी वर्त्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष भी है और रोष भी, लेकिन उसका यह असन्तोष और रोष निष्क्रियता की सीमा को नहीं लाँघ पाता। शोषण के विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष करने का, वर्त्तमान स्थिति से मुक्ति पाने का वह कोई प्रयत्न नहीं करता। शोषण ने उसे इतना निर्जीव और निराश बना दिया है कि वह वर्त्तमान स्थिति के अतिरिक्त किसी और स्थिति की कल्पना ही नहीं कर पाता। इस दृष्टि से गोदान-पूर्व उपन्यासों का किसान अधिक संघर्ष-रत, अधिक संगठित और अपने भविष्य के प्रति अधिक आशावान है। ऐसी बात नहीं है कि 'गोदान' के किसान संगठन की आवश्यकता महसूस न करते हों,[3] लेकिन वे जड़ता की उस स्थिति तक पहुँच चुके हैं जहाँ

---

१. गोदान, पृ० ३५३-५४

२. गोदान, पृ० ३५६

३. "कौन कहता है कि हम-तुम आदमी हैं। हममें आदमियत कहाँ? आदमी वह है, जिनके पास धन है, अख्तियार है, इल्म है, हम लोग तो बैल हैं और जुतने के लिए पैदा हुए हैं। उस पर

पहुँच कर मनुष्य अनुभव करते हुए भी कुछ नहीं कर पाता।

'गोदान' के किसानों में संगठित संघर्ष की भावना चाहे जन्म न ले पाई हो, किन्तु उसका लेखक यह संकेत करना नहीं भूला है कि नई पीढ़ी के युवक किसान धीरे-धीरे इसी ओर बढ़ रहे हैं। गोबर किसानों में उद्बुद्ध हो रही अन्याय-प्रतिकार की इस नई चेतना का प्रतीक है। गोबर के चरित्र को प्रेमचन्द यद्यपि सही दिशा नहीं प्रदान कर सके हैं, किंतु फिर भी उसके चरित्र में शोषण के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह की भावना अत्यन्त प्रखर है। उपन्यास के आरम्भ में ही हम उसे होरी के इस अन्ध विश्वास को दूर करने का प्रयास करते हुए पाते हैं कि छोटे और बड़े, अमीर और गरीब भगवान के घर से बनकर आते हैं। वह कहता है: "यह सब मन को समझाने की बातें हैं। भगवान सबको बराबर बनाते हैं। यहाँ जिसके हाथ में लाठी है, वह गरीबों को कुचलकर बड़ा आदमी बन जाता है।"[1] वह जानता है कि जमींदार रायसाहब का भजन-भाव और दान-पुण्य किसानों और मजदूरों के शोषण के बल पर ही चलता है।[2] गोबर जानता है कि महाजन असामी को एक बार कुछ कर्ज देकर किस प्रकार कई-कई पीढ़ियों तक गुलामी करवाते हैं। वह पं० दातादीन से साहसपूर्वक कहता है—किसी को सौ रुपये उधार देकर उससे सूद में जिन्दगी भर काम करवाना महाजनी नहीं खून चूसना है।[3] 'सवा सेर गेहूँ' शीर्षक अपनी एक कहानी में भी प्रेमचन्द ने 'गोदान' के पं० दातादीन की ही बिरादरी के एक अन्य विप्रवर की कहानी कही है, जो पुरोहिताई और महाजनी दोनों करते हैं। कहानी

एक दूसरे को देख नहीं सकता। एका का नाम नहीं। एक किसान दूसरे के खेत पर न चढ़े, तो कोई जाफा कैसे करे, प्रेम तो संसार से उठ गया।"

—गोदान, पृ० २३

× × ×

"अभी जमींदार ने गाँव पर हल पीछे दो-दो रुपये चन्दा लगाया। किसी बड़े अफसर की दावत की थी। किसानों ने देने से इनकार कर दिया। बस, उसने गाँव पर जाफा कर दिया। हाकिम भी जमींदार ही का पच्छ करते हैं। ××× और यह सब हमारे दब्बूपन का फल है। मैंने गाँव भर में डोंडी पिटवा दी कि कोई बेसी लगान न दो और न खेत छोड़ो, × × × × जमींदार ने देखा, सारा गाँव एक हो गया है, तो लाचार हो गया। खेत बेदखल कर दे, तो जोते कौन!"

—गोदान, पृ० ३५४

१. गोदान, पृ० १६

२. "नहीं, किसानों के बल पर और मजदूरों के बल पर। यह पाप का धन पचे कैसे? इसीलिए दान-धर्म करना पड़ता है, भगवान का भजन भी इसीलिए होता है, भूखे-नंगे रहकर भगवान का भजन करें, तो हम भी देखें। हमें कोई दोनों जून खाने को दे, तो हम आठों पहर भगवान का जाप ही करते रहें। एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े तो सारी भक्ति भूल जाय।"

—गोदान, पृ० १६

३. गोदान, पृ० २२०

का नायक शंकर सवा सेर गेहूँ के बदले २० साल तक विप्रजी के यहाँ गुलामी करता है, किन्तु फिर भी उसके सिर पर १२०) की देनदारी रहती है । शंकर की मृत्यु के बाद पंडितजी उसके जवान बेटे की गरदन पकड़ लेते हैं ।[१]

गोबर के अतिरिक्त 'गोदान' में एक और भी ऐसा चरित्र है जो अन्याय के सामने झुकना या दबना नहीं जानता—वह है धनिया । जीवन की तल्खियों ने उसे किसी हद क कटुभाषिणी बना दिया है, पर हृदय से वह अब भी उदार और सहृदय है। सारे गाँव : विरोध के बावजूद झुनिया और सिलिया को अपने घर में रखकर वह दिखा देती है क उसका हृदय कितना विशाल और पवित्र है! पं० दातादीन जब उसे 'घर की मरजाद' ौर 'कुल-परतिसठा' की याद दिलाते हैं तो वह तीव्र स्वर में कहती है : "हमको कुल-रतिसठा इतनी प्यारी नहीं है महाराज, कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते । याहता न सही, पर उसकी बाँह तो पकड़ी है मेरे बेटे ने ही । किस मुँह से निकाल देती । ाही काम बड़े-बड़े करते हैं, मुदा उनसे कोई नहीं बोलता, उन्हें कलंक ही नहीं लगता । ाही काम छोटे आदमी करते हैं, तो उनकी मरजाद बिगड़ जाती है, नाक कट जाती ै । बड़े आदमियों को अपनी नाक दूसरों की जान से प्यारी होगी, हमें तो अपनी नाक तनी प्यारी नहीं ।"[२] धनिया की इस चुनौती के उत्तर में बिरादरी उस पर सौ रुपये कद तावान और तीस मन अनाज डाँड़ लगा देती है । लेकिन धनिया—जिसे सुमित्रा, ुमन, जालपा, सुखदा, नोहरी, मुन्नी आदि प्रेमचन्द की संघर्ष-रत नारियों की विद्रोहात्मकता वेरासत में मिली है—बिरादरी के इस अन्याय का तीव्र विरोध करती है । बिरादरी का भय उसे आतंकित नहीं कर पाता, क्योंकि वह जानती है कि बिरादरी में रहने से उसे कोई लाभ नहीं है । वह कहती है : "हमें नहीं रहना है बिरादरी में । बिरादरी में रह-कर हमारी मुकुत न हो जायगी । अब भी अपने पसीने की कमाई खाते हैं, तब भी अपने पसीने की कमाई खायँगे ।"[३] धनिया की यह विद्रोहात्मकता और तेजस्विता उस समय अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है जब वह पं० दातादीन को चुनौती भरे स्वर में कहती है : "भीख माँगो तुम जो भिखमँगे की जात हो । हम तो मजूर ठहरे, जहाँ काम करेंगे, वहीं चार पैसे पायेंगे ।"[४] हालाँकि अपने पति होरी के दब्बूपन के कारण धनिया की यह अपूर्व तेजस्विता और विद्रोहात्मकता फलवती नहीं हो पाती, पर अन्याय और शोषण के विरुद्ध संघर्ष की चिनगारी को जीवित रखने में उसका महत्त्व निर्विवाद है ।

मजदूर और किसान के स्वभाव में कुछ मूलभूत मनोवैज्ञानिक अन्तर होता है । (यहाँ किसान से हमारा तात्पर्य उस किसान से है जिसके पास जमीन—चाहे वह जमीन

---

१. मानसरोवर, भाग ४ पृ० १८६–१९६
२. गोदान, पृ० १२४–२५
३. गोदान, पृ० १२८
४. गोदान, पृ० २०६

कितनी ही उपेक्षणीय क्यों न हो—है। भूमिहीन किसान को (वस्तुतः किसान कहा ही नहीं जा सकता, उसे तो मजदूर की श्रेणी में ही रखना होगा।) (क) जायदाद (थोड़ी या बहुत) का स्वामी होने के कारण किसान स्वभावतः क्रांतिकारी परिवर्तन का विरोधी (Conservative) होता है; लेकिन मजदूर के पास चूंकि किसी प्रकार की व्यक्तिगत संपत्ति (Private property) नहीं होती, वह किसान की भाँति रूढ़िवादी और अंधविश्वासी नहीं होता। (ख) अपने छोटे-से खेत पर व्यक्तिगत उत्पादन में लगे रहने के कारण किसान साधारणतः सामूहिक राजनीतिक या आर्थिक आंदोलनों से, जहाँ तक हो सकता है, दूर ही रहता है। अर्थात् अपने उत्पादन के ढंग के कारण वह व्यक्तिवादी हो जाता है। यही कारण है कि मिलों और फैक्टरियों में काम करने वाले मजदूरों की अपेक्षा किसान की आर्थिक दशा बहुत अधिक शोचनीय होने पर भी वह व्यवस्थित और सामूहिक आंदोलनों से बचता है; जब कि मजदूरों में राजनीतिक चेतना अधिक प्रखर होने के कारण—और यह प्रखरता उन्हें उत्पादन के उस सामूहिक ढंग से हासिल होती है जिसमें वे अपने सैकड़ों-हजारों साथियों के साथ दिन-रात लगे रहते हैं—वे इस प्रकार के आंदोलनों में सदा अग्रणी रहते हैं। (ग) किसान का जीवन गाँवों का जीवन होता है; और गाँवों का जीवन धीमा, एकरस, परिवर्तनरहित और लगभग अर्द्ध-निष्क्रिय होता है। ऐसे वातावरण में पले होने के कारण किसान प्रकृत्या दीन-दुनिया से बेखबर और 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' की मनोवृत्ति वाला हो जाता है। (घ) एक और भी कारण है जिसकी वजह से किसान देश के अन्य पिछड़े हुए समुदायों की तुलना में अधिक अंधविश्वासी और भाग्यवादी होता है। पिछड़े हुए कृषि-प्रधान देशों में—जहाँ विज्ञान अधिक उन्नत-अवस्था में नहीं होता—किसान का सारा जीवन प्राकृतिक शक्तियों की कृपा पर निर्भर करता है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, टिड्डियों का प्रकोप, ओले, पाला इत्यादि में से एक भी उसकी मेहनत और आशाओं पर पानी फेरने को काफी है। स्वभावतः वह किसी सीमा तक निराशावादी और प्राकृतिक तथा मानवीय मुसीबतों से सामूहिक संघर्ष करने की बजाए उनसे समझौता करने का अभ्यस्त हो जाता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में होरी के चरित्र को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि होरी परंपरागत किसान का हूबहू प्रतिनिधि है। एक पिछड़े हुए कृषि-प्रधान देश के किसान की सभी विशेषताएँ—अच्छाइयाँ और बुराइयाँ उसमें मौजूद हैं। अपनी कृषक-प्रकृति के कारण ही होरी अपने शोषकों—जमींदार और महाजनों—से मेल-जोल रखने में अपनी भलाई समझता है। उसका यह सहज विश्वास है कि "जब दूसरे के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"[2] होरी का यह विश्वास या व्यवहार-कुशलता उसके भाग्यवाद की उपज है। गरीबी, भूख और दासता का

१. Social Background of Indian Nationalism, P. 169-70

२. गोदान, पृ० ५

होरी इतना आदी हो जाता है कि वह उन्हें सर्वथा स्वाभाविक और भगवान की देन मानने लगता है। वह कहता है: "भगवान ने जब गुलाम बना दिया है, तो अपना क्या बस है।"[१] वह मानता है कि "छोटे-बड़े भगवान के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये हैं, उनका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नही संचा, तो भोगें क्या ?"[२] एक सामान्य भारतीय किसान की भाँति होरी पक्का परंपरावादी और मर्यादावादी है। वर्तमान बदली हुई परिस्थितियों में खेती के धंधे में कोई लाभ नहीं रह जाता। परिवार सहित पूरे साल जी-तोड़ मेहनत करने पर भी होरी को जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति-भर के लिए खेत से नहीं मिल पाता, लेकिन फिर भी वह भरसक अपनी ३-४ बीघे जमीन से चिपटा रहता है। वह स्वीकार करता है कि दस रुपये महीने का नौकर भी हमसे अच्छा खाता-पहनता है, लेकिन उसमें इतना साहस नहीं है कि इस झूठी मर्यादा के जूए से मुक्ति पाने का प्रयास करे। उसके अनुसार खेती में जो 'मरजाद' है, वह नौकरी या मजदूरी में कहाँ ?[३] इस झूठी मर्यादा की रक्षा के लिए होरी क्या नहीं करता ? भूखा रहता है, पुआल में घुसकर जाड़े की रातें काटता है, घर की इज्जत बचाने के लिए अनाप-शनाप सूद पर कर्ज लेकर दरोगा को रिश्वत देता है (यह बात दूसरी है कि धनिया के साहसपूर्ण विरोध के कारण यह बला होरी के बजाए गाँव के पंचों के सिर पर पड़ जाती है।[४]), गाँव के पंचों को तावान देता है। स्वभावतः यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि क्या जीवन-भर मरने-खपने के बावजूद होरी इस मर्यादा की रक्षा कर पाता है ? जाहिर है कि प्रश्न के दो उत्तर नहीं हो सकते ! अपने समस्त प्रयत्नों के बावजूद अंत तक पहुँचते-पहुँचते होरी एक किसान-सद्गृहस्थ से 'मजूर' बन जाता है, उसकी 'मरजाद' समाप्त हो जाती है। अपनी 'मरजाद' को खोकर उसे इस बात की समझ आ जाती है कि "इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख। सुख तो जब है, कि सभी मोटे हों।"[५] इस प्रकार होरी अपनी 'मरजाद' और 'जँजात' खोकर जो सच्चाई प्राप्त करता है, वह आधुनिक युग की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—इसमें संदेह नहीं।

अत्यन्त प्राचीन काल से धर्म शोषण का कवच और आवरण रहा है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में शोषण और धर्म के इस अन्योन्याश्रित संबंध की बराबर पोल खोली है। 'गोदान' के पं० दातादीन इस अन्योन्याश्रित संबंध की सबसे ताजा मिसाल है। पं०

१. गोदान, पृ० १६
२. गोदान, पृ० १६
३. गोदान, पृ० १८
४. गोदान, पृ० ११३-११६
५. गोदान, पृ० ३६२

दातादीन चोरी तो नहीं करते थे, पर चोरी के माल में हिस्सा बँटाने के लिए अवश्य पहुँच जाते थे। वे चोर के भी दोस्त थे और साह के भी।[1] पं० दातादीन जन्म में भी लेते थे और मृत्यु में भी; शादी में भी लेते थे और गमी में भी। खेती, लेन-देन और दलाली करते थे।[2] दातादीन अपनी जवानी मे बड़ा रसिया रह चुका था, लेकिन अपने नेम-धर्म को उसने कभी हाथ से नहीं छूटने दिया। अत: कभी कोई व्यक्ति दातादीन के रसियापन पर उँगली नहीं उठा सका।[3] 'गोदान' में शोषक वर्ग के और जितने भी व्यक्ति हैं (रायसाहब अमरपालसिंह, लाला पटेश्वरी पटवारी, पं० नोखेराम कारकुन इत्यादि) प्रेमचन्द ने उनके भक्ति-भाव और दान-धर्म की भीतरी असलियत को पाठकों के सामने रखने का सफल प्रयत्न किया है। रायसाहब अमरपालसिंह चार घंटे रोज भगवान का भजन करते हैं; दान-धर्म में भी वे सबसे आगे रहते हैं। पर रायसाहब का यह भजन-भाव और दान-धर्म उनके असामियों के शोषण में कोई बाधा नहीं डालता। लाला पटेश्वरी गाँव-भर में पुण्यात्मा प्रसिद्ध थे। प्रत्येक पूर्णमासी को सत्यनारायण की कथा सुनते थे और बुखार के दिनों में सरकारी कुनैन बाँटकर मुफ्त का यश कमाते थे। पर सारा गाँव उनसे काँपता था। गरीब किसानों को दस-दस, पाँच-पाँच रुपये कर्ज देकर हजारों की संपत्ति जोड़ ली थी। खेत बेगार में जुतवाते थे, सिंचाई बेगार में करवाते थे और असामियों को एक-दूसरे से लड़ाकर रकमें मारा करते थे।[4] पं० नोखेराम बड़े कुलीन ब्राह्मण थे। प्रातःकाल ही पूजा पर बैठ जाते थे और दस बजे तक बैठे राम-नाम लिखा करते थे। मगर पूजा से उठते ही उनकी समस्त धार्मिकता का लोप हो जाता था।[5] इन उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि भजन-भाव और धर्म-परायणता आत्मा की शुद्धि के साधन नहीं, बल्कि उसकी विकृति पर आवरण डालने के साधन-मात्र रह गए हैं।

आधुनिक युग में शोषण के एक अन्य आवरण की सृष्टि हो गई है—वह है देश-भक्ति! आधुनिक युग में आकर शोषण के आवरण के रूप में धर्म धीरे-धीरे प्रभावहीन होता जा रहा है। गाँवों की भोली-भाली, अपढ़ और सहज विश्वास-परायण जनता भी अब धर्म की आड़ में होने वाले अत्याचारों को चुपचाप श्रद्धापूर्वक सहने से धीरे-धीरे इंकार करने लगी है। 'सेवासदन' के चेतू अहीर और 'कर्मभूमि' के गूदड़ चौधरी को हमारे कथन के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। फलत: शोषक वर्ग धर्म की रामनामी को त्यागकर देशभक्ति की चादर ओढ़ने लगा है, जो आज की बदली हुई परिस्थितियों में धर्म की रामनामी से कहीं अधिक प्रभावपूर्ण है। 'गोदान' में जमींदार

---

१. गोदान, पृ० १२५
२. गोदान, पृ० २१३
३. गोदान, पृ० २४८
४. गोदान, पृ० १२५
५. गोदान, पृ० १२७

रायसाहब अमरपालसिंह और मिल-मालिक मि० खन्ना इस नवीन शोषण-पद्धति के प्रमुख प्रतिनिधि हैं। पिछले सत्याग्रह-संग्राम अर्थात् सविनय अवज्ञा-आंदोलन में रायसाहब कौंसिल की मेम्बरी छोड़कर जेल हो आए थे। रायसाहब के इस 'महान् त्याग' ने उन्हें असामियों का श्रद्धास्पद बना दिया था। हालांकि उनके इलाके में असामियों के साथ कोई विशेष रियायत नहीं की जाती थी, डाँड और बेगार भी उसी कड़ाई से ली जाती थी; लेकिन इसकी सारी बदनामी उनके मुख्तारों के सिर जाती थी। राष्ट्रवादी होने पर भी रायसाहब की राजभक्ति या हुक्कामपरस्ती में कोई फर्क नहीं आता।[1] ब्रिटिश साम्राज्य भी उनकी इस देशभक्ति के रहस्य से भली भाँति परिचित था। यही कारण है कि उनकी राज-सेवाओं के बदले न केवल उन्हें राजा की पदवी प्रदान की जाती है, बल्कि होम मेम्बर भी बना दिया जाता है। हिज़ एक्सेलेन्सी गवर्नर द्वारा पदवी प्रदान किए जाने के अवसर पर स्वभावतः रायसाहब के हृदय में राजभक्ति की तरंगें उठने लगती हैं।[2] अमरपालसिंह समाजवाद, आधुनिक युग में जमींदारी प्रथा की अनुपयोगिता, सामाजिक और आर्थिक असमानता, जमींदारों के अत्याचारों इत्यादि के संबंध में लंबी-चौड़ी बातें करते हैं। व्यावहारिक क्षेत्र में आते ही वे इन बातों को कितनी जल्दी और किस सफाई से भूल जाते हैं—इसका गोदानकार ने बहुत सूक्ष्म (Subtle) वर्णन किया है।[3] मिस्टर खन्ना भी इसी श्रेणी के देश-भक्तों में से हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में "उन्होंने हमेशा जनता के साथ मिले रहने की कोशिश की थी। वह अपने को जनता का ही आदमी समझते थे। पिछले कौमी आन्दोलन में उन्होंने बड़ा जोश दिखाया था। जिले के प्रमुख नेता रहे थे, दो बार जेल गये थे और कई हजार का नुकसान उठाया था।"[4] खन्ना चाहे अपने को जनता का आदमी समझते हों, पर जनता उन्हें अपना आदमी नहीं समझती थी। वेतन घटाए जाने के सवाल पर शक्कर मिल के मजदूरों की हड़ताल खन्ना को बिल्कुल बेजा मालूम होती है। हालाँकि खन्ना मजदूरों की शिकायतें सुनने के लिए सदा तैयार रहते थे, पर अपने अधिकारों और मुनाफे मे कमी करना उन्हें स्वीकार्य नहीं था।[5]

यहाँ हम शक्कर मिल के मजदूरो की इस हड़ताल पर जरा विस्तार से विचार करेंगे, क्योंकि यह प्रेमचन्द की विचारधारा के एक साथ कई पहलुओं पर प्रकाश डालती है और उसकी कतिपय खामियों को भी सामने लाती है। 'गोदान' की इस हड़ताल का अंत मिल में आग लगने और खन्ना की पत्नी गोविन्दी द्वारा धन की निन्दा के साथ होता

---

१. गोदान, पृ० १२
२. गोदान, पृ० ३१७
३. गोदान, पृ० १५-१६
४. गोदान, पृ० २८७
५. गोदान, पृ० २८७-८८

है। गोविन्दी कहती है : "मैं तो खुश हूं कि तुम्हारे सिर से यह बोझ टला। अब तुम्हारे लड़के आदमी होंगे, स्वार्थ और अभिमान के पुतले नहीं। जीवन का सुख दूसरों को सुखी करने में है, उनको लूटने में नहीं। बुरा न मानना, अब तक तुम्हारे जीवन का अर्थ था आत्मसेवा, भोग और विलास। दैव ने तुम्हें उस साधन से वंचित करके तुम्हें ज्यादा ऊंचे और पवित्र जीवन का रास्ता खोल दिया है। ××× क्यों नहीं समझते, तुम्हें अन्याय से लड़ने का यह अवसर मिला है। ××× धन खोकर अगर हम अपनी आत्मा को पा सकें, तो यह कोई महँगा सौदा नहीं है।"[1] प्रेमचन्द यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि प्रो० मेहता भी गोविन्दी के इस मत से पूर्णतः सहमत थे। गोविन्दी और मेहता की यह विचारधारा स्वयं प्रेमचन्द की ही विचारधारा है—इसमें सन्देह नहीं। गोविन्दी के द्वारा प्रेमचन्द ने अपने गांधीवादी आदर्शों की ही अभिव्यक्ति की है।

प्रेमचन्द-साहित्य में मजदूर-आंदोलन का चित्रण नहीं के बराबर मिलता है। भूले-भटके यदि कहीं पर प्रेमचन्द ने मजदूर-आंदोलन को चित्रित करने का प्रयास किया भी है (जैसे 'गोदान' उपन्यास में अथवा 'डामुल का कैदी' शीर्षक कहानी में) तो वे उसे सही दिशा और सही नेतृत्व नहीं प्रदान कर सके हैं। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, 'गोदान' के रचना-काल तक भारतीय मजदूर-आंदोलन और ट्रेड यूनियन आंदोलन काफी आगे बढ़ चुका था और मजदूर-वर्ग को देश की राजनीति में एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त होने लगी थी; पर 'गोदान' में इस तथ्य का कोई संकेत नहीं मिलता। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में शक्कर मिल के मजदूरों की हड़ताल के रूप में मजदूर-आंदोलन की जो झाँकी प्रस्तुत की है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें इस आंदोलन का कोई अनुभव नहीं था। 'बिजली'-संपादक पं० ओंकारनाथ जैसे अवसरवादी व्यक्तियों के हाथों में मजदूरों का नेतृत्व सौंपकर प्रेमचन्द ने मजदूर-आंदोलन का मानों एक प्रकार से मजाक उड़ाया है। लगता है कि प्रेमचन्द अभी भी औद्योगिक या मशीनी सभ्यता के प्रति अपनी पुरानी अरुचि का शमन नहीं कर पाए थे।

यहाँ पर 'गोदान' के पाठकों के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि 'गोदान' की इस हड़ताल के द्वारा प्रेमचन्द आखिर दिखाना क्या चाहते हैं? गोविन्दी और मेहता द्वारा धन की निन्दा के बावजूद मि० खन्ना जली हुई मिल को फिर से खड़ा करने का काम शुरू कर देते हैं। मालिकों को कम वेतन पर नए आदमी मिल जाते हैं, फलतः पुराने मजदूरों को झुकना पड़ता है और वे घटी हुई मजदूरी पर ही काम करने को राजी हो जाते हैं। मि० खन्ना स्वभावतः इस पर और भी अकड़ जाते हैं। पं० ओंकारनाथ पर से मजदूरों का विश्वास उठ जाता है, हालाँकि मिर्जा खुर्शेद की धाक अब भी ज्यों-की-त्यों है। पर मिर्जाजी के पास भी मजदूरों की इस समस्या का कोई समाधान नहीं है। पुराने मजदूर यदि फिर से बहाल कर दिए जाते हैं तो नए बेकार हो जाते हैं! इस उलझन से

१. गोदान, पृ० २६५

बचने के लिए बेचारे मिर्ज़ाजी पुराने और नए मजदूरों के मध्य तटस्थता का भाव धारण कर लेते हैं।[1] तो क्या प्रेमचन्द यह कहना चाहते हैं कि इस प्रकार की हिंसक हड़तालों से दोनों ही पक्षों की हानि होती है—मालिकों की भी, मजदूरों की भी! हिंसक हड़तालों की निस्सारता और धन की निन्दा गोदान-युग में भी प्रेमचन्द पर गांधी-दर्शन के प्रभाव की सूचक है।

यद्यपि गांधी-दर्शन उचित एवं न्यायपूर्ण माँगों को मनवाने के लिए मजदूरों के हड़ताल के अधिकार को स्वीकार करता है, लेकिन ऐसा वह कुछ निश्चित शर्तों के आधार पर ही करता है। उसके अनुसार हड़ताल का कारण न्यायसंगत होना चाहिए, हड़तालियों को पूरी तरह अहिंसा का पालन करना चाहिए, हड़ताल में भाग न लेने वाले मजदूरों के प्रति किसी भी प्रकार का बल-प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए, और आपसी बातचीत द्वारा समझौते के प्रयत्नों के असफल होने पर ही अन्तिम शस्त्र के रूप में हड़ताल का प्रयोग किया जाना चाहिए।[2] गांधी-दर्शन के अनुसार हड़ताल का उद्देश्य अपने विरोधी को नीचा दिखाना नहीं, बल्कि उसका हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। अहिंसक हड़ताल का ध्येय समाज के विभिन्न वर्गों में द्वेष, कटुता, वर्ग-संघर्ष आदि को बढ़ावा देना नहीं, प्रत्युत् वर्ग-समन्वय अर्थात् मालिक और मजदूर में पिता-पुत्र का संबंध पैदा करना होता है। महात्मा गांधी की इस 'यूटोपियन' विचारधारा से प्रेमचन्द भी कुछ अंशों में प्रभावित थे।

प्रेमचन्द भारत में पश्चिमी भौतिक सभ्यता के प्रसार और उसके परिणामस्वरूप होने वाले जीवन-मूल्यों के ह्रास तथा व्यावसायिक मनोवृत्ति ('बिजनेस इज बिजनेस' की मनोवृत्ति) की बढ़ती के कारण अत्यधिक चिंतित थे। 'गोदान' में मालती और गोविन्दी की चरित्र-सृष्टि के द्वारा प्रेमचन्द ने पश्चिमी अर्थात् पूंजीवादी जीवन-मूल्यों के प्रति अपने इसी विरोध को व्यक्त किया है।

गोविन्दी को हम प्रेमचन्द का आदर्श नारी-पात्र कह सकते हैं। गोविन्दी के रूप में गोदानकार ने हमें एक ऐसा नारी-पात्र दिया है, जो आत्म-बलिदान, निस्स्वार्थ सेवा, पवित्रता, सहिष्णुता, संयम, धैर्य आदि उच्च दैवी गुणों की साकार मूर्ति है। प्रो० मेहता के द्वारा प्रेमचन्द ने जिस आदर्श स्त्री-रत्न की मोहक कल्पना की है, गोविन्दी उसी की प्रतिरूप है।[3] कहना न होगा कि मेहता का यह आदर्श (कल्पना कहें या आदर्श, बात एक ही है!) स्वयं प्रेमचन्द का ही आदर्श था—डॉ० इन्द्रनाथ मदान के

१. गोदान, पृ० ३०६

२. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० २७०–७१

३. "मेहता गम्भीर-भाव से बोले— × × × × मेरे जेहन में औरत वफ़ा और त्याग की मूर्ति है, जो अपनी बेज़बानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिलकुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। × × × × मैं आपसे किन शब्दों में कहूँ कि स्त्री मेरी नज़रों में क्या है। संसार में जो कुछ सुन्दर है, उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ, मैं

नाम उनके एक पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है।[1] नारी-संबंधी अपने विशिष्ट आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए ही प्रेमचन्द ने गोविन्दी के विरोध में मालती की सृष्टि की है। गोविन्दी अगर एक आदर्श भारतीय नारी की प्रतिमूर्त्ति है, तो मालती पश्चिमी सभ्यता की प्रतिमूर्त्ति वह 'आधुनिका' है जो कवि पन्त के शब्दों में फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी सब कुछ है; यदि नहीं है तो केवल 'नारी' नहीं है।[2] गोविन्दी किसी मन्दिर में रखी हुई एक सुंदर किन्तु निर्जीव प्रस्तर-मूर्त्ति के समान है। गोविन्दी का चरित्र जितना निर्जीव, अयथार्थ, प्रभावहीन और प्राणों के स्पन्दन से शून्य है, मालती का चरित्र उतना ही सजीव, यथार्थ और प्रभावपूर्ण है। लेकिन प्रेमचन्द अपने आदर्श की बलिवेदी पर मालती जैसे सहज और प्राणवान चरित्र की बलि चढ़ा देते हैं। मेहता के संसर्ग में आकर मालती का हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वह अपने कृत्रिम विलासमय जीवन को त्याग कर सरल, संतोषपूर्ण, सादा जीवन अपना लेती है। मालती का यह हृदय-परिवर्तन निश्चय ही प्रेमचन्द पर गांधीवाद के प्रभाव का परिचायक है।[3]

उससे यह आशा रखता हूँ कि मैं उसे मार ही डालूँ तो भी प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आये, अगर मैं उसकी आंखों के सामने किसी स्त्री को प्यार करूँ, तो भी उसकी ईर्ष्या न जागे।''

—गोदान, पृ० १४७-४८

१. "मेरा नारी का आदर्श है एक ही स्थान पर त्याग, सेवा और पवित्रता का केन्द्रित होना। त्याग बिना फल की आशा के हो, सेवा सदैव बिना असन्तोष प्रकट किये हुए हो और पवित्रता सीजर की पत्नी की भांति ऐसी हो, जिसके लिए पछताने की आवश्यकता न पड़े।''

—प्रेमचन्द : एक विवेचन, परिशिष्ट २ पृ० १५७

२. "दूसरी महिला जो ऊँची एड़ी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुख-छवि पर हँसी फूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। × × × × आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, पर चपलता कूट-कूटकर भरी हुई! झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेक-अप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्व समझनेवाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहां आत्मा का स्थान है, वहां प्रदर्शन; जहां हृदय का स्थान है, वहां हाव-भाव; × × ×।'' —गोदान, पृ० ५६

३. "मालती के द्वारा प्रेमचन्द ने आदर्श की स्थापना नहीं करनी चाही है, बल्कि उन्होंने समाज में मिलने वाली उस प्रकार की स्त्रियों का भी चित्र लगे हाथ खींच लिया है, क्योंकि अपनी अन्तिम कृति को वे सभी प्रकार के चित्रों से सजाना चाहते थे।''

—हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : त्रिभुवनसिंह, पृ० ९२

नोट :—श्री त्रिभुवनसिंह का यह मत हमें स्वीकार्य नहीं है। गोदानकार ने मालती की चरित्र-सृष्टि अपनी अन्तिम कृति को (क्या प्रेमचन्द को यह मालूम था कि 'गोदान' उनकी अंतिम कृति होगी?) लगे हाथों समाज में उपलब्ध सभी प्रकार के चरित्रों से सजाने के लिए ही नहीं की है। अपनी रचनाओं को सभी प्रकार के चरित्रों का संग्रह यानी भानमती का पिटारा मात्र बनाने के उद्देश्य से पात्रों की सृष्टि प्रेमचन्द ने कभी नहीं की। प्रेमचन्द के प्रत्येक छोटे-बड़े चरित्र के पीछे कोई-न-कोई निश्चित योजना हमेशा रहती है। और फिर मालती तो 'गोदान' का काफी महत्त्वपूर्ण चरित्र है।

सुमित्रा, सुमन, जालपा, सुखदा, मुन्नी, सलोनी, धनिया, मीनाक्षी आदि विद्रोहिणी स्त्री-पात्रों की तुलना में गोविन्दी जैसी बेज़बान और पुरुष के लिए अपने को पूर्णतः मिटा देने वाली 'आदर्श' नारियों की रचना प्रेमचन्द ने भूले-भटके ही की है। अतः हम गोविन्दी को प्रेमचन्द की विचारधारा का प्रतिनिधि नहीं मान सकते। 'गोदान' में ही प्रेमचन्द एक स्थान पर कहते हैं : "नहीं, अपने को मिटाने से काम न चलेगा। नारी को समाज के कल्याण के लिए अपने अधिकारों की रक्षा करनी पड़ेगी, उसी तरह जैसे इन किसानों को अपनी रक्षा के लिए इस देवत्व का कुछ त्याग करना पड़ेगा।"[1] प्रेमचन्द-साहित्य में स्त्री-चरित्रों के क्रमिक विकास को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द की असली विचारधारा यही थी। स्त्री को देवी बनाने वाली मध्ययुगीन सामन्ती विचारधारा शताब्दियों से स्त्री-जाति के शोषण का मूलाधार रही है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के नाम लिखे गए पत्र तथा 'गोदान' में मेहता की कतिपय उक्तियों से यह भ्रम हो सकता है कि प्रेमचन्द इसी सामन्ती विचारधारा के पोषक थे, लेकिन उनके साहित्य की विद्रोहिणी नारियों के परिपार्श्व में रखकर देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः इस बात में जरा भी सच्चाई नहीं है। प्रेमचन्द के समस्त साहित्य में इस विचारधारा की जड़ों पर कुठाराघात ही किया गया है, उसका पोषण नहीं।

अंत में हम मातादीन और सिलिया की कहानी पर विचार करना चाहते हैं। मातादीन और सिलिया की प्रकरी गोदानकार पर गांधी-युग के अवशिष्ट प्रभाव की सूचक है। सिलिया उस युग की उपज है, जिसमें गांधीजी के अछूतोद्धार-कार्यक्रम की भावना व्याप्त थी। सिलिया चमारिन का निरन्तर स्वेच्छापूर्वक आत्म-त्याग अंत में मातादीन के धर्म-पाखण्ड पर विजय प्राप्त करता है। सिलिया के बापू हरखू चमार के हाथों 'धर्म-भ्रष्ट' होकर मातादीन जो प्रायश्चित्त करता है, उससे वास्तव में उसकी मानवता निखर आती है और वह धर्म की असलियत को पहचान लेता है। धर्म की असलियत को पहचानते ही उसे धर्म के नाम से चिढ़ हो जाती है। वह यज्ञोपवीत को उतार कर पुरोहिताई को गंगा में विसर्जित कर देता है और पक्का खेतिहर बन जाता है।[2] सिलिया के एकनिष्ठ, निस्स्वार्थ प्रेम और कष्ट-सहन के फलस्वरूप मातादीन अपने अन्यायपूर्ण आचरण के लिए उससे क्षमा-याचना करता है।[3] मातादीन का यह हृदय-परिवर्तन गोदानकार द्वारा गांधीवाद की स्वीकृति है। अस्तु,

'गोदान' में प्रेमचन्द के समस्त जीवन की साधना और चिन्तन प्रतिफलित हो उठा है। 'गोदान' को समाप्त करके स्वभावतः प्रेमचन्द ने एक अपूर्व आत्म-तुष्टि का भाव अनुभव किया होगा। 'गोदान' की रचना के बाद स्वभावतः प्रेमचन्द की नजरों

---

१. गोदान, पृ० ३१०

२. गोदान, पृ० ३४५

३. गोदान, पृ० ३४६

में उनकी पहली रचनाओं का महत्त्व घट गया था और वे अब उन्हें भावगत भावुकता और शैलीगत कृत्रिमता के दोषों से परिपूर्ण मानने लगे थे। गोदान-पूर्व रचनाओं के प्रति प्रेमचन्द ने अपना यह असन्तोष 'मंगलसूत्र' में व्यक्त किया है।[1] और, इसमें सन्देह नहीं कि 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द अपनी कच्ची भावुकता को करीव-करीव त्याग चुके थे। इसे हम हिंदी का दुर्भाग्य कहेंगे कि ऐसे समय में प्रेमचन्द की मृत्यु हो गई, जब कि वे एक युग को पारकर दूसरे युग के प्रवेशद्वार पर खड़े थे और जब उनकी कला पुरानी मान्यताओं को त्याग कर नई मान्यताएँ अपनाने का प्रयत्न कर रही थी। 'गोदान' के बाद 'मंगलसूत्र' में हमें एक सर्वथा नए प्रेमचन्द के दर्शन होते हैं, पर असामयिक मृत्यु के कारण 'मंगलसूत्र' को वे पूरा नहीं कर सके।

२. 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण)

'मंगलसूत्र' प्रेमचन्द की अन्तिम अपूर्ण कृति है। यद्यपि उसके वर्त्तमान स्वरूप के आधार पर प्रेमचन्द की विचारधारा के विकास-क्रम के संबंध में किसी सुनिश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता, लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि 'मंगलसूत्र' में प्रेमचन्द अपनी पूर्ववर्त्ती रचनाओं से एक सर्वथा भिन्न आधार ग्रहण करके चले हैं। चार परिच्छेदों में 'मंगलसूत्र' की जो कथा हमें प्राप्त है, वह इतनी अपूर्ण है कि उसके आधार पर चरित्रों और कथा के संभावित भावी स्वरूप की कोई कल्पना करना खतरे से खाली नहीं हो सकता। 'मंगलसूत्र' की संभावनाओं पर विचार करते हुए बाबू जैनेन्द्रकुमार ने प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि 'मंगलसूत्र' की कथा-वस्तु और चरित्रों की अन्तिम रूपरेखा के संबंध में किसी प्रकार की कल्पना संभवतः प्रेमचन्द के साथ पूरा न्याय न कर सके, क्योंकि अभी तो वे 'प्रॉवलम्' को पूरी तरह 'पुट-अप' भी नहीं कर पाए हैं। जैनेन्द्रजी के इस मत से असहमत होने का प्रश्न नहीं उठता। अतः यहाँ 'मंगलसूत्र' की समस्याओं अथवा उसके चरित्रों पर विचार करना संभवतः उचित न होगा।

'मंगलसूत्र' में प्रेमचन्द अपनी ही जीवन-गाथा कहने जा रहे थे। 'मंगलसूत्र' के देवकुमार को हम प्रेमचन्द का प्रतिरूप मान सकते हैं। देवकुमार का आत्म-मंथन वस्तुतः प्रेमचन्द का ही आत्म-मंथन है। धर्म और नीति, कानून और न्याय के प्रति देवकुमार के मन में उठने वाली शंकाएँ स्वयं प्रेमचन्द की ही शंकाएँ हैं। जीवन-भर आदर्शवाद का पुजारी रहने के बाद उसकी उपयोगिता के संबंध में देवकुमार का सन्देह भी प्रेमचन्द का ही सन्देह है। चालीस वर्ष तक सत्य और अहिंसा की मान्यताओं से चिपके रहने के बाद देवकुमार का मोह-जाल छिन्न-भिन्न हो जाता है और वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह 'मंगलसूत्र' के लेखक की हमें अन्तिम वसीयत है: "दरिन्दों के बीच में, उनसे लड़ने

---

१. प्रेमचन्द स्मृति : मंगलसूत्र, पृ० २६६

के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।"[१]

'मंगलसूत्र' के रचना-काल के दौरान में ही प्रेमचन्द ने 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था। 'कर्मभूमि' के पश्चात् प्रेमचन्द में जो वैचारिक परिवर्तन आ रहा था, उसे समझने के लिए 'गोदान' ही नहीं, 'मंगलसूत्र' और 'महाजनी सभ्यता' का अध्ययन भी आवश्यक है। प्रेमचन्द की विचारधारा में आ रहे इस परिवर्तन की गहराई को मापने के लिए 'महाजनी सभ्यता' के निम्नोक्त शब्द विशेष रूप से विचारणीय हैं :—

"धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर रही है, और जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मजहब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है—यह तर्क नितान्त असंगत है। × × × जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बहकावेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे; पर जो सत्य है एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।"[२]

---

१. प्रेमचन्द स्मृति : मंगलसूत्र, पृ० २९३

२. प्रेमचन्द स्मृति : महाजनी सभ्यता, पृ० २६४

: ६ :

कहानीकार प्रेमचन्द और गांधीवाद

प्रेमचन्द की कहानियों पर गांधीवाद के प्रभाव के अध्ययन के बिना हमारा यह अध्ययन अपूर्ण ही रहता है। यों तो प्रेमचन्द ने तीन नाटक ('कर्बला', 'संग्राम' और 'प्रेम की वेदी') भी लिखे थे, किन्तु यह स्पष्ट है कि उनके रचनात्मक साहित्य (Creative literature) के मुख्यतः दो ही रूप हैं : उपन्यास और कहानी। कतिपय आलोचकों के लिए यह प्रश्न दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण हो सकता है कि उपन्यासकार प्रेमचन्द बड़े थे या कहानीकार प्रेमचन्द ? लेकिन हमारे लिए यह प्रश्न अनावश्यक ही नहीं, असंगत और आनुषंगिक भी है। साहित्यिक समीक्षा में इस प्रकार के निर्णय संभव तो हैं ही नहीं, अनुचित और अवैज्ञानिक भी हैं। कहानी और उपन्यास दोनों ही क्षेत्रों में प्रेमचन्द की प्रतिभा समान रूप से विकसित हुई थी, किन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द की प्रतिभा मुख्यतः उपन्यासकार की प्रतिभा थी। हिन्दी-कहानी को प्रेमचन्द ने कुछ श्रेष्ठतम कहानियाँ दी हैं और हिन्दी-कहानी के विकास में उनका उतना ही महत्त्व है जितना कि हिन्दी-उपन्यास के विकास में उनके उपन्यासों का; परन्तु इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि प्रेमचन्द की प्रतिभा मूलतः और प्रथमतः उपन्यासकार की प्रतिभा थी।[1]

हम प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्रेमचन्द की कहानियों पर गांधीवाद के प्रभाव के इस संक्षिप्त अध्ययन में इस पुस्तक के पाठकों को स्थान-स्थान पर पुनरुक्ति-दोष का आभास हो सकता है, क्योंकि प्रेमचन्द की कहानियों की विषय-वस्तु; उनमें उठाई गई समस्याएँ, उनका विश्लेपण और समाधान; उनके चरित्र आदि प्रेमचन्द के उपन्यासों की विषय-वस्तु, समस्याओं और चरित्रों से बहुत भिन्न नहीं हैं। यदि हम यह कहें कि उनमें कोई मौलिक विभेद नहीं है तो संभवतः अधिक उचित होगा ! स्वभावतः हमारा यह अध्ययन पुनरुक्ति-दोष से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार प्रेमचन्द की कहानियाँ उनके उपन्यासों की पूरक हैं, उसी प्रकार प्रेमचन्द की कहानियों पर गांधीवाद के प्रभाव का हमारा यह अध्ययन भी उनके उपन्यासों पर गांधीवाद के प्रभाव के अध्ययन का पूरक है। अस्तु,

---

१. "यदि कहानीकार प्रेमचन्द और उपन्यासकार प्रेमचन्द में एक को ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जगह देने की बात हो तो शायद उपन्यासकार प्रेमचन्द को ही उस जगह के लिए चुना जायगा।"

—प्रेमचन्द और उनका युग : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० १२३

प्रेमचन्द की कहानियों पर गांधीवाद तथा दूसरी युग-धाराओं के प्रभाव तथा प्रतिक्रिया का सम्यक् अध्ययन करने के लिए यह अत्यावश्यक है कि पहले उनका रचना-काल या कम-से-कम प्रकाशन-काल स्थिर कर लिया जाय। किन्तु प्रेमचन्द-आलोचना की वर्त्तमान स्थिति में—जब कि प्रेमचन्द के अधिकांश कहानी-संग्रहों का प्रामाणिक प्रथम प्रकाशन-काल भी हमारे पास नहीं है—प्रेमचन्द की कहानियों का रचना-काल स्थिर करना संभव नहीं है। प्रेमचन्द की कहानियों के निश्चित रचना-काल के अभाव में हम कहानीकार प्रेमचन्द के वैचारिक विकास-क्रम के विभिन्न सोपानों का वैज्ञानिक और वस्तुपरक अध्ययन नहीं कर सकते। प्रेमचन्द के प्रकाशक (जो कि उनके सुपुत्र ही हैं!) उनकी कहानियों के प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक संपादन तथा प्रकाशन में इतनी रुचि नहीं रखते, जितनी उनकी कहानियों के नए-नए नामों से नए-नए संग्रह प्रकाशित करने में रखते हैं। प्रेमचन्द की कहानियों के इस समय बाजार में इतने अधिक संग्रह (जिनमें से अधिकांश में उनके प्रथम संस्करण का ही नहीं, बल्कि प्रस्तुत संस्करण का समय भी नहीं दिया हुआ है!) उपलब्ध है कि प्रेमचन्द का अध्येता उनके द्वारा एक अच्छी-खासी उलझन में फँस जाता है। 'मानसरोवर' नाम से प्रेमचन्द की कहानियों के जो आठ भाग बाजार में उपलब्ध हैं, उनमें प्रेमचन्द की सभी कहानियाँ नहीं हैं। इसके इलावा उनका संपादन भी सर्वथा अवैज्ञानिक तथा क्रम-विहीन हुआ है।

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने प्रेमचन्द के कुछ कहानी-संग्रहों का प्रकाशन-क्रम स्थिर करने का प्रयास किया है, जो इस प्रकार है:—(१) सप्त सरोज, (२) नवनिधि, (३) प्रेम-पूर्णिमा, (४) प्रेम-पचीसी, (५) प्रेम-प्रतिमा, (६) प्रेम-द्वादशी, (७) समर-यात्रा, (८) मानसरोवर, भाग १, २, (९) कफन।[1] इधर जनवरी १९६० के त्रैमासिक 'साहित्य' में 'प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-संबंधी तिथियों में भ्रान्तियाँ' विषय पर पटना की प्रो० श्रीमती गीतालाल का एक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य-संबंधी तिथियों को स्थिर करने का एक महनीय प्रयास किया गया है। इस लेख के आधार पर प्रेमचन्द के कतिपय कहानी-संग्रहों का प्रथम प्रकाशन-काल इस प्रकार है:—

कहानी-संग्रह का नाम	प्रकाशन-काल
१. सप्त सरोज	१९१७ ई०
२. नवनिधि	१९१८ ई०
३. प्रेम-पूर्णिमा	१९२० ई०
४. प्रेम-पचीसी	१९२३ ई०
५. प्रेम-प्रसून	१९२४ ई०
६. प्रेम-प्रमोद	१९२६ ई०

१. प्रेमचन्द: एक अध्ययन: डॉ० राजेश्वर गुरु, पृ० २५०-५१

७. प्रेम-प्रतिमा १९२६ ई०
८. प्रेम-द्वादशी १९२६ ई०
९. प्रेम-तीर्थ १९२९ ई०
१०. प्रेम-चतुर्थी १९२९ ई०
११. अग्नि-समाधि तथा अन्य कहानियाँ १९२९ ई०
१२. पाँच फूल १९२९ ई०
१३. समर-यात्रा और ग्यारह अन्य राजनीतिक कहानियाँ १९३० ई०
१४. सप्त सुमन १९३० ई०
१५. प्रेम-पंचमी १९३० ई०
१६. प्रेरणा और अन्य कहानियाँ १९३२ ई०
१७. प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ १९३३ ई०
१८. मानसरोवर (पहला भाग) १९३६ ई०

यद्यपि इस सूची में प्रेमचन्द के कई कहानी-संग्रहों, यथा प्रेम-पीयूष, कफन आदि का उल्लेख नहीं है, किन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द के कहानी-संग्रहों का प्रकाशन-काल स्थिर करने का यह सर्वप्रथम व्यापक प्रयास है।

प्रो० गीतालाल द्वारा दिए गए प्रेमचन्द के प्रमुख कहानी-संग्रहों के प्रथम प्रकाशन-काल के आधार पर हमें कहानीकार प्रेमचन्द के विकास-क्रम की एक सरसरी रूप-रेखा अवश्य ज्ञात हो जाती है, लेकिन प्रेमचन्द की विचारधारा पर गांधीवाद तथा दूसरी युग-धाराओं के प्रभाव के सम्यक् आकलन के लिए इतना पर्याप्त नहीं है। प्रेमचन्द के कहानी-संग्रहों के प्रकाशन-काल के आधार पर उनमें संकलित कहानियों के रचना-काल तक पहुँचना सर्वदा निरापद या खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि अनेक कहानियाँ ऐसी भी हैं जो एकाधिक संग्रहों में पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए हम यहाँ पर प्रेमचन्द की कुछ ऐसी कहानियों की तालिका देते हैं जो उनके विभिन्न कालों के अलग-अलग संग्रहों में पाई जाती हैं:—'बैंक का दिवाला' (प्रेम-द्वादशी, प्रेम-चतुर्थी), 'शांति' (प्रेम-द्वादशी, प्रेम-चतुर्थी), 'लाग-डांट' (प्रेम-प्रसून, प्रेम-चतुर्थी), 'गृह-दाह' (प्रेम-प्रसून, सप्त सुमन, प्रेम-द्वादशी), 'बैर का अंत' (सप्त सुमन, प्रेम-पचीसी), 'मंदिर' (प्रेम-तीर्थ, प्रेम-पीयूष, सप्त सुमन), 'ईश्वरीय न्याय' (प्रेम-पूर्णिमा, सप्त सुमन), 'सुजान भगत' (प्रेम-पीयूष, सप्त सुमन), 'ममता' (नवनिधि, सप्त सुमन), 'मन्त्र' (प्रेम-पीयूष, प्रेम-तीर्थ), 'सती' (प्रेम-तीर्थ, प्रेम-पीयूष, सप्त सुमन), 'कजाकी' (प्रेम-तीर्थ, प्रेम-पीयूष), 'आत्माराम' (प्रेम-पचीसी, प्रेम-द्वादशी), 'दुर्गा का मन्दिर' (प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-द्वादशी), 'बड़े घर की बेटी' (सप्त सरोज, प्रेम-द्वादशी), 'डिक्री के रुपये' (प्रेम-पीयूष, प्रेम-द्वादशी), 'मुक्ति मार्ग' (प्रेम-पीयूष, प्रेम-द्वादशी), 'पंच परमेश्वर' (सप्त सरोज, प्रेम-द्वादशी), 'शंखनाद' (प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-द्वादशी), 'आहुति' (समर-यात्रा,

कफन) आदि। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में कहानी-संग्रहों के प्रकाशन-काल के आधार पर प्रेमचन्द की कहानियों का रचना-काल निर्धारित नहीं किया जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि कहानीकार प्रेमचन्द के अध्ययन को एक वस्तुपरक भूमिका प्रदान करने के लिए वर्त्तमान अराजकतापूर्ण स्थिति को समाप्त करके उनकी कहानियों का एक वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करना नितान्त आवश्यक है।

प्रेमचन्द की कहानियों को आलोचकों ने विभिन्न आधारों पर एवं विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। अधिकांश आलोचकों ने विषय-वस्तु की दृष्टि से ही उन्हें वर्गीकृत किया है। काल-क्रम के आधार पर प्रेमचन्द की कहानियों का वर्गीकरण करने वालों में डॉ० राजेश्वर गुरु मुख्य हैं। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है:—

"(१) प्रारम्भिक युग—देश-प्रेम-संबंधी भावुकतापूर्ण कहानियाँ, एवम् बुन्देलखण्ड के इतिहास की गौरवपूर्ण गाथाएँ—जैसे 'सोजेवतन' क्रम की कहानियाँ और 'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल', 'विक्रमादित्य का तेगा' आदि।

"भारतीय मन और भारतीय प्राचीन व्यवस्था के उदात्त स्वरूप को चित्रित करने वाली कहानियाँ जैसे—'शंखनाद', 'पंच परमेश्वर' आदि।

"(२) विकास युग—भारतीय ग्राम-जीवन के विभिन्न प्रसंग और सामाजिक, राजनैतिक और साम्प्रदायिक जीवन की कहानियाँ।

"(३) यथार्थोन्मुख कहानियाँ—सन् १९३० के राजनैतिक आन्दोलन के दिनों के चित्रण एवम् अनेक यथार्थवादी कहानियाँ।"[1]

डॉ० गुरु ने प्रारम्भिक युग को सन् १९२० तक[2], विकास युग को १९३० तक और यथार्थोन्मुख कहानियों के युग को १९३० के पश्चात् माना है।

विषय-वस्तु के आधार पर प्रेमचन्द की कहानियों को राजनीतिक, सामाजिक, ग्राम्य-जीवन-संबंधी आदि वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

यद्यपि हिंदी में प्रेमचन्द का सर्वप्रथम कहानी-संग्रह 'सप्त सरोज' १९१७ ई० में प्रकाशित हुआ था, किन्तु हिंदी में कहानियाँ लिखना प्रेमचन्द ने सन् १९१३ से ही आरम्भ कर दिया था[3] और उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पंच परमेश्वर' 'सरस्वती' में जून १९१६ में प्रकाशित हुई थी। यूँ प्रेमचन्द की सर्वप्रथम कहानी 'संसार का अनमोल रत्न' है जो १९०७ में 'जमाना' में छपी थी।[4] प्रेमचन्द का सर्वप्रथम कहानी-संग्रह 'सोजेवतन' सन् १९०९ में प्रकाशित हुआ था और प्रकाशित होने के छ: महीने बाद ही सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था। ब्रिटिश सरकार को 'सोजेवतन' की कहानियों में राज-

१. प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० २५०
२. वही, पृ० २५६
३. प्रेमचन्द : घर में, पृ० २२
४. कफन, पृ० ६५

द्रोह की गंध आई थी।'[1] इस घटना के बाद धनपतराय श्रीवास्तव 'नवाबराय' के वजाए 'प्रेमचन्द' के नाम से लिखने लगे। हिंदी साहित्य उन्हें इसी नाम से जानता है। डॉ० राजेश्वर गुरु का कहना है कि प्रेमचन्द नाम से उनकी पहली कहानी 'ममता' थी जो सन् १९०९ या १९१० के 'जमाना' में छपी थी।[2]

'सप्त सरोज' (सन् १९१७) संग्रह की कहानियाँ उस समय की रचनाएँ हैं जब कि प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना और जीवन-दृष्टि पर सुधारवाद और आदर्शवादी परंपरागत भारतीय संस्कृति का घना कोहरा तथा धुंध छाई हुई थी। 'बड़े घर की बेटी' और 'पंच परमेश्वर'—जिनकी गणना प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में की जाती है—कहानियों में परंपरागत आदर्शवादी जीवन-दर्शन का प्रभाव अपने चरमोत्कृष्ट रूप में देखा जा सकता है। यद्यपि प्रेमचन्द को अपने निजी जीवन में संयुक्त परिवार के काफी कटु अनुभव हुए थे, किन्तु फिर भी वे संयुक्त परिवार-प्रथा की सामाजिक उपयोगिता और आवश्यकता के प्रति सर्वथा आस्थाहीन नहीं हुए थे। उन्होंने अपनी कई कहानियों में इस प्रथा का समर्थन एवं उसकी पुनर्स्थापना का प्रयत्न किया है। 'बड़े घर की बेटी' प्रेमचन्द की एक ऐसी ही कहानी है। इसमें वे दिखाते हैं कि बड़े घर की बेटी आनन्दी की उदारता, सदाशयता और बड़प्पन के कारण एक संयुक्त परिवार का विभाजन होते-होते रह जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि बड़े घर की बेटी से प्रेमचन्द का तात्पर्य उच्च अर्थात् अभिजात घर की बेटी से है अथवा शरीफ खानदान की बेटी से? स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने पहला ही अर्थ लिया है। वे स्वयं कहते हैं: "आनन्दी एक बड़े कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी, शिकरे, झाड़-फानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण, जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के योग्य पदार्थ हैं, वह सभी यहाँ विद्यमान थे।"[3] स्वभावत: अगला प्रश्न यह उठता है कि आनन्दी की इस उदारता का मूल उसके अभिजात पितृ-कुल में खोजना कहाँ तक उचित है? उदारता और उच्च कुल में क्या कोई अन्योन्याश्रित संबंध होता है? स्पष्ट है कि प्रेमचन्द का यह विश्लेषण सर्वथा अवैज्ञानिक है। हम यह नहीं कहते कि बड़े घर की लड़कियों में आनन्दी की उदारता, सदाशयता और बड़प्पन होता ही नहीं। हमारा तात्पर्य केवल इतना है कि किसी एक विशिष्ट वर्ग या कुल के व्यक्तियों के साथ ही इन मानवीय गुणों को अनिवार्यत: संबद्ध नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत कहानी में आनन्दी की इस उदारता और बड़प्पन के संबंध में उसके एक बड़े ताल्लुकेदार की बेटी होने की बात पर इतना अधिक बल दिया गया है कि मानों इन दोनों बातों में कोई अन्योन्याश्रित या अनिवार्य संबंध हो!

---

१. कफन, पृ० ६५-६६

२. प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० २५०

३. सप्त सरोज, पृ० ७

वह बिना बुलाए ही डाक्टर चड्ढा—जिसने अपने आमोद-प्रमोद के आगे कभी उसके मरते हुए रोगी पुत्र को एक नजर देखना भी अस्वीकार कर दिया था—के बेटे को बचाने के लिए पहुँच जाता है। भगत की सद्वृत्तियों और असद्वृत्तियों (बदले की भावना आदि) में होने वाले संघर्ष को प्रेमचन्द ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक अंकित किया है। डाक्टर चड्ढा और भगत के इस 'कन्ट्रास्ट' को दिखाते हुए प्रेमचन्द कहते हैं :—"**मोटर चली गई। बूढ़ा कई मिनट तक मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा रहा। संसार में ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो अपने आमोद-प्रमोद के आगे किसी की जान की भी परवा नहीं करते, शायद इसका उसे अब भी विश्वास न आता था। सभ्य संसार इतना निर्मम, इतना कठोर है, इसका ऐसा मर्मभेदी अनुभव अब तक न हुआ था। वह उन पुराने जमाने के जीवों मे था जो लगी हुई आग को बुझाने, मुर्दे को कन्धा देने, किसी के छप्पर को उठाने और किसी कलह को शान्त करने के लिए सदैव तैयार रहते थे।**"[1]

'मन्त्र' में नागरिक और ग्रामीण सभ्यता के 'कन्ट्रास्ट' को प्रकट किया गया है। इसके विपरीत 'लोकमत का सम्मान' कहानी में प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन पर शहरी जीवन के अनिष्टकारी प्रभाव का एक चित्र प्रस्तुत किया है। गाँव का सरल, निश्छल और परिश्रमी बेचू धोबी शहर में आकर किस प्रकार शराब इत्यादि की बुरी आदतें सीखता है, झूठ बोलने और ग्राहकों के कपड़ों को किराए पर उठाने के लिए मजबूर होता है—संक्षेप में यही इस कहानी की कथावस्तु है। गाँव मे बेचू को आधे पेट रूखी-सूखी खाकर रहना पड़ता था और जमीदार के चपरासियों की गालियाँ और मार भी खानी पड़ती थी। लेकिन इतना होते हुए भी वह गाँव का एक सम्मानित सदस्य था। गाँव की बहुएँ उसे बेचू दादा कहकर पुकारती थी और शादी-गमी के प्रत्येक अवसर पर उसका बुलावा होता था।[2] शहर में उसकी आमदनी अवश्य बढ़ जाती है, उसका और उसके परिवार के अन्य सदस्यों का जीवन-स्तर भी सुधर जाता है, लेकिन साथ ही शहर की बुराइयाँ भी उसे घेर लेती हैं। स्वभावतः आमदनी मे वृद्धि के बावजूद उसके खर्च का पलड़ा भारी रहने लगा।[3] वह अनुभव करने लगता है कि शहर मे ईमानदार बनकर रहना संभव नही है। वह कहता है: "**मुझे मालूम हो गया कि शहर में अच्छी नीयतवाले आदमी का निर्वाह नहीं हो सकता।**"[4]

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रेमचन्द जब शहरी जीवन की बुराइयों और उसके अनिष्टकारी प्रभाव की ओर संकेत करते हैं तो वे वस्तुतः अप्रत्यक्ष

---

१. पाँच फूल, पृ० ३६ (सातवा संस्करण)
२. प्रेम-पचीसी, पृ० ११४-१५ (बनारस, १९५८)
३. वही, पृ० ११६-१७
४. वही, पृ० ११७

रूप से पूंजीवादी सभ्यता (जिसे वे महाजनी सभ्यता कहा करते थे) एवं तज्जन्य व्यक्तिवाद की ही बुराई करते हैं।

'सप्त सरोज' में ऐसी कहानियाँ भी है जिनमें हमें 'कफन' और 'पूस की रात' के यथार्थवादी प्रेमचन्द का मन झाँकता हुआ मिलता है। 'उपदेश' और 'सज्जनता का दण्ड' ऐसी ही कहानियाँ हैं। इन कहानियों में समाज-सुधारक प्रेमचन्द के इलावा व्यंग्यकार प्रेमचन्द, नश्तर लगाने वाले प्रेमचन्द के भी दर्शन होते हैं। 'सज्जनता का दण्ड' में प्रेमचन्द ने एक ऐसे ईमानदार इंजीनियर की कठिनाइयों का वर्णन किया है जो ठेकेदारों से किसी भी रूप में—कमीशन के रूप में भी नहीं—रिश्वत नहीं लेता। रिश्वत आज के सरकारी विभागों के जीवन का एक अनिवार्य और अविच्छेद्य अंग बन गई है। उसने अनेक रूप धारण कर लिए हैं। कहीं वह दस्तूरी के रूप में प्रचलित है और कहीं कमीशन के रूप में तो कहीं डालियों के रूप में। कहानी के अंत में विचारशील पाठक के मन में उस समाज और शासन-व्यवस्था के प्रति—जिसका इस सीमा तक पतन हो गया है कि उसमें एक ईमानदार आदमी को अपनी ईमानदारी की रक्षा के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है—बरबस एक आक्रोश की भावना उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। स्पष्ट है कि इस कहानी के द्वारा प्रेमचन्द ने तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर आघात किया है।

'सप्त सरोज' संग्रह की कहानियों में व्यंग्यकार प्रेमचन्द का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप 'उपदेश' कहानी में मिलता है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने अखबारों में लेख लिखकर तथा 'सोशल सर्विस लीग', 'फ्री लाइब्रेरी', 'स्टुडेण्टस् एसोसिएशन' आदि के पदाधिकारी बनकर देशभक्ति और जाति-सेवा का स्वाँग रचने वाले नकली नेताओं की पोल खोली है।[1] प्रेमचन्द दिखाते हैं कि उँगली पर खून लगाकर शहीद बनने वाले ये नकली देशभक्त (Pseudo-martyres) समय आने पर किस प्रकार अपनी जिम्मेदारी से बचकर निकल भागते हैं।[2] 'उपदेश' के शर्माजी ऐसे ही नकली देशभक्त हैं। प्रेमचन्द मानते थे कि "देश पर मिट जाने वाले को देश-सेवक का सर्वोच्च पद प्राप्त होता है, वाचालता और कोरी कलम घिसने से देश-सेवा नहीं होती। कम-से-कम मैं तो अखबार पढ़ने को यह गौरव नहीं दे सकता।"[3]

'उपदेश' 'सप्त सरोज' संग्रह की अकेली कहानी है जिसमें प्रेमचन्द ने जमींदार-किसान-संबंधों पर भी प्रकाश डाला है। इस कहानी में प्रेमचन्द किसानों की वर्त्तमान दुरवस्था का कारण समाज-व्यवस्था में नहीं बल्कि कर्मपरायण, नीतिज्ञ और विद्वान जमींदारों के अभाव में खोजते हैं। वे दिखाते हैं कि जमींदार यदि अपने इलाकों की

---

१. सप्त सरोज, पृ० ६५
२. वही, पृ० ६६-६७
३. वही, पृ० ६८

देख-भाल कारिन्दों पर न छोड़कर स्वयं करें तो किसानों की हालत बहुत जल्द सुधर सकती है।"[1] 'उपदेश' का बाबूलाल प्रेमचन्द के इन्हीं विचारों का वाहक है। किन्तु स्पष्ट है कि किसानों की दुरवस्था के कारणों का यह गांधीवादी विश्लेषण और समाधान सर्वथा अवैज्ञानिक है। प्रश्न जमींदारों के कर्मपरायण, नीतिज्ञ और विद्वान होने न होने का नहीं, वरन् उस समाज-व्यवस्था के बदले न बदले जाने का है, जिसने एक अल्पसंख्यक उपजीवी (Parasite) वर्ग को जनता के शोषण की छूट दी हुई है।

'उपदेश' कहानी में प्रेमचन्द ने पुलिस-विभाग की धाँधलियों का भी उद्घाटन किया है। पुलिस के हथकण्डों की ओर प्रेमचन्द का ध्यान आरम्भ से ही रहा है। पुलिस-विभाग पर प्रेमचन्द का आक्रमण हमेशा सीधा और प्रत्यक्ष होता था। पुलिस-विभाग पर प्रेमचन्द का यह आक्रमण वस्तुतः ब्रिटिश साम्राज्य पर ही आक्रमण है। पुलिसवाले गरीब और बेजबान किसानों को किस प्रकार लूटते हैं—प्रेमचन्द ने इसका आँखें खोल देने वाला वर्णन किया है।[2] पुलिस के हथकण्डों का इतना यथार्थ और व्यंग्यपूर्ण वर्णन प्रेमचन्द-साहित्य की अपनी विशेषता है। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की यह विशेषता उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण की परिचायक है।

'सप्त सरोज' की एक अन्य कहानी—'नमक का दरोगा'—का भी हम यहाँ उल्लेख करना चाहते हैं। 'नमक का दरोगा' में प्रेमचन्द का आदर्शवाद—आप चाहें तो उसे गांधीवाद नाम भी दे सकते हैं—अपने स्थूलतम, सर्वाधिक अनाकर्षक, अविश्वसनीय और भोंडे रूप में देखा जा सकता है। पं० अलोपीदीन के बारे में मुंशी वंशीधर के मत में परिवर्तन बड़ा ही हास्योत्पादक तथा कृत्रिम है। नमक के दरोगा की हैसियत से मुंशी वंशीधर ने कल जिस व्यक्ति को समाज की, राज्य की और कानून की चोरी करते हुए पकड़ा था; आज वही सज्जन और कीर्तिवान हो जाता है। कल जो व्यक्ति चालीस

---

१. सप्त सरोज, पृ० ८८

२. "आजकल किसानों के फसल के दिन हैं! यही जमाना हमारी फसल का भी है। शेर को भी तो माद में बैठे-बैठे शिकार नहीं मिलता, जंगल में घूमता है! हम भी शिकार की तलाश में हैं। किसी पर खुफिया-फरोशी का इलजाम लगाया, किसी को चोरी का माल ख़रीदने के लिए पकड़ा, किसी को हमल-हराम का झगड़ा उठाकर फाँसा। अगर हमारे नसीब से डाका पड़ गया तो हमारी पाँचों अँगुलियाँ घी में समझिये। डाकू तो नोच-खसोटकर भागते हैं, असली डाका हमारा पड़ता है। आस-पास के गाँवों में झाड़ू फेर देते हैं। × × × अगर देखा कि तकदीर पर शाकिर रहने से काम नहीं चलता तो तदबीर से काम लेते हैं। जरा से इशारे की जरूरत है, डाका पड़ते क्या देर लगती है! आप मेरी साफ-गोई पर हैरान होते होंगे। अगर मैं अपने सारे हथकंडे बयान करूँ तो आप यकीन न करेंगे और लुत्फ यह कि मेरा शुमार जिले के निहायत होशियार, कारगुजार, दयानतदार सब-इंस्पेक्टरों में है। फर्जी डाके डलवाता हूँ। फर्जी मुल्जिम पकड़ता हूँ। मगर सजाएँ असली दिलवाता हूँ।"

—सप्त सरोज, पृ० ८३

हजार रिश्वत में लेने से इंकार कर देता है, आज वही छः हजार वार्षिक वेतन पर पं० अलोपीदीन की चाकरी करना स्वीकार कर लेता है।[1] पं० अलोपीदीन की मैनेजरी करने का अर्थ इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि अब से मुंशी वंशीधर भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अलोपीदीन के चोरी के व्यापार में सहयोग देंगे। अलोपीदीन ने कहीं भी इस बात का संकेत नहीं किया है कि वह अब चोरी का व्यापार नहीं करेगा! अतः प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में अलोपीदीन की नौकरी करते हुए मुंशी वंशीधर अपने को इस घृणित व्यवसाय से अलग कैसे रख सकेंगे? स्पष्ट है कि मालिक के बदल जाने मात्र से सच्चाई और ईमानदारी का स्वरूप नहीं बदल सकता।

कहना न होगा कि 'नमक का दरोगा' का यह अंत सर्वथा अनावश्यक (Uncalled for) और अस्वाभाविक है। यदि प्रेमचन्द नमक के दरोगा के पद से मुंशी वंशीधर की बर्खास्तगी के साथ ही अपनी कहानी को समाप्त कर देते तो प्रस्तुत कहानी वर्त्तमान अर्थ-प्रधान न्याय-व्यवस्था पर एक बहुत ही तीखा और चुभता हुआ व्यंग्य बन जाती। उस अवस्था में 'नमक का दरोगा' की गणना प्रेमचन्द की कतिपय श्रेष्ठ कहानियों में की जाती—इसमें सन्देह नहीं।

'सप्त सरोज' के अनन्तर प्रेमचन्द का 'नवनिधि' कहानी-संग्रह प्रकाश में आया। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ—'ममता' और 'पछतावा' को छोड़कर—ऐतिहासिक हैं। 'राजा हरदौल' कहानी में एक ओर जहाँ सामन्ती युग के त्याग, उत्सर्ग और बलिदान के आदर्श को प्रस्तुत किया गया है; वहाँ दूसरी ओर उस ह्रासोन्मुख (Decadent) युग के ईर्ष्या, विद्वेष एवं अविश्वासमय दूषित वातावरण का भी एक चित्र उपस्थित किया गया है। हरदौल का चरित्र उस युग की आदर्श वीरता, त्याग और बलिदान का प्रतीक है तो जुझारसिंह का युग के ईर्ष्या और अविश्वासमय वातावरण का। इस प्रकार यह कहानी सामन्ती युग के विषाक्त वातावरण का एक यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में सफल हो सकी है। इसके विपरीत 'रानी सारन्धा' एक साधारण कहानी है जिसमें आन पर मर मिटने के राजपूती आदर्श की पुनरावृत्ति मात्र की गई है। संग्रह की अन्य कहानियों में कोई उल्लेखनीय वैशिष्ट्य लक्षित नहीं होता। इसी संग्रह की 'मर्यादा की वेदी' कहानी में प्रेमचन्द चलते-चलते भोजनभट्ट साधुओं पर व्यंग्य करने से नहीं चूके हैं।[2] भोजन-

---

१. सप्त सरोज, पृ० ६२-६३

२. "दस बजे रात का समय था। रणछोड़जी के मन्दिर में कीर्तन समाप्त हो चुका था और वैष्णव साधु बैठे हुए प्रसाद पा रहे थे। × × × साधुगण जिस प्रेम से भोजन करते थे, उससे यह शंका होती थी कि स्वादपूर्ण वस्तुओं में कहीं भक्ति-भजन से भी अधिक सुख तो नहीं है। × × वे कभी पेट पर हाथ फेरते और कभी आसन बदलते थे। मुँह से 'नहीं' कहना तो वे घोर पाप के समान समझते थे। × × × इसलिए ये महात्मागण घी और खोये से उदर को खूब भर रहे थे।"

—नवनिधि, पृ० ४३-४४

भट्ट साधुओं और पंडे-पुजारियों को प्रेमचन्द ने अनेक कहानियों में अपने अचूक व्यंग्य का निशाना बनाया है। मोटेराम सीरीज की उनकी अधिकांश कहानियाँ समाज के इस मुफ्तखोर अंग के हथकण्डों को अनावृत करने के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं। इस संबंध में उनकी 'सत्याग्रह' (मानसरोवर, भाग ३) और 'निमन्त्रण' (मानसरोवर, भाग ५) कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। मुफ्तखोर साधुओं की समस्या पर ही प्रेमचन्द की एक और छोटी-सी कहानी है—'बाबाजी का भोग' (मानसरोवर, भाग ३)। दो पृष्ठों की यह लघु कथा प्रेमचन्द की कतिपय श्रेष्ठतम यथार्थवादी कहानियों में से है। कहानी में प्रेमचन्द ने एक परिश्रमी किन्तु भूखे किसान-परिवार और एक मुफ्तखोर बाबाजी के 'कन्ट्रास्ट' को पूरी यथार्थवादिता के साथ प्रस्तुत भर कर दिया है। कहानी-कार अपनी तरफ से कुछ नहीं कहता, सब कुछ पाठक को सोचना पड़ता है। कहानी में किसी आदर्श की स्थापना नहीं की गई है, न कोई सुधारवादी समाधान कहानीकार की ओर से सुझाया गया है। किसान-परिवार की गरीबी का चित्र एक ओर तथा बाबाजी की मुफ्तखोरी का चित्र दूसरी ओर[१]—इन दो चित्रों के अंतर को ही प्रस्तुत कहानी में उपस्थित किया गया है। कहानी के अंत में पाठक सोचने पर विवश हो जाता है कि आखिर क्या कारण है कि रामधन जैसे परिश्रमी इंसान रात को भूखे सोएँ और बाबाजी जैसे अकर्मण्य, आलसी, मुफ्तखोर और दूसरों के श्रम पर जिंदा रहने वाले दाल-बाटी उड़ाएँ ? पाठक सोचने पर मजबूर हो जाता है कि आखिर इस उपजीवी वर्ग की सामाजिक उपयोगिता क्या है ?

'नवनिधि' के प्रकाशन के बाद भी प्रेमचन्द ने समय-समय पर कुछ ऐतिहासिक

---

१. "रामधन ने जाकर स्त्री से कहा—साधु द्वार पर आये हैं, उन्हें कुछ दे दो।

"स्त्री बरतन मांज रही थी, और इस घोर चिन्ता में मग्न थी कि आज भोजन क्या बनेगा, घर में अनाज का एक दाना भी न था। चैत का महीना था; किन्तु यहा दोपहर ही को अन्धकार छा गया था। उपज सारी-की-सारी खलिहान से उठ गयी। आधी महाजन ने ले ली, आधी जमींदार के प्यादों ने वसूल की, भूसा बेचा तो बैल के व्यापारी से गला छूटा, बस थोड़ी-सी गोठ अपने हिस्से में आई। उसी को पीट-पीटकर एक मन-भर दाना निकाला था। किसी तरह चैत का महीना पार हुआ। अब आगे क्या होगा। क्या बैल खायेंगे, क्या घर के प्राणी खायेंगे, यह ईश्वर ही जाने।"

—मानसरोवर, भाग ३ पृ० ३१८

× × ×

"घी आ गया। साधुजी ने ठाकुरजी की पिंडी निकाली घंटी बजायी। और भोग लगाने बैठे। खूब तनकर खाया, फिर पेट पर हाथ फेरते हुए द्वार पर लेट गये। थाली, बटली, और कलछुली रामधन घर में मांजने के लिए उठा ले गया।

"उस रात रामधन के घर चूल्हा नहीं जला।.........

"रामधन लेटा, तो सोच रहा था—मुझसे तो यही अच्छे।"

—वही, पृ० ३१९

कहानियाँ लिखी हैं; जैसे 'परीक्षा', 'वज्रपात', 'दिल की रानी', 'लैला', 'क्षमा', 'धिक्कार', 'शतरंज के खिलाड़ी' इत्यादि। 'परीक्षा' (मानसरोवर, भाग ३) और 'वज्रपात' (मानसरोवर, भाग ३) दोनों ही मुगलकालीन कहानियाँ हैं, जिनमें मुगलकाल के नैतिक, चारित्रिक और सामाजिक पतन का चित्रण किया गया है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि स्त्रियाँ ही किसी जाति अथवा समाज की नैतिक और चारित्रिक चेतना की प्रतीक होती हैं। जब स्त्रियाँ अपने सम्मान और गौरव की रक्षा का प्रयत्न त्यागकर किसी भी परिस्थिति से समझौता करने को तैयार हो जावें तो हमें समझ लेना चाहिए कि उस जाति और समाज की जीवनी शक्ति नष्ट हो चुकी है और वह कभी भी विनाश के गर्त्त में समा सकती है। 'परीक्षा' में शाही हरम की बेगमों की कायरता और क्लीवत्व दिखाकर प्रेमचन्द ने इसी सत्य का उद्‌घाटन किया है।[१]

'दिल की रानी' (मानसरोवर, भाग १) और 'क्षमा' (मानसरोवर, भाग ३) कहानियों में प्रेमचन्द ने अहिंसा और हिंसा, प्रेम और घृणा, न्याय और अन्याय के संघर्ष को प्रस्तुत किया है। इस्लाम पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि उसका प्रचार तलवार के बल पर हुआ है, उसमें प्रेम की शक्ति से अधिक तलवार की ताकत पर विश्वास किया जाता है। 'दिल की रानी' और 'क्षमा' में इन्हीं आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। हिंसा, घृणा, जुल्म, रक्तपात, धर्मान्धता, असहिष्णुता आदि की प्रवृत्तियाँ किसी धर्म या संप्रदाय-विशेष के मानने वालों में ही पाई जाती हों—ऐसी बात नहीं है। विश्व का कोई भी धर्म इन विभाजक प्रवृत्तियों की शिक्षा नहीं देता। इस्लाम भी इस सामान्य तथ्य का अपवाद नहीं है। 'क्षमा' का शेख हसन अपने बेटे को मारने वाले ईसाई दाऊद से कहता है : "दाऊद, मैंने तुम्हें माफ़ किया। मैं जानता हूं, मुसलमानों के हाथ ईसाइयों को बहुत तकलीफें पहुँची हैं; मुसलमानों ने उन पर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं, उनकी स्वाधीनता हर ली है! लेकिन यह इसलाम का नहीं, मुसलमानों का कसूर है। विजय-गर्व ने मुसलमानों की मति हर ली है। हमारे पाक नबी ने यह शिक्षा नहीं दी थी, जिस पर आज हम चल रहे हैं। वह स्वयं क्षमा और दया का सर्वोच्च आदर्श है। मैं इसलाम के नाम को बट्टा न लगाऊँगा।"[२] स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की यह कहानी नाम के लिए ही ऐतिहासिक है, वर्ना

१. "सहसा नादिरशाह कठोर शब्दों में बोला—ऐ खुदा की बन्दियों, मैंने तुम्हारा इम्तहान लेने के लिए बुलाया था और अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि तुम्हारी निस्बत मेरा जो गुमान था, वह हर्फ़-ब-हर्फ़ सच निकला। जब किसी कौम की औरतों में गैरत नहीं रहती, तो वह कौम मुरदा हो जाती है। × × × मैं तुम्हारी बेहुरमती नहीं करना चाहता था। × × × मुझे यह देखकर सच्चा मलाल हो रहा है कि तुममें गैरत का जौहर बाकी नहीं रहा। × × × अब यह सल्तनत जिन्दा नहीं रह सकती। इसकी हस्ती के दिन गिने हुए हैं।"

—मानसरोवर, भाग ३ पृ० १०७-१०८

२. मानसरोवर, भाग ३ पृ० २०८

उसमें आधुनिक युग की एक ज्वलन्त सामाजिक और राजनीतिक समस्या—धार्मिक असहिष्णुता की समस्या—का चित्रण हुआ है। प्रस्तुत कहानी में गांधीजी के सर्वधर्म समभाव-व्रत का संदेश दिया गया है और दिखाया गया है कि क्षमा तथा सहिष्णुता ही वास्तव में धर्म की आत्मा है। धार्मिक सहिष्णुता को गांधीजो सर्वधर्म समभाव के नाम से पुकारते थे। 'सहिष्णुता' या 'सर्वधर्म-आदर' शब्द उन्हें पसन्द नहीं थे, क्योंकि सहिष्णुता में सहने—'टालरेशन'—का भाव है और आदर में कृपा का भाव। गांधीजी मानते थे कि दूसरे धर्मों को सहन करना या उन्हें आदर की दृष्टि से देखना ही पर्याप्त नहीं है। अहिंसा हमें विश्व के सभी धर्मों के प्रति समभाव रखना सिखाती है।[1]

'दिल की रानी' का मूल प्रतिपाद्य भी यही सन्देश है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने अपने विचारों को और भी अधिक स्पष्टता और विस्तार से प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं: **'मजहब खिदमत का नाम है, लूट और कत्ल का नहीं।'**[2] 'दिल की रानी' का तैमूर प्रेमचन्द के इन्हीं उदार और मानववादी विचारों का वाहक है। वह कहता है: **"बेशक जजिया मुआफ होना चाहिए। मुझे कोई मजाज नहीं है कि दूसरे मजहबवालों से उनके ईमान का तावान लूं! कोई मजाज नहीं है; अगर मस्जिद में अजान होती है, तो कलीसा में घण्टा क्यों न बजे? घण्टे की आवाज में कुफ्र नहीं है। × × × काफिर वह है, जो दूसरों का हक छीन ले, जो गरीबों को सताये, दगाबाज हो, खुदगरज हो। काफिर वह नहीं, जो मिट्टी या पत्थर के टुकड़ों में खुदा का नूर देखता है, जो नदियों और पहाड़ों में, दरख्तों और झाड़ियों में खुदा का जलवा पाता हो। × × × किसी को काफिर समझना ही कुफ्र है। हम सब खुदा के बन्दे हैं, सब।"**[3] 'दिल की रानी' में प्रेमचन्द युद्ध और शांति, हिंसा और अहिंसा, घृणा और प्रेम के संघर्ष में प्रेम, अहिंसा और शांति की शक्तियों की अंतिम विजय दिखाते हैं। पशुबल के ऊपर आत्मबल तथा प्रेम की शक्ति की प्रतिष्ठा ही प्रस्तुत कहानी का मूल प्रतिपाद्य है।

प्रेमचन्द इस तथ्य से भली भांति परिचित थे कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य सांस्कृतिक और आर्थिक स्तर पर ही संभव है, केवल राजनीतिक स्तर पर नहीं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी कहानियों में इस्लाम के इतिहास और मुस्लिम-संस्कृति को प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। इस संबंध में उनकी 'न्याय' (मानसरोवर, भाग २) कहानी और 'कर्बला' नाटक का उल्लेख किया जा सकता है। 'ईदगाह' (मानसरोवर, भाग १) कहानी में बाल-मनोविज्ञान के अतिरिक्त मुस्लिम-संस्कृति का भी एक चित्र प्रस्तुत किया गया है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि मूलतः मुसलमानों की भी वही

---

१. गांधी साहित्य, भाग ५ पृ० १५७

२. मानसरोवर, भाग १ पृ० २०३

३. मानसरोवर, भाग १ पृ० २१०

समस्याएँ हैं, जो हिन्दुओं की हैं—भूख, गरीबी और अभाव। हामिद के रूप में प्रेमचन्द ने एक अमर बाल-चरित्र की सृष्टि की है। हामिद के जीवन-संघर्ष के द्वारा प्रेमचन्द ने वर्त्तमान अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाएं हैं। कहानी के अंत में पाठक के मन में आज की उस समाज-व्यवस्था के प्रति एक तीव्र विरोध की भावना उठे बिना नहीं रहती, जो हामिद को असमय ही प्रौढ़ों जैसा व्यवहार करने पर विवश करती है।

प्रेमचन्द की ऐतिहासिक कहानियों की चर्चा करते हुए उनकी 'शतरंज के खिलाड़ी' (प्रेम-द्वादशी) कहानी को भी नहीं छोड़ा जा सकता। 'शतरंज के खिलाड़ी' में प्रेमचन्द ने ह्रासोन्मुख सामन्ती समाज-व्यवस्था के सामाजिक, नैतिक और चारित्रिक पतन का एक अत्यन्त मार्मिक व्यंग्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। शतरंज के खिलाड़ियों के माध्यम से उस युग का घोर आलस्यपूर्ण, विलासमग्न, उत्तरदायित्वहीन, अनैतिक तथा असामाजिक जीवन मूर्त्त हो उठा है। शतरंज के खिलाड़ी व्यक्तिगत रूप से कायर नहीं हैं, लेकिन राष्ट्रीय और सामाजिक रूप में कायर और क्लीव व्यक्तियों से भी बढ़कर हैं। मिर्जा सज्जादअली और मीर रोशनअली प्रेमचन्द की कुछ सर्वश्रेष्ठ चरित्र-सृष्टियों में से हैं। हिन्दुस्तान आज स्वतंत्र हो चुका है, किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश में आज भी अनेक मिर्जा सज्जादअली और मीर रोशनअली विद्यमान हैं, जो 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' के अस्वस्थ एवं घोर असामाजिक जीवन-दर्शन में विश्वास रखते हैं। मिर्जा और मीर जैसे व्यक्तियों के कारण ही हिन्दुस्तान को गुलामी का तौक पहनना पड़ा था। 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी को ऐतिहासिक केवल इस अर्थ में कहा जा सकता है कि उसमें कहानीकार ने अपनी बात ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में कही है, वर्ना वह एक शुद्ध राजनीतिक और सामाजिक व्यंग्य है—इसमें सन्देह नहीं। प्रस्तुत कहानी में व्यंग्यकार प्रेमचन्द को अपने उत्कृष्टतम रूप में देखा जा सकता है।

'प्रेम-पूर्णिमा' (सन् १९२०) के प्रकाशन तक डॉ० राजेश्वर गुरु प्रेमचन्द की कहानियों का प्रारम्भिक काल मानते हैं। 'सप्त सरोज' और 'नवनिधि' की कहानियों की तरह इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ भी स्थूल आदर्शवाद से ओत-प्रोत तथा कच्ची भावुकता के रंग में रंगी हुई हैं। 'ईश्वरीय न्याय' में सत्य की अंतिम विजय दिखाई गई है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि मनुष्य मूलतः सत्यप्रिय और न्यायप्रिय होता है, असत्य और अन्याय का आश्रय वह केवल परिस्थितियों के चक्कर में पड़कर ही लेता है। स्वभावगत सत्य और परिस्थितिगत असत्य के इस संघर्ष में यदि किसी प्रकार मनुष्य के हृदय के देवत्व को जागृत कर दिया जाय तो इसमें संदेह नहीं कि सत्य और न्याय की रक्षा एवं पुनर्स्थापना के लिए वह बड़े-से-बड़ा त्याग और आत्म-बलिदान कर सकता है। महात्मा गांधी का हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त—जिसे हम उनकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक

आदि मान्यताओं की धुरी कह सकते हैं—इसी विश्वास पर, इसी आस्था पर टिका हुआ है। 'ईश्वरीय न्याय' में प्रेमचन्द कहते हैं : "कुछ विद्वानों का कथन है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाप की ओर होती है, पर यह कोरा अनुमान ही अनुमान है; बात अनुभवसिद्ध नहीं। सच बात तो यह है कि मनुष्य स्वभावतः पाप-भीरु होता है... ।"[१] इसी संग्रह की 'शंखनाद' कहानी में भी प्रेमचन्द ने गांधीवाद के इस सिद्धान्त का अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं : "जिस तरह पत्थर और पानी में आग छिपी रहती है, उसी तरह मनुष्य के हृदय में भी—चाहे वह कैसा ही क्रूर और कठोर क्यों न हो, उत्कृष्ट और कोमल भाव छिपे रहते हैं।"[२] 'बेटी का धन' (प्रेम-पूर्णिमा) कहानी में भी इसी सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इसमें दिखाया गया है कि सूदखोर महाजन भी सर्वथा हृदयहीन और क्रूर नहीं होते। प्रेमचन्द के महाजन सिर्फ सूदखोर ही नहीं हैं, उनमें कुछ उदार हृदय वाले भी हैं। 'बेटी का धन' का झगड़ू साहू और 'मुक्तिधन' (मानसरोवर, भाग ३) का दाऊदयाल ऐसे ही उदार-हृदय महाजन हैं। मनुष्य-हृदय के देवत्व की प्रबलता को प्रेमचन्द ने अपनी कतिपय अन्य कहानियों का भी विषय बनाया है। उदाहरण के लिए उनकी 'माता का हृदय' (मानसरोवर, भाग ३) और 'शूद्रा' (मानसरोवर, भाग २) कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। 'माता का हृदय' में दिखाया गया है कि मनुष्य के हृदय में स्थित देवता इतना प्रबल होता है कि वह मनुष्य को अनजाने ही भलाई की ओर प्रेरित करता है।[३] 'शूद्रा' में भी प्रेमचन्द ने अपने इसी गांधीवादी विश्वास को वाणी दी है कि क्रूर-से-क्रूर अत्याचारी में भी मानवीय भावों को उद्बुद्ध किया जा सकता है। 'शूद्रा' के जण्ट साहब का हृदय-परिवर्तन अविश्वसनीय अवश्य है, किन्तु सर्वथा असंभव नहीं। 'माता का हृदय' कहानी में पुलिस के हथकण्डों का भी वर्णन किया गया है। राजनीतिक कार्यकर्ताओं को चोरी-डाके के झूठे अपराधों में फाँसकर लंबी-लंबी सजाएँ दिलाना साम्राज्यवाद की पुरानी नीति रही है। अपने समय के अन्य सैकड़ों-हजारों देशभक्त नवयुवकों की तरह प्रस्तुत कहानी का आत्मानन्द भी साम्राज्य की इस नीति का शिकार बनता है।[४]

---

१. प्रेम-पूर्णिमा, पृ० १३ (दसवां संस्करण, सं० २०११)

२. वही, पृ० ४१

३. मानसरोवर, भाग ३ पृ० १०१

४. "आत्मानन्द के सेवा-कार्य ने, उसकी वक्तृताओं ने और उसके राजनीतिक लेखों ने उसे सरकारी कर्मचारियों की नजरों में चढ़ा दिया था। सारा पुलिस-विभाग नीचे से ऊपर तक, उससे सतर्क रहता था, सबकी निगाहें उस पर लगी रहती थीं। आखिर जिले में एक भयंकर डाके ने उन्हें इच्छित अवसर प्रदान कर दिया। आत्मानन्द के घर की तलाशी हुई, कुछ पत्र और लेख मिले जिन्हें पुलिस ने डाके का बीजक सिद्ध किया। लगभग २० युवकों की एक टोली फांस ली गयी। आत्मानन्द इनका मुखिया ठहराया गया। शहादतें तैयार हुईं। इस बेकारी और गिरानी के जमाने में आत्मा से ज्यादा सस्ती और कौन वस्तु हो सकती है! बेचने को और किसी के पास

'सेवामार्ग' (प्रेम-पूर्णिमा) में प्रेमचन्द ने गांधीवाद के एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कहानी का बाह्य आवरण अलौकिकता से परिपूर्ण है, किन्तु उसके माध्यम से एक नितान्त लौकिक एवं मानवीय सत्य का उद्घाटन किया गया है। वह सत्य है—निस्स्वार्थ और फल की आशा के बिना की जाने वाली सेवा ही सच्चे आत्मिक संतोष का मार्ग है, धन और विलास के मार्ग से वह तोष नहीं प्राप्त हो सकता। हम देख चुके हैं कि 'कायाकल्प' में भी प्रेमचन्द ने अलौकिक तथा अतिमानवीय घटनाओं के माध्यम से इसी सत्य का उद्घाटन किया है।

'प्रेम-पूर्णिमा' में एक ऐसी कहानी भी है जो प्रेमचन्द की निरन्तर विकसित हो रही सामाजिक चेतना का दिग्दर्शन कराती है। 'बलिदान' में प्रेमचन्द ने एक किसान को मजदूर होते दिखाया है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि आज से बीस वर्ष पूर्व हरखचन्द्र कुरमी के यहाँ शक्कर बनती थी और कई हल की खेती होती थी, लेकिन विदेशी चीनी ने उसका मटियामेट कर दिया। सत्तर वर्ष का बूढ़ा हरखू जो पहिले एक तकियेदार माचे पर बैठा हुआ नारियल पिया करता था, अब सिर पर टोकरी लिए खाद फेंकता है।[1] किसान से मजदूर होने की यह कहानी उस समय अपने निर्मम किन्तु यथार्थ चरमान्त पर पहुँच जाती है जब कि हरखू का पोता २०) मासिक पर एक ईंट के भट्टे पर काम करने लगता है।[2] इस प्रकार पूंजीवाद की बाढ़ में एक और किसान-परिवार बह जाता है। इस संबंध में 'गोदान' और प्रस्तुत कहानी में पाई जाने वाली समानता की ओर इंगित कर देना हम आवश्यक समझते हैं। 'गोदान' में पूंजीवादी सभ्यता के जिस निर्मम सत्य का उद्घाटन किया गया है, प्रस्तुत कहानी में भी उसी सच्चाई को चित्रित किया गया है।

यहाँ पर हम 'प्रेम-पूर्णिमा' की एक अन्य कहानी 'शिकारी राजकुमार' का भी उल्लेख करना चाहते हैं। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और कलात्मक दृष्टि से यह एक साधारण कहानी है, किन्तु इसकी विशेषता इस बात में है कि इसमें हमें प्रेमचन्द के उस मानववादी रूप का दर्शन होता है जो अन्याय-प्रतिकार में सदैव तत्पर रहता था। 'शिकारी राजकुमार' में प्रेमचन्द ने मनुष्यरूपी कतिपय ऐसे हिंस्र जीवों—डाकू, महंत और अन्यायी राज्य-कर्मचारी—का परिचय दिया है जो इंसानों के रक्त और मांस पर जीवित रहते हैं। प्रेमचन्द शिकारी राजकुमार को भोले-भाले और निरीह जानवरों को मारने के बजाए इन मनुष्यरूपी हिंस्र जीवों का शिकार करने के लिए प्रेरित करते हैं। कलात्मक

रह ही क्या गया है। नाममात्र का प्रलोभन देकर अच्छी-से-अच्छी शहादतें मिल सकती हैं, और पुलिस के हाथों में पड़कर तो निकृष्ट-से-निकृष्ट गवाहियाँ भी देव-वाणी का महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। शहादतें मिल गयीं, महीने भर तक मुकदमा चला, मुकदमा क्या चला एक स्वाँग चलता रहा, और सारे अभियुक्तों को सजाएँ दे दी गयीं!"

—मानसरोवर, भाग ३ पृ० ९६

१. प्रेम-पूर्णिमा, पृ० १५१
२. वही, पृ० १६४

दृष्टि से यह एक असफल कहानी है, क्योंकि उसकी उद्देश्यमूलकता सूक्ष्म और सांकेतिक न रहकर स्थूल और उपदेशात्मक बन गई है।

'प्रेम-पचीसी' संग्रह में हम पहली बार कहानीकार प्रेमचन्द की सामाजिक और राजनीतिक चेतना के क्रमशः प्रखर होते हुए रूप को देखते हैं। 'प्रेम-पचीसी' का प्रकाशन १६२३ ई० में हुआ था। प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' उपन्यास भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ था। स्वभावतः कहानीकार प्रेमचन्द को इस संग्रह की कहानियों में हम पहले-पहल सामाजिक प्रश्नों के अतिरिक्त आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर भी विचार करते देखते हैं। प्रेमचन्द के आर्थिक विचारों को जानने के लिए इस संग्रह की 'पशु से मनुष्य' कहानी का महत्त्व निर्विवाद है। इस कहानी का नायक प्रेमशंकर 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर का ही प्रतिरूप है। दोनों के विचारों में अद्भुत साम्य है। प्रेमचन्द प्रस्तुत कहानी में घोषित करते हैं कि पूंजी और श्रम में—शोषक और शोषितों में—आज जो संघर्ष चल रहा है, उसमें जल्द ही श्रम की— शोषितों की—विजय होने वाली है। यूं तो आज से पहले भी पूंजी के प्रभुत्व को अनेक बार धक्का लग चुका है, लेकिन लक्षण बता रहे हैं कि इस बार पूंजी की जो पराजय होगी वह अंतिम और निर्णायक होगी।[1] वर्त्तमान वर्ग-संघर्ष में श्रम की इस विजय के पश्चात् जिस युग का आगमन होगा, वह सहकारिता का युग होगा।[2] वर्त्तमान समाज-व्यवस्था इतनी भ्रष्ट हो चुकी है कि उसमें परिश्रम का फायदा परिश्रम करने वाली बहुसंख्यक जनता को नहीं, वरन् उपजीवी वर्ग के कुछ अन्य व्यक्तियों को मिलता है। प्रेमचन्द मानते थे कि **"यदि एक मजूर ५) रुपया में अपना निर्वाह कर सकता है, तो एक मानसिक काम करनेवाले प्राणी के लिए इससे दुगुनी-तिगुनी आय काफी होनी चाहिए और यह अधिकता इसलिए कि उसे कुछ उत्तम भोजन, वस्त्र तथा सुख की आवश्यकता होती है। मगर पांच और पांच हजार, पचास और पचास हजार का अस्वाभाविक अन्तर क्यों हो ? इतना ही नहीं, हमारा समाज पांच और पांच लाख के अन्तर का भी तिरस्कार नहीं करता; वरन् उसकी और भी प्रशंसा करता है।"**[3]

प्रस्तुत कहानी में प्रेमचन्द ने अपने शिक्षा-संबंधी विचारों को भी व्यक्त किया है। वे मानते थे कि जो शिक्षा हमें दूसरों का शोषण करने के लिए प्रेरित और शिक्षित करे, वह शिक्षा नहीं भ्रष्टता है। शिक्षा वास्तव में प्रेम और सेवा का साधन है, शोषण का नहीं। वर्त्तमान शिक्षण-प्रणाली लोगों को घोर स्वार्थी, व्यक्तिवादी, अकर्मण्य, आलसी और निकम्मा बनाती है। यही कारण है कि आज का शिक्षित वर्ग दूसरों के श्रम के ऊपर

---

१. प्रेम-पचीसी, पृ० २३ (बनारस, १६५८)
२. वही, पृ० २०
३. वही, पृ० २१-२२

ऐश करता है, स्वयं परिश्रम करना नहीं जानता।[1] हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बौद्धिक वाद-विवाद के आधिक्य के कारण प्रस्तुत कहानी 'कहानी' न रहकर एक 'भाषण' मात्र बन गई है। कहानीकार ने अपने सामाजिक-आर्थिक विचारों को इतनी स्पष्टता से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है कि कहानी की कलात्मकता पूर्णतः नष्ट हो गई है।

प्रस्तुत संग्रह में प्रेमचन्द की कतिपय राजनीतिक कहानियाँ भी संकलित हैं। 'आदर्श विरोध' में उन राजनीतिक नेताओं पर व्यंग्य किया गया है जो अधिकार पाते ही पक्के शासन-भक्त हो जाते हैं। 'दुस्साहस' में गांधीजी के शराबबंदी और नशाबंदी-आंदोलन का चित्रण है। इस कहानी के मुंशी मैकूलाल और उनके साथियों का जो हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है, वह सर्वथा आकस्मिक अतः अस्वाभाविक है। अपनी एक अन्य कहानी 'राजभक्त' में प्रेमचन्द स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि "मानव-चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन बहुत कम हुआ करते हैं।"[2] 'सुहाग की साड़ी' में स्वदेशी-आंदोलन का चित्रण है। प्रेमचन्द दिखाते है कि स्वदेशी-आंदोलन के कारण असंख्य जुलाहों और कोरियों को बेकारी तथा दूसरों की गुलामी के शाप से मुक्ति मिल जाती है।[3] किन्तु प्रेमचन्द यह भूल जाते हैं कि इस आंदोलन का असली लाभ बड़े-बड़े उद्योगपतियों और मिल-मालिकों को ही पहुँचा था, जुलाहों और कोरियों को नहीं। इस आंदोलन ने सूत और कपड़े की मिलों (Textile industry) के विकास में अभूतपूर्व योग दिया था। यही कारण है कि देश का पूंजीपति वर्ग गांधीजी के स्वदेशी और खद्दर-विकास कार्यक्रम का समर्थन करते हुए भी नए-नए कारखानें और मिलें स्थापित करता रहा।[4] स्वदेशी-

---

१. "प्रेमशंकर— ××× मुझे वर्तमान शिक्षा और सभ्यता पर विश्वास नहीं है। ××× जो शिक्षा हमें निर्बलों को सताने के लिए तैयार करे, जो हमें धरती और धन का गुलाम बनाये, जो हमें भोग-विलास में डुबाये, जो हमें दूसरों का रक्त पीकर मोटा होने का इच्छुक बनाये वह शिक्षा नहीं भ्रष्टता है। ××× हमने विद्या और बुद्धि-बल को विभूति के शिखर पर चढ़ने का मार्ग बना लिया। वास्तव में वह सेवा और प्रेम का साधन था। ××× मैं समस्त शिक्षित समुदाय को केवल निकम्मा ही नहीं, वरन् अनर्थकारी भी समझता हूँ।"

—प्रेम-पचीसी, पृ० २०-२१

२. मानसरोवर, भाग ६ पृ० २६९

३. प्रेम-पचीसी, पृ० ५५-५७

४. "The industrialists, with their historical sense and knowledge of laws of economy, did not regard Gandhiji's parallel propaganda of khaddar as a danger to their industrial programme. In fact, while operating and multiplying modern machine-based industries in India and deriving profits out of them, some of them, anomalous though it be, donned handspun khaddar and even subsidized the khaddar movement."

—Social Background of Indian Nationalism, P. 178

आंदोलन के कारण देश के छोटे दूकानदार-वर्ग (Petty shopkeeper class) को कितना पिसना पड़ा था, कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी थीं— इसका चित्रण प्रेमचन्द ने अपनी 'तावान' (मानसरोवर, भाग १) कहानी में किया है। प्रेमचन्द ने इस आंदोलन के एक ही पक्ष का चित्रण नहीं किया है—'तावान' इसका प्रमाण है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने स्वदेशी-आंदोलन और कांग्रेस पर एक गहरा व्यंग्य किया है। कांग्रेस के स्वयं-सेवकों और अधिकारियों का पुलिस को भी मात कर देने वाला निर्मम व्यवहार देखकर 'तावान' की अंबा पूछती है : "जो अभी इतने निर्दयी हैं, वह कुछ अधिकार हो जाने पर न्याय करेंगे।"[1] प्रस्तुत कहानी से स्पष्ट हो जाता है कि इस आंदोलन का असली बोझा छकौड़ीमल, उसकी वृद्धा माता, रोगिणी पत्नी एवं उसके पांच बेटे-बेटियों को उठाना पड़ा था; जब कि उसका असली लाभ देश के उद्योगपति वर्ग को पहुँचा था।

'प्रेम-पचीसी' की सामाजिक कहानियों मे भी हम प्रेमचन्द के इसी यथार्थोन्मुख रूप की झलक पाते हैं। 'नैराश्य-लीला' में एक ऐसी बाल-विधवा की कहानी कही गई है जो भगवद्भक्ति, समाज-सेवा आदि विभिन्न दिशाओं में अपनी शक्तियों का उपयोग करती है, किन्तु उसे पग-पग पर सन्देह और झूठे लांछनों का सामना करना पड़ता है। धीरे-धीरे वर्त्तमान पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था के प्रति कैलाशी के मन में तीव्र विद्रोह के भाव जागने लगते हैं।[2] वह एकादशी और तीज के व्रतों को, जिनको वह अपने मृत पति के कल्याण की कामना से पिछले आठ वर्षों से रखती आ रही थी, रखना छोड़ देती है।[3] वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में स्त्री का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। वह अपनी आवश्यकताओं के लिए ही नहीं, अपने आत्म-सम्मान के लिए भी पुरुष की आश्रिता है। आज स्त्री का महत्त्व और उपयोगिता केवल दो रूपों में है—पुरुष के मन-बहलाव की सामग्री के रूप में तथा पुरुष के पुत्रों—वे पुत्र जो पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी और उसके कुल का नाम चलाने वाले होते हैं—को जन्म देने वाली के रूप में। दुर्भाग्य से यदि किसी स्त्री की कोख से केवल लड़कियाँ ही जन्म लें तो परिवार में उस स्त्री का जीवन नरक-तुल्य हो

---

१. मानसरोवर, भाग १ पृ० ३०६ (नया संस्करण)

२. "कैलाशी—तो कुछ मालूम भी तो हो कि संसार मुझसे क्या चाहता है। मुझ में जीव और चेतना है, जड़ क्योंकर बन जाऊँ? मुझसे यह नहीं हो सकता कि अपने को अभागिनी दुखिया समझूं और एक टुकड़ा रोटी खाकर पड़ी रहूं। × × × मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूं कि पग-पग पर मुझ पर शंका की जाय, नित्य कोई चरवाहों की भांति मेरे पीछे लाठी लिये घूमता रहे कि किसी के खेत में न जा पड़ूं। यह दशा मेरे लिए असह्य है। × × × इधर कुछ दिनों से उसे अपनी बेकसी का यथार्थ ज्ञान होने लगा था। स्त्री पुरुषों के कितने अधीन है, मानो स्त्री विधाता ने इसीलिए बनायी है कि पुरुषों के अधीन रहे! यह सोचकर वह समाज के अत्याचारों पर दांत पीसने लगती थी।"

—प्रेम-पचीसी, पृ० २३५

३. प्रेम-पचीसी, पृ० २३६

जाता है। 'नैराश्य' (मानसरोवर, भाग ३) कहानी में प्रेमचन्द ने इसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का चित्रण किया है।

विधवा-समस्या पर प्रेमचन्द ने अपनी कुछ और कहानियों में भी विचार किया है, उदाहरणार्थ 'धिक्कार' (मानसरोवर, भाग १) ('धिक्कार' शीर्षक से प्रेमचन्द की एक और कहानी भी है, जो मानसरोवर, भाग ३ में संगृहीत है।), 'स्वामिनी' (मानसरोवर, भाग १) इत्यादि। लगभग एक ही समय की रचनाएँ होने पर भी उक्त दोनों कहानियों में प्रेमचन्द के दो रूप दृष्टिगत होते हैं। 'धिक्कार' की मानी और 'स्वामिनी' की प्यारी के चरित्रों में दक्षिणी और उत्तरी ध्रुव जितना अंतर है। प्रेमचन्द मानी का पुनर्विवाह करवाकर भी उसका वैवाहिक जीवन नहीं दिखा सके हैं। वह क्षणिक आवेश में आकर चलती गाड़ी से कूदकर आत्महत्या कर लेती है।[1] इसे हम मानी की मध्यवर्गीय दुर्बलता कहें अथवा उसके सृष्टा प्रेमचन्द की—बात एक ही है। मानी के विपरीत प्यारी एक स्वस्थ—तन से भी और मन से भी—स्त्री है, जो केवल अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी जीना जानती है। उसमें बाबूवर्ग-सुलभ आत्मदंडीय प्रवृत्ति या मानसिक ग्रन्थियाँ और कुंठाएँ बिलकुल नहीं हैं। वह भर-जवानी में विधवा हो जाती है, किन्तु वैधव्य का यह दुःख उसकी जीवनैषणा को नष्ट नहीं कर पाता। वह प्रेमचन्द की पूर्णा ('प्रतिज्ञा'), गायत्री ('कायाकल्प'), रतन ('गबन'), मानी ('धिक्कार') आदि विधवा-चरित्रों से सर्वथा भिन्न है। प्यारी की इस अपूर्व जीवनैषणा का कारण यह है कि उसे परिश्रम से एक स्वाभाविक लगाव है। अपनी समस्त मर्यादावादिता के बावजूद कहानी के अंत में प्रेमचन्द ने प्यारी और हलवाहे जोखू के स्वस्थ प्रणय की एक मधुर झाँकी भी प्रस्तुत की है। मध्यवर्गीय लोगों की भाँति विधवा-विवाह के पक्ष-विपक्ष के सैद्धान्तिक विवाद में न पड़कर प्यारी अपने लिए एक स्वस्थ जीवन-मार्ग तथा साथी चुन लेती है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत कहानी के द्वारा प्रेमचन्द ने विधवा-समस्या का एक स्वस्थ और व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया है।

विधवा-समस्या के अतिरिक्त अनमेल विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, दहेज की प्रथा, वेश्या-समस्या, मृतक भोज आदि समस्याओं पर भी प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में विचार किया है। 'नया विवाह' (मानसरोवर, भाग २), 'नरक का मार्ग' (मानसरोवर, भाग ३) आदि कहानियों में अनमेल विवाह या वृद्ध-विवाह की समस्या को उठाया गया है। यों तो इस समस्या को 'सेवासदन', 'निर्मला', 'कायाकल्प' और 'गबन' उपन्यासों में भी उठाया गया है; किन्तु 'नया विवाह' कहानी में उसे एक सर्वथा नए दृष्टिकोण (Angle) से देखा गया है। प्रेमचन्द को आम तौर पर मर्यादावादी कहा जाता है, जो वे किसी हद तक हैं भी; किन्तु 'नया विवाह' में प्रेमचन्द ने अपनी मर्यादावादिता को ताक पर रख दिया है। प्रस्तुत कहानी में प्रेमचन्द लाला डंगामल की जवान पत्नी आशा

---

१. मानसरोवर, भाग १ पृ० २३०

को अपने युवक नौकर जुगल से प्रेम करते दिखाते हैं। प्रेमचन्द-साहित्य में यह एक सर्वथा नवीन बात है। 'नरक का मार्ग' की नायिका भी अनमेल विवाह की शिकार है। अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को दबाने के लिए वह भक्ति का मार्ग अपनाती है, किन्तु भक्ति के पास उसकी समस्या का समाधान नहीं है। अंत में वह वेश्या हो जाती है। कहानी के अंत में कहानीकार एक शुष्क उपदेशक का रूप धारण कर लेता है, फलतः कहानी की समस्त प्रभावात्मकता नष्ट हो गई है।

अपनी कुछ कहानियों में प्रेमचन्द ने अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को भी उठाया है। उदाहरण के लिए उनकी 'कायर' (मानसरोवर, भाग १) कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। इस कहानी का नायक केशव एक ऐसा युवक है जो बातें बड़ी-बड़ी कर लेता है, किन्तु उन बातों को कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति और साहस उसमें नहीं है। प्रेमचन्द कहते हैं : "**वह साधारण युवकों की तरह सिद्धान्तों के लिए बड़े-बड़े तर्क कर सकता था, जबान से उनमें अपनी भक्ति की दोहाई दे सकता था; लेकिन इसके लिए यातनाएँ झेलने की सामर्थ्य उसमें न थी।**"[1] केशव के विपरीत उसकी प्रेमिका प्रेमा बड़ी-बड़ी बातें नही करती, लेकिन समय आने पर वह अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग कर सकती है। प्रेमा के पिता हालाँकि पुराने विचारों के व्यक्ति हैं, लेकिन उनमें भी केशव से अधिक साहस है। वह प्रेमा के अन्तर्जातीय विवाह के संबंध में अपनी पत्नी से कहते हैं : "......**कुल-मर्यादा के नाम को कहाँ तक रोयें। × × × कुल-मर्यादा के नाम पर मैं प्रेमा की हत्या नहीं कर सकता। दुनिया हँसती हो, हँसे; मगर वह जमाना बहुत जल्द आने वाला है, जब ये सभी बन्धन टूट जायँगे। आज भी सैकड़ों विवाह जात-पाँत के बन्धनों को तोड़कर हो चुके हैं। अगर विवाह का उद्देश्य स्त्री और पुरुष का सुखमय जीवन है, तो हम प्रेमा की उपेक्षा नहीं कर सकते।**"[2] केशव की कायरता से मर्माहत होकर प्रेमा आत्महत्या कर लेती है। स्पष्ट है कि प्रेमा का यह भावुकतापूर्ण और नकारात्मक कदम उसके चरित्र को गिराने वाला ही सिद्ध हुआ है। आत्महत्या करने के बजाए यदि वह केशव जैसे पुंसत्वहीन पुरुष की याद को भुलाकर अपने जीवन को नए सिरे से जीने का प्रयास करती तो जीवन का ज्यादा स्वस्थ आदर्श प्रस्तुत कर सकती थी। आत्महत्या को किसी भी परिस्थिति में उचित नहीं ठहराया जा सकता, प्रेम में असफल होने पर या मनचाहा वर न मिलने पर आत्महत्या करना तो और भी अनुचित, अनावश्यक तथा मूर्खतापूर्ण है। गांधीजी मानते थे कि यदि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ भी वर न मिलने पर अथवा विवाह न होने पर आत्महत्या करें तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी शिक्षा व्यर्थ है। जो शिक्षण-प्रणाली हमें सामाजिक बुराइयों से लड़ने

---

१. मानसरोवर, भाग १ पृ० २४३
२. वही, भाग १ पृ० २४०

की शक्ति न प्रदान करे, उस प्रणाली में निस्सन्देह कोई मूलभूत कमी है।[1] अन्तर्जातीय विवाह के संबंध में भी गांधीजी के विचार इतने ही प्रगतिशील हैं। वे कहते हैं : "लड़कियों के मां-बाप को अंग्रेजी डिग्रियों का मोह छोड़ देना चाहिये और अपनी लड़कियों के लिए सच्चे और बहादुर नौजवान ढूंढ़ने के लिए अपनी छोटी जातियों और प्रांतों से बाहर निकलने में संकोच नहीं करना चाहिये।"[2] गांधीजी यह भी मानते थे कि दहेज की प्रथा उस समय तक समाप्त नहीं हो सकती जब तक किसी खास जाति के भीतर ही विवाह करने का बन्धन रहेगा। अतः यदि दहेज की बुराई को जड़ से मिटाना है तो लड़के-लड़कियों और उनके अभिभावकों को जाति का बन्धन तोड़ना ही पड़ेगा।[3]

दहेज-प्रथा के संदर्भ में हम यहाँ पर प्रेमचन्द की दो कहानियों का उल्लेख करना चाहते हैं—'एक आँच की कसर' (मानसरोवर, भाग ३) और 'उद्धार' (मानसरोवर, भाग ३)। 'एक आँच की कसर' ऐसे पाखण्डी (Hypocritic) समाज-सुधारकों की व्यंग्यपूर्ण कहानी है, जो दहेज का विरोध केवल इसलिए करते हैं क्योंकि इससे समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। प्रस्तुत कहानी के महाशय यशोदानन्दन एक ऐसे ही पाखण्डी समाज-सुधारक हैं, जो दहेज के विरोध में लंबे-चौड़े व्याख्यान देते हुए भी चोरी-छिपे दहेज की रकमें लेते हैं। 'एक आँच की कसर' में यदि व्यंग्यकार प्रेमचन्द प्रमुख हैं तो 'उद्धार' में आदर्शवादी प्रेमचन्द। दहेज की प्रथा के कारण हिन्दू समाज में लड़कियों की शादी एक समस्या बन गई है। इस संबंध में 'उद्धार' में प्रेमचन्द कहते हैं : "हिन्दू समाज की वैवाहिक प्रथा इतनी दूषित, इतनी चिन्ताजनक, इतनी भयंकर हो गयी है कि कुछ समझ में नहीं आता, उसका सुधार क्योंकर हो। विरले ही ऐसे माता-पिता होंगे जिनके सात पुत्रों के बाद भी एक कन्या उत्पन्न हो जाय तो वह सहर्ष उसका स्वागत करें। कन्या का जन्म होते ही उसके विवाह की चिन्ता सिर पर सवार हो जाती है और आदमी उसी में डुबकियां खाने लगता है। अवस्था इतनी निराशामय और भयानक हो गयी है कि ऐसे माता-पिताओं की कमी नहीं है जो कन्या की मृत्यु पर हृदय से प्रसन्न होते हैं, मानों सिर से बाधा टली। इसका कारण केवल यही है कि दहेज की दर, दिन दूनी रात चौगुनी, पावस काल के जल-वेग के समान बढ़ती चली जा

---

१. "पढ़ी-लिखी लड़कियों को वर न मिले तो वे आत्महत्या करती हुई क्यों पाई जायं? उनकी तालीम की कीमत ही क्या है अगर उससे उनमें एक ऐसे रिवाज को तोड़ने की शक्ति न आये जो किसी भी तरह बचाव करने के लायक नहीं है और जो नैतिक दृष्टि से इतना घृणित है? जवाब साफ है। जो शिक्षा-प्रणाली लड़के और लड़कियों को सामाजिक या दूसरी बुराइयों के साथ लड़ने के हथियार नहीं देती उस प्रणाली में जरूर कोई न कोई बुनियादी खराबी है।"
—स्त्रियां और उनकी समस्यायें, पृ० ७१

२. वही, पृ० ७०

३. वही, पृ० ७०-७१

रही है।"[1] निस्सन्देह हिन्दू वैवाहिक प्रथा आज इतनी भ्रष्ट और दूषित हो चुकी है कि साधारण सुधारों से अब उसका जीर्णोद्धार संभव नहीं रह गया है। किन्तु यह कहना संभवतः उचित नहीं होगा कि केवल दहेज की प्रथा ही वह कारण है जिसकी वजह से सात पुत्रों के बाद उत्पन्न होने वाली कन्या का भी सहर्ष स्वागत नहीं किया जाता। इसका मूल कारण वह सामन्ती समाज-व्यवस्था है, जिसमें स्त्री का समाज के एक उपयोगी (आर्थिक दृष्टि से भी) और आवश्यक सदस्य (इकाई) के रूप में कोई महत्त्व नहीं है। स्पष्ट है कि जब तक स्त्रियों के संबंध में वर्त्तमान सामन्ती दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन नहीं होता, तब तक कन्या के जन्म को इसी तरह अशुभ और अनिष्टकारी समझा जाता रहेगा।

वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में स्त्री की स्थिति पर विचार करते हुए प्रेमचन्द ने कई कहानियाँ लिखी हैं, यथा 'कुसुम' (मानसरोवर, भाग २), 'सोहाग का शव' (मानसरोवर, भाग ५), 'शांति' (मानसरोवर, भाग ७) ('नारी जीवन की कहानियाँ' संग्रह में यही कहानी 'अंतिम शांति' शीर्षक से संकलित है।), 'उन्माद' (मानसरोवर, भाग २), 'दो सखियाँ' (मानसरोवर, भाग ४) आदि। इन सभी कहानियों में प्रेमचन्द ने स्त्री-पुरुष के समानाधिकार के सिद्धान्त का समर्थन एवं प्रतिपादन किया है। 'कुसुम' में प्रेमचन्द ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है : **"अगर पुरुष स्त्री का मुहताज नहीं, तो स्त्री भी पुरुष की मुहताज क्यों हो ?"**[2] वर्त्तमान पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था में स्त्री को हर समय धर्म, त्याग, पति-सेवा, संतोष, संयम आदि का पाठ पढ़ाया जाता है; जिसका उद्देश्य स्त्री के आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता, स्वाधीनता आदि भावों को कुचलकर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व-विकास के मार्ग को अवरुद्ध करना है। प्रेमचन्द इस तथ्य से परिचित थे। इसीलिए 'कुसुम' में वे कहते हैं : **"स्त्रियों को धर्म और त्याग का पाठ पढ़ा-पढ़ाकर हमने उनके आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास दोनों ही का अन्त कर दिया है।"**[3] प्रेमचन्द इस बात को जानते और अनुभव करते थे कि सुखमय और स्वस्थ दाम्पत्य-जीवन की नींव स्त्री-पुरुष के अधिकार-साम्य पर ही रखी जा सकती है।[4]

'सोहाग का शव' और 'दो सखियाँ' कहानियों में इसी समस्या पर और अधिक विस्तार से विचार किया गया है। पत्रात्मक शैली में लिखित 'दो सखियाँ' कहानी को 'कहानी' (Short story) कहने की अपेक्षा लघु उपन्यास कहना अधिक युक्तियुक्त होगा। इसमें प्रेमचन्द ने क्रमशः प्राचीन और नवीन आदर्शों की भक्त दो सखियों के

---

१. मानसरोवर, भाग ३ पृ० ३८
२. वही, भाग २ पृ० १३
३. वही, भाग २ पृ० १३
४. वही, भाग २ पृ० १८

माध्यम से वैवाहिक प्रथा, नारी की स्वाधीनता, स्त्री और पुरुष के समानाधिकार आदि प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। प्रस्तुत कहानी से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द विवाह को एक सामाजिक समझौता (Civil contract) ही मानते थे, धार्मिक गठबंधन (Sacrament) नहीं। वैवाहिक प्रथा पर 'दो सखियों' के विनोद के विचार प्रेमचन्द के ही विचार हैं। विनोद इस प्रथा को वर्त्तमान काल के लिए उपयोगी नहीं मानता। वह कहता है: **"इस प्रथा का आविष्कार उस समय हुआ था, जब मनुष्य सभ्यता की प्रारंभिक दशा में था। तब से दुनिया बहुत आगे बढ़ी है। मगर विवाह-प्रथा में जौ-भर भी अन्तर नहीं पड़ा। यह प्रथा वर्तमान के लिए उपयोगी नहीं।"**[1] उसके अनुसार इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह एक शुद्ध सामाजिक प्रश्न को धार्मिक रूप दे देती है। इसका दूसरा दोष यह है कि वह व्यक्तियों की स्वाधीनता में बाधक है। वर्त्तमान व्यवस्था में स्त्री का एकमात्र कर्त्तव्य पुरुष की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी—वह सम्पत्ति जिस पर उसका कोई अधिकार नहीं है—उत्पन्न करना है।[2] इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक समझौता मानते हुए भी विवाह का आदर्श यही होना चाहिए कि उसकी पवित्रता और स्थिरता की जीवन-पर्यन्त रक्षा की जाय। वर्त्तमान वैवाहिक प्रथा के सुधार के नाम पर प्रेमचन्द मुक्त भोग या व्यभिचार को बढ़ावा नहीं देते थे।[3] 'मिस पद्मा' (मानसरोवर, भाग २) कहानी में प्रेमचन्द ने एक ऐसी आधुनिका का चित्रण किया है, जो विवाह को पराधीनता समझती है। मुक्त भोग को स्वाधीनता का पर्याय माननेवाली मिस पद्मा को एक ऐसा ही पुरुष मिल जाता है। अंत में जब वह पुरुष उसे धोखा देकर चला जाता है तो उसे विवाह की सार्थकता, उपयोगिता और आवश्यकता मालूम होती है।

---

१. मानसरोवर, भाग ४ पृ० २४०

२. "दूसरा यह कि यह व्यक्तियों की स्वाधीनता में बाधक है। यह स्त्री-व्रत और पातिव्रत का स्वांग रचकर हमारी आत्मा को संकुचित कर देता है। ××× इसने मिथ्या आदर्शों को हमारे सामने रख दिया और आज तक हम उन्हीं पुरानी, सड़ी हुई, लज्जाजनक, पाशविक लकीरों को पीटते जाते हैं। व्रत केवल एक निरर्थक बंधन का नाम है। इतना महत्त्वपूर्ण नाम देकर हमने उस कैद को धार्मिक रूप दे दिया है। पुरुष क्यों चाहता है कि स्त्री उसको अपना ईश्वर, अपना सर्वस्व समझे? केवल इसलिए कि वह उसका भरण-पोषण करता है? क्या स्त्री का कर्तव्य केवल पति की सम्पत्ति के लिए वारिस पैदा करना है? उस सम्पत्ति के लिए जिस पर, हिंदू नीतिशास्त्र के अनुसार, पति के देहान्त के बाद उसका कोई अधिकार नहीं रहता। समाज की यह सारी व्यवस्था, सारा संगठन सम्पत्ति-रक्षा के आधार पर हुआ है। इसने सम्पत्ति को प्रधान और व्यक्ति को गौण कर दिया है। ×××मैं इस वैवाहिक प्रथा को सारी बुराइयों का मूल समझता हूँ।"

—मानसरोवर, भाग ४ पृ० २४०-४१

३. मानसरोवर, भाग ४ पृ० २४१

'सोहाग का शव' की नायिका सुभद्रा के रूप में प्रेमचन्द ने एक साहसी, निर्भीक और विद्रोहिणी नारी की अवतारणा की है। पुरुष-प्रधान सामन्ती समाज-व्यवस्था में स्त्री घर की लक्ष्मी अर्थात् सम्पत्ति मानी जाती है; अतः उस पर मृत्यु-पर्यन्त—और मृत्यु के पश्चात् भी—एक ही व्यक्ति का, एक ही परिवार का एकाधिकार रहता है। भारतीय संस्कृति में स्त्री की पवित्रता पर निरन्तर इतना अधिक बल दिया गया है कि हमारे यहाँ यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि स्त्री एक पुरुष को छोड़कर किसी अन्य पुरुष के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करे। स्त्री की पवित्रता पर इतना अधिक बल दिए जाने के कारण ही इस संस्कृति में विवाह को एक सामाजिक समझौता—जो आवश्यकता पड़ने पर तोड़ा जा सके—न मानकर एक धार्मिक गठबंधन—जो किसी भी परिस्थिति और अवस्था में तोड़ा न जा सके—माना जाता है। प्रेमचन्द विवाह को धार्मिक बंधन नहीं मानते थे, किन्तु साथ ही स्त्री की पवित्रता का प्राचीन भारतीय आदर्श भी उन्हें अस्वीकार्य नहीं था। यही कारण है कि विवाह को सामाजिक समझौता मानने के पक्ष में होते हुए भी प्रेमचन्द तलाक का अधिकार दिए जाने के पक्ष में नहीं थे। प्रस्तुत कहानी में प्रेमचन्द ने यूरोप में तलाकों की बढ़ती हुई संख्या पर चिंता व्यक्त की है। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि विवाह-रूपी इस सामाजिक समझौते की स्थिरता और पवित्रता पर पुरुष की ओर से आघात हो ('सोहाग का शव' में यही होता है!) तो ऐसी स्थिति में स्त्री क्या करे? क्या वह पुरुष के इस आघात को चुपचाप सहन कर ले? क्या पुरुष को इस समझौते को निभाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता? और, यदि पुरुष समझौते को निभाने से इंकार कर दे तो क्या स्त्री जीवन भर उसके नाम को रोती रहे और घुल-घुलकर अपने प्राण दे दे? स्पष्ट है कि पश्चिम में तलाकों की बढ़ती हुई संख्या से आशंकित होते हुए भी प्रेमचन्द इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाए हैं।

यहाँ पर हम प्रेमचन्द की 'निर्वासन' (मानसरोवर, भाग ३) कहानी का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहते हैं। इस कहानी में प्रेमचन्द ने उस संस्कृति पर एक तीखा व्यंग्य किया है जो स्त्री की पवित्रता और पातिव्रत पर आवश्यकता से अधिक बल देती है, जो संस्कृति स्त्री पर पर-पुरुष की दृष्टि पड़ते ही अपवित्र और अशुचि की संज्ञा देकर उसे घर से, परिवार से और समाज से बहिष्कृत कर देती है। 'निर्वासन' प्रेमचन्द की कतिपय श्रेष्ठ यथार्थवादी कहानियों में से है। इस कहानी में हमें शुद्ध यथार्थवादी प्रेमचन्द के दर्शन होते हैं। कहानीकार ने अपनी तरफ से कुछ नहीं कहा है, केवल परिस्थितियों के चित्रण के माध्यम से वह वर्त्तमान संस्कृति के प्रति हमारे मन में तीव्र घृणा के भाव जागृत करने में समर्थ हो सका है।

प्रेमचन्द का स्त्री-संबंधी आदर्श जानने के लिए उनकी 'शांति' (मानसरोवर, भाग ७) का अध्ययन आवश्यक है। 'शांति' में पति की प्रेरणा से एक प्राचीना का आधुनिका के रूप में परिवर्तन और फिर उसके पुनर्परिवर्तन की गाथा कही गई है। नायिका

के दोनों रूपों के जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, वे वास्तव में दो भिन्न जीवनादर्शों—परंपरागत भारतीय और पश्चिमी आदर्शों—के प्रतीक हैं।[1] कहानीकार दिखाता है कि प्राचीना के रूप में नायिका जब कि दूसरों के लिए जीती थी, आधुनिका बन जाने पर वह केवल अपने लिए जीती है। अब उसके हृदय से त्याग और सेवा के भाव सर्वथा लुप्त हो जाते हैं।[2] अंत में पतिदेव की आँखें खुलती हैं और वे कहते हैं: **"मैं फिर तुम्हें वही पहले की सी सलज्ज, नीचा सिर करके चलने वाली, पूजा करने वाली, रामायण पढ़ने वाली, घर का काम-काज करने वाली, चरखा कातने वाली, ईश्वर से डरने वाली, पति-श्रद्धा से परिपूर्ण स्त्री देखना चाहता हूं। × × × मैं अब समझ गया कि उसी सादे पवित्र जीवन में वास्तविक सुख है।"**[3]

प्राचीन भारतीय सामन्ती संस्कृति ने यदि स्त्री के समस्त अधिकारों को छीनकर [उ]से एक व्यक्ति, एक परिवार की इच्छाओं का दास बना दिया था तो आधुनिक पश्चिमी [स]भ्यता ने स्त्री-स्वाधीनता तथा समानाधिकार के नाम पर स्त्री को बाजार में बिकाऊ [च]ीज (Commodity) मात्र बना दिया है। अपनी 'उन्माद' (मानसरोवर, भाग २) [क]हानी में प्रेमचन्द ने इसी स्थिति का चित्रण किया है। 'उन्माद' में वे दिखाते हैं कि [प]श्चिमी सभ्यता में स्त्री का केवल व्यावसायिक महत्त्व रह गया है।[4] पूंजीवादी समाज-

---

[1]. प्राचीना के रूप में :—

"जब मैं ससुराल आई, तो बिलकुल फूहड़ थी। × × × सिर उठाकर किसी से बातचीत न कर सकती थी। आँखें अपने आप झपक जाती थीं। × × × उपन्यास, नाटक आदि के पढ़ने में आनन्द न आता था। फुर्सत मिलने पर रामायण पढ़ती। उसमें मेरा मन बहुत लगता था। × × × मैं दिन-भर घर का कोई-न-कोई काम करती रहती। और कोई काम न रहता, तो चर्खे पर सूत कातती।"

—मानसरोवर, भाग ७ पृ० ८०

× × ×

आधुनिका के रूप में :—

"मैं अब नित्य नये शृंगार करती, नित्य नया रूप भरती केवल इसलिए कि क्लब में सबकी आँखों में चुभ जाऊँ! अब मुझे बाबूजी के सेवा-सत्कार से अधिक अपने बनाव-शृंगार की धुन रहती थी। × × × मेरी लज्जाशीलता की सीमाएँ विस्तृत हो गयीं। वह दृष्टिपात जो कभी मेरे शरीर के प्रत्येक रोएँ को खड़ा कर देता और वह हास्य-कटाक्ष, जो कभी मुझे विष खा लेने को प्रस्तुत कर देता, उनसे अब मुझे एक उन्मादपूर्ण हर्ष होता था।"

—वही, भाग ७ पृ० ८६

[2]. वही, भाग ७ पृ० ८८

[3]. वही, भाग ७ पृ० ९३

[4]. "मनहर के लिए इंगलैंड एक दूसरी ही दुनिया थी, जहाँ उन्नति के मुख्य साधनों में एक रूपवती पत्नी का होना भी था। अगर पत्नी रूपवती है, चपल है, चतुर है, वाणी-कुशल है, प्रगल्भ है तो समझ लो कि उसके पति को सोने की खान मिल गयी, अब वह उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। मनोयोग और तपस्या के बूते पर नहीं; पत्नी के प्रभाव और आकर्षण के बूते पर।

व्यवस्था ने सामन्तवादी, पितृ-सत्तावादी भावुकतापूर्ण पारिवारिक संबंधों का अंत करके उन्हें रुपये-आने-पाई के हृदयहीन और नग्न स्वार्थपूर्ण संबंधों में परिणत कर दिया है।[1] मार्क्स और एंगेल्स के शब्दों में : "पूंजीपति वर्ग ने पारिवारिक संबंधों के ऊपर से भावुकता का पर्दा उतार फेंका है और पारिवारिक संबंधों को केवल पैसे के संबंध में बदल दिया है।"[2] प्रेमचन्द ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के मुकाबले में जहाँ आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया है, वहाँ वस्तुतः उन्होंने आधुनिक पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का ही विरोध किया है। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते हुए प्रेमचन्द अनजाने ही प्राचीन भारतीय संस्कृति की पुनर्स्थापना का स्वप्न देखने लगे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के मुकाबले में प्राचीन सामन्ती समाज-व्यवस्था अधिक उदार और मानवीय थी, किन्तु स्पष्ट है कि उसकी पुनर्स्थापना (Revival) असंभव ही नहीं अनावश्यक भी है। प्रेमचन्द का आदर्शवाद इस बात में है कि वे पूंजीवाद का विरोध करते हुए उसके स्थान पर सामन्तवाद को पुनः स्थापित करने का स्वप्न देखते थे।

प्रेमचन्द की सामाजिक कहानियों पर विचार करते हुए उनकी उन कहानियों को भी नहीं छोड़ा जा सकता, जिनमें वेश्या-समस्या पर विचार किया गया है। इस संदर्भ में हम उनकी तीन कहानियों का उल्लेख करना चाहेंगे—'वेश्या' (मानसरोवर, भाग २), 'दो कब्रें' (मानसरोवर, भाग ४) तथा 'आगा-पीछा' (मानसरोवर, भाग ४)। पहली कहानी 'वेश्या' एकदम साधारण कहानी है, जिसमें कहानीकार ने वेश्या-समस्या जैसी महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक समस्या को एक रईसज़ादे (सिंगारसिंह) के सुधार की गौण तथा अमहत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत समस्या के परिपार्श्व में देखने का प्रयास किया है। स्वभावतः कहानी में वेश्या-समस्या गौण और रईसज़ादे को वेश्या (माधुरी) के चँगुल (?) से बचाने की समस्या प्रमुख हो गई है। माधुरी के अतिरिक्त कहानी के सभी पात्र निर्जीव पुतले मात्र हैं। सिंगारसिंह के नाम माधुरी का पत्र वर्त्तमान पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था पर एक तीखा व्यंग्य है।[3] इस पत्र में माधुरी ने पुरुषों पर यह आरोप लगाया

× × × जिसने किसी रमणी को प्राप्त कर लिया, उसकी मानो तकदीर खुल गयी। यदि कोई सुन्दरी तुम्हारी सहधर्मिणी नहीं है तो तुम्हारा सारा उद्योग, सारी कार्यपटुता निष्फल है।"

—मानसरोवर, भाग २ पृ० १२२

१. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र, पृ० ३७ (चौथा हिंदी संस्करण)

२. वही, पृ० ३८

३. "सरदार साहब ! मैं आज कुछ दिनों के लिए यहां से जा रही हूं, कब लौटूंगी, कुछ नहीं जानती। × × × जा इसलिए रही हूँ कि इस बेशर्मी, बेहयाई की जिन्दगी से मुझे घृणा हो रही है, और घृणा हो रही है उन लम्पटों से, जिनके कुत्सित विलास का मैं खिलौना थी और जिनमें तुम मुख्य हो। तुम महीनों से मुझपर सोने और रेशम की वर्षा कर रहे हो; मगर मैं तुमसे पूछती हूं उससे लाख गुने सोने और दस लाख गुने रेशम पर भी तुम अपनी बहन या स्त्री को इस रूप के बाजार में बैठने दोगे? × × × यह उन गीदड़ों और गिद्धों की मनोवृत्ति है जो

है कि वे स्त्रियों को न केवल वेश्या बनने पर विवश करते हैं, वरन् उन्हें मृत्यु-पर्यन्त वही घृणित और नारकीय जीवन बिताने पर भी मजबूर करते हैं। एक बार वेश्या हो जाने पर स्त्री को हमेशा के लिए 'नारीत्व के पवित्र मंदिर' से बहिष्कृत कर दिया जाता है। यही नहीं, उसकी संतान को भी पतित, कलंकित और अपवित्र समझा जाता है। इस प्रकार वेश्याओं की लड़कियों को अपनी बहू-बेटी बनाने से इनकार करके पुरुष वेश्या-प्रथा को हमेशा के लिए जीवित रखने का प्रयत्न करते हैं। 'दो कब्रें' और 'आगा-पीछा' कहानियों में प्रेमचन्द ने वेश्याओं की लड़कियों के पुनर्वास (Rehabilitation) की इसी समस्या को उठाया है। 'दो कब्रें' की सुलोचना और 'आगा-पीछा' की श्रद्धा वेश्या-पुत्रियाँ हैं, किन्तु उनकी शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषण सर्वथा भिन्न वातावरण तथा परिस्थितियों में होता है। वे सभी दृष्टियों से 'नारीत्व के पवित्र मंदिर' में प्रवेश पाने तथा समाज की सम्मानित सदस्य बनने की हकदार हैं, किन्तु वर्तमान समाज-व्यवस्था उन्हें फिर भी संदेह की दृष्टि से देखती है। प्रोफेसर डॉ० रामेन्द्र ('दो कब्रें') और भगतराम एम०ए० ('आगा-पीछा') जैसे उच्च शिक्षा-प्राप्त पुरुष भी अपने मन से इस संदेह को नहीं निकाल पाते। सुलोचना में काफी विद्रोहात्मकता है। वह अपने पति रामेन्द्र से स्त्री-पुरुष की समानता पर वाद-विवाद भी कर लेती है, किन्तु कुल मिलाकर वह एक भावुक लड़की है। यही कारण है कि वह अपनी समस्या का समाधान मृत्यु में खोजती है। रामेन्द्र के विपरीत सुलोचना के पिता कुंवर साहब एक उदार, स्वच्छ और निर्मल चरित्र हैं। वेश्या-समस्या पर उनके विचार प्रेमचन्द के ही विचार हैं। वे मानते हैं कि आदमी मजबूर होकर ही बुराई के रास्ते पर चलता है। वे कहते हैं: **"चोर इसलिए चोरी नहीं करता कि चोरी में उसे विशेष आनन्द आता है; बल्कि केवल इसलिए कि जरूरत उसे मजबूर करती है। × × × जिंदा रहने के लिए आदमी सब कुछ कर सकता है। जिंदा रहना जितना ही कठिन होगा, बुराइयाँ भी उसी मात्रा में बढ़ेंगी, जितना ही आसान होगा उतनी ही बुराइयाँ कम होंगी। हमारा यह पहला सिद्धान्त होना चाहिए कि जिंदा रहना हरेक के लिए सुलभ हो।"**[1]

'प्रेम-पचीसी' संग्रह में एक अत्यन्त ही मार्मिक एवं व्यंग्यपूर्ण लघु कथा 'ब्रह्म का

किसी लाश को देखकर चारों ओर से जमा हो जाते हैं, और उसे नोच-नोचकर खाते हैं। यह समझ रखो, नारी अपना बस रहते हुए कभी पैसों के लिए अपने को समर्पित नहीं करती। यदि वह ऐसा कर रही है, तो समझ लो कि उसके लिए और कोई आश्रय, और कोई आधार नहीं है, और पुरुष इतना निर्लज्ज है कि उसकी दुरवस्था से अपनी वासना तृप्त करता है और इसके साथ ही इतना निर्दय कि उसके माथे पर पतिता का कलंक लगाकर उसे उसी दुरवस्था में मरते देखना चाहता है। क्या वह नारी नहीं है? क्या नारीत्व के पवित्र मन्दिर में उसका स्थान नहीं है? लेकिन तुम उसे उस मन्दिर में घुसने नहीं देते।"

—मानसरोवर, भाग २ पृ० ५६-५७ (सातवाँ संस्करण, १९५७)

१. मानसरोवर, भाग ४ पृ० ४६

स्वाँग' है, जिसमें सामाजिक समानता, राष्ट्रीय ऐक्य और आर्थिक साम्य का स्वाँग भरने वाले हमारे राष्ट्रीय नेताओं की कथनी और करनी के विभेद की पोल खोली गई है। प्रेमचन्द अपने युग के राष्ट्रीय नेताओं की असलियत से अच्छी तरह परिचित थे। वे जानते थे कि ये नेता समानता की दुहाई अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने तथा शासकों और जनता को भुलावे में रखने के लिए ही देते हैं।[1] प्रस्तुत कहानी में प्रेमचन्द के व्यंग्य में एक नई प्रखरता और पैनापन दिखाई देता है।

यद्यपि 'प्रेम-प्रसून' (सन् १९२४) संग्रह का प्रकाशन 'प्रेम-पचीसी' (सन् १९२३) के प्रकाशन के एक वर्ष पश्चात् हुआ था; किन्तु उसकी रचनाओं में प्रेमचन्द की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना का वह रूप नहीं मिलता जो 'प्रेम-पचीसी' की कहानियों में दिखाई देता है। 'प्रेम-प्रसून' में प्रेमचन्द की कुछ अतिशय भावुकतापूर्ण कहानियाँ संकलित हैं। 'यही मेरी मातृभूमि है' एक ऐसी ही कहानी है। इस कहानी का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण (Onslaught) के कारण भारतीय संस्कृति नष्ट होती जा रही है और हिन्दुस्तान 'हिन्दुस्तान' न रह-कर 'यूरोप' या 'अमेरिका' बनता जा रहा है। साठ साल के बाद अमेरिका से स्वदेश लौटने वाला प्रवासी भारतीय यहाँ की दशा देखकर बरबस कह उठता है: "यह योरप है, अमरीका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं।"[2] हिन्दुस्तान लौटने पर जिन-जिन बातों को देखकर प्रवासी भारतीय पश्चात्ताप के आँसू बहाता है, उनमें से कोई भी ऐसी बात नहीं है जो पाठकों को यह विश्वास दिला सके कि हिन्दुस्तान 'हिन्दुस्तान' न रहकर 'यूरोप' या 'अमेरिका' हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् भारतीय संस्कृति में निश्चित परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ है, किन्तु इस परिवर्तन-परिवर्द्धन पर आँसू बहाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतिशय भावुकता-पूर्ण प्रलापों के कारण प्रस्तुत कहानी की समस्त प्रभावात्मकता नष्ट हो गई है। 'यही मेरी मातृभूमि है' यद्यपि 'प्रेम-प्रसून' (सन् १९२४) में संगृहीत है, किन्तु लगता है कि यह प्रेमचन्द की एकदम आरंभिक कहानियों में से है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना

---

१. "यह भेद सदा रहा है और रहेगा। मैं भी राष्ट्रीय ऐक्य का अनुरागी हूँ। समस्त शिक्षित-समुदाय राष्ट्रीयता पर जान देता है। किन्तु कोई स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता कि हम मजदूरों या सेवा-वृत्तिधारियों को समता का स्थान देंगे। हम उनमें शिक्षा का प्रचार करना चाहते हैं। उनको दीनावस्था से उठाना चाहते हैं। यह हवा संसार-भर में फैली हुई है, पर इसका मर्म क्या है यह दिल में सभी समझते हैं, चाहे कोई खोलकर न कहे। इसका अभि-प्राय यही है कि हमारा राजनैतिक महत्व बढ़े, हमारा प्रभुत्व उदय हो, हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव अधिक हो, हमें यह कहने का अधिकार हो जाय कि हमारी ध्वनि केवल मुट्ठी-भर शिक्षित-वर्ग ही की नहीं वरन् समस्त जाति की संयुक्त ध्वनि है, ...।"

—प्रेम-पचीसी, पृ० ४५-४६

२. प्रेम-प्रसून, पृ० ९३ (बनारस, १९५६)

आवश्यक है कि प्रेमचन्द के विभिन्न कहानी-संग्रहों में संकलित कहानियों को उसी काल की रचना नहीं माना जा सकता, जिस काल में वह संग्रह प्रकाशित हुआ था।

'प्रेम-प्रसून' में जहाँ 'यही मेरी मातृभूमि है' जैसी शुद्ध भावुकतापूर्ण कहानी है, वहाँ 'मृत्यु के पीछे' जैसी यथार्थोन्मुख कहानी भी है। 'मृत्यु के पीछे' एक ऐसे ईमानदार, सत्यनिष्ठ और न्यायपरायण पत्रकार की कहानी है, जो धन और श्रम के वर्त्तमान संघर्ष में श्रमजीवियों का साथ देता है।[1] यह कहानी वास्तव में स्वयं पत्रकार प्रेमचन्द के संघर्षमय जीवन की ही गाथा है। इस कहानी को पढ़कर उन कठिनाइयों और यन्त्रणाओं का स्मरण हो आता है, जो 'हंस' को जीवित रखने के लिए प्रेमचन्द ने झेली थीं। ईश्वरचन्द्र की मृत्यु पर प्रेमचन्द ने जो पंक्तियाँ लिखी हैं, उन्हें आज का आलोचक स्वयं प्रेमचन्द के संदर्भ में दोहरा सकता है : "उनका सारा जीवन सत्य के पोषण, न्याय की रक्षा और अन्याय के विरोध में कटा था। अपने सिद्धान्तों के पालन में उन्हें कितनी ही बार अधिकारियों की तीव्र दृष्टि का भाजन बनना पड़ा था, कितनी ही बार जनता का अविश्वास, यहाँ तक कि मित्रों की अवहेलना भी सहनी पड़ी थी; पर उन्होंने अपनी आत्मा का कभी खून नहीं किया। आत्मा के गौरव के सामने धन को कुछ न समझा।"[2]

'प्रेम-प्रसून' संग्रह में ही एक कहानी है 'लाग-डाँट', जिस पर महात्मा गांधी के असहयोग-आंदोलन का अत्यन्त गहरा प्रभाव है। कहानी-कला की दृष्टि से 'लाग-डाँट' को एक उच्च कोटि की रचना नहीं माना जा सकता। इसका महत्त्व असहयोग-आंदोलन के युग की विभिन्न हलचलों के विश्वसनीय चित्रण के कारण है, कला की दृष्टि से नहीं। इस कहानी में प्रेमचन्द बताते हैं कि स्वराज्य का अर्थ क्या है और उसकी प्राप्ति के उपाय क्या हैं ? प्रेमचन्द कहते हैं : "अपने घर का बना हुआ गाढ़ा पहनो, अदालतों को त्यागो, नशेबाजी छोड़ो, अपने लड़कों को धर्म-कर्म सिखाओ, मेल से रहो—बस, यही स्वराज्य है। जो लोग कहते हैं कि स्वराज्य के लिए खून की नदी बहेगी, वे पागल हैं—उनकी बातों पर ध्यान मत दो।"[3] गांधी के असहयोग-आंदोलन ने भारत की शत-सहस्र ग्रामीण जनता के राजनीतिक ज्ञान की ही वृद्धि नहीं की थी, बल्कि उनमें अन्याय और अत्याचार-

---

१. "देश में धन और श्रम का संग्राम छिड़ा हुआ था। ईश्वरचन्द्र की सदय प्रकृति ने उन्हें श्रम का सपक्षी बना दिया था। धनवादियों का खंडन और प्रतिवाद करते हुए उनके खून में गरमी आ जाती थी, शब्दों से चिनगारियाँ निकलने लगती थीं,......।"

—प्रेम-प्रसून, पृ० ८३

२. प्रेम-प्रसून, पृ० ८५

३. वही, पृ० १००

प्रतिकार की चेतना को भी विकसित किया था—यह इस कहानी से स्पष्ट हो जाता है।[१]

हम देख चुके हैं कि डॉ० राजेश्वर गुरु ने सन् १९२० से १९३०–३२ तक की प्रेमचन्द की कहानियों को विकास-युग की रचना माना है। इस युग को हम प्रेमचन्द की कहानियों का स्वर्ण-युग भी कह सकते हैं, क्योंकि इसी युग मे उनकी कतिपय श्रेष्ठ यथार्थोन्मुख कहानियों का प्रणयन हुआ था। प्रेमचन्द की राजनीतिक कहानियो का संग्रह 'समर-यात्रा' भी इसी काल मे प्रकाशित हुआ था। गांधीजी के असहयोग-आंदोलन तथा सविनय अवज्ञा-आंदोलन के युग की विभिन्न गतिविधियो का जितना सूक्ष्म और यथार्थ चित्रण इस संग्रह की कहानियों मे हुआ है, वह प्रेमचन्द के अन्य किसी कहानी-संग्रह में नही मिलता।

'समर-यात्रा' कहानी को एक सीमा तक इस संग्रह की प्रतिनिधि कहानी माना जा सकता है। आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी 'समर-यात्रा' को 'कहानी' न मानकर 'एक दिन की घटना-शृङ्खला' और 'समय की सीधी पगडडी पर घटनाओ की परेड' मात्र मानते हैं।[२] 'समर-यात्रा' संग्रह की अन्य कहानियो के सबध मे भी किसी हद तक यही बात कही जा सकती है। कहानी के परपराभुक्त तत्त्वो की दृष्टि से हो सकता है कि 'समर-यात्रा' कहानी को एक सफल कलाकृति न माना जाय, किन्तु यह स्पष्ट है कि केवल तत्त्वो के यान्त्रिक और रूढ़िग्रस्त आधार पर प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का सही मूल्यांकन नही किया जा सकता। कोई भी महान् एव युग-प्रवर्त्तक साहित्यकार परपरा से चले आ रहे साहित्य के मानदण्डो के आधार पर ही अपनी रचनाओ की सृष्टि नही करता। अपनी रचनाओ के द्वारा वह साहित्य के नए मान और नए तत्त्व भी स्थापित करता है। प्रेमचन्द की 'समर-यात्रा' एक ऐसी ही कहानी है। इसमे संदेह नही कि प्रस्तुत कहानी मे सामयिक राजनीतिक हलचलो का अत्यन्त प्रत्यक्ष चित्रण हुआ है, किन्तु केवल इसीलिए तो उसके 'कहानीत्व' से इनकार नही किया जा सकता। 'समर-यात्रा' कहानी की सबसे बड़ी उपलब्धि इस बात मे है कि उसमे प्रेमचन्द को तत्कालीन वातावरण के निर्माण मे अद्भुत सफ-

---

१. "चौधरी के उपदेश सुनने के लिए जनता टूटती थी, लोगों को खडे होने को जगह न मिलती। दिनों-दिन चौधरी का मान बढ़ने लगा। उनके यहा नित्य पंचायतों और राष्ट्रोन्नति की चर्चा रहती। जनता को इन बातों में बड़ा आनन्द और उत्साह होता। उसके राजनीतिक ज्ञान की वृद्धि होती। वह अपना गौरव और महत्व समझने लगी, उसे अपनी सत्ता का अनुभव होने लगा। निरंकुशता और अन्याय पर अब उसकी त्योरिया चढ़ने लगी। उसे स्वतंत्रता का स्वाद मिला। घर की रुई, घर का सूत, घर का कपडा, घर का भोजन, घर की अदालत, न पुलिस का भय, न अमलों की खुशामद, सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत करने लगी। कितनों ही ने नशेबाजी छोड़ दी,......।"

—प्रेम-प्रसून, पृ० १०३

२. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० १८९

लता मिली है। नोहरी का विलक्षण और प्रेरक चरित्र इस कहानी की दूसरी बड़ी विशेषता है। नोहरी के चरित्र में तत्कालीन भारत की विद्रोही आत्मा सजीव-साकार हो उठी है। राष्ट्रीय नेता के रूप में महात्मा गांधी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपने कार्यक्रमों एवं आंदोलनों के प्रति देश की आम जनता में एक अपूर्व उत्साह का भाव उत्पन्न करने में सफल हो सके थे। इस क्षेत्र में गांधीजी की सफलता और उनके पूर्ववर्ती नेताओं की असफलता का रहस्य भी यही है। 'समर-यात्रा' की नोहरी और कोदई पराधीन भारत की उस अशिक्षित,सामाजिक-धार्मिक अंधविश्वासों में जकड़ी तथा पारस्परिक फूट और वैमनस्य के शाप से ग्रसित ग्रामीण जनता के प्रतिनिधि हैं, जो शताब्दियों तक दमन और शोषण को चुपचाप सहने के बाद गांधी की प्रेरणा से विदेशी साम्राज्यवाद को चुनौती देने के लिए कटिबद्ध हो रही थी। नगरों की राजनीतिक हलचलों से दूर रहने वाली ग्रामीण जनता में भी अब धीरे-धीरे यह चेतना जागृत होने लगी थी कि उन्हें विदेशी साम्राज्य के जूए से मुक्ति पानी है। 'समर-यात्रा' की नोहरी कहती है: "अब तो उस जोर-जुलुम का नाश होगा—हम और तुम क्या अभी बूढ़े होने जोग थे ? हमें पेट की आग ने जलाया है। बोलो ईमान से, यहाँ इतने आदमी हैं, किसी ने इधर छः महीने से पेट-भर रोटी खाई है ? घी किसी को सूंघने को मिला है? कभी नींद-भर सोये हो? जिस खेत का लगान तीन रुपये देते थे, अब उसी के नौ-दस देते हो। क्या धरती सोना उगलेगी ? काम करते-करते छाती फट गयी। हमीं हैं कि इतना सहकर भी जीते हैं। दूसरा होता, तो या तो मार डालता, या मर जाता। धन्य हैं महात्मा और उनके चेले कि दीनों का दुःख समझते हैं, उनके उद्धार का जतन करते हैं ! और तो सभी हमें पीस कर हमारा रक्त निकालना जानते हैं।"[1] लाल पगड़ी के नाम से ही जिन गाँव वालों की रूह फ़ना होती थी, वे ही अब इतने निडर और निर्भय हो गए हैं कि एक मामूली बूढ़ी किसान-स्त्री भी साम्राज्य की संपूर्ण शक्ति के प्रतीक पुलिस दरोगा को ललकार कर कह सकती है: "......नोहरी पीछे से आकर बोली—क्या लाल पगड़ी बाँधकर तुम्हारी जीभ भी ऐंठ गई है ? कोदई क्या तुम्हारे गुलाम हैं कि कोदइया—कोदइया कर रहे हो। हमारा ही पैसा खाते हो और हमी को आँखें दिखाते हो ? तुम्हें लाज नहीं आती ?"[2] "बुढ़िया लाठी टेककर दरोगा की ओर घूरती हुई बोली—××× तुम, जो घूस के रुपये खाते हो, जुआ खेलाते हो, चोरियाँ करवाते हो, डाके डलवाते हो, भले आदमियों को फँसाकर मुट्ठियाँ गर्म करते हो और अपने देवताओं की जूतियों पर नाक रगड़ते हो, तुम इन्हें बदमाश कहते हो।"[3]

गांधीजी मानते थे कि विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध हमारी लड़ाई न्याय और सत्य

---

१. समर-यात्रा पृ० १३२–३३ (छठवाँ संस्करण, १९५८)

२. वही, पृ० १३५

३. वही, पृ० १३६

नहीं करना चाहती। लोगों में शिक्षा और जागृति फैलाओ, जिससे कानूनी भय के बगैर यह सुधार हो जाय।"[1] प्रेमचन्द की इस कहानी पर महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि केवल कानून के द्वारा या केवल शिक्षा और जागृति के द्वारा कोई भी सुधार नहीं किया जा सकता। कानून तथा शिक्षा और जागृति एक-दूसरे के पूरक हैं, अतः इनके सम्मिलित प्रयत्नों से ही समाज-सुधार का काम पूरा किया जा सकता है।

'समर-यात्रा' संग्रह की एक कहानी 'ठाकुर का कुआँ' में प्रेमचन्द ने अछूत-समस्या को उठाया है। 'ठाकुर का कुआँ' प्रेमचन्द की कुछ श्रेष्ठ यथार्थवादी कहानियों में से है। कहानीकार ने किसी आदर्श की स्थापना अथवा अछूतों की दशा सुधारने के लिए अपनी ओर से कोई सुझाव प्रस्तुत करने का प्रयत्न नही किया है। वह एक छोटी किन्तु मार्मिक घटना को संक्षेप में प्रस्तुत-भर कर देता है। घटना इस तरह प्रस्तुत की गई है कि कहानी का अंत होते-होते वर्त्तमान सामाजिक वैषम्य तथा अछूतों के प्रति सवर्णों का अन्याय पूरी तीव्रता के साथ उभरकर पाठकों के मानस-चक्षुओं के समक्ष सजीव हो उठता है।

अछूत-समस्या के विभिन्न पहलुओं को लेकर प्रेमचन्द ने कई कहानियाँ लिखी हैं, यथा 'दूध का दाम' (मानसरोवर, भाग २), 'सद्गति' (मानसरोवर, भाग ४), 'मंदिर' (मानसरोवर, भाग ५) आदि। प्रेमचन्द के अछूत चरित्रों में भी पर्याप्त विद्रोहात्मकता तथा सामाजिक अन्याय के प्रति तीव्र आक्रोश का भाव मिलता है। 'ठाकुर का कुआँ' की गंगी और 'मंदिर' की सुखिया की विद्रोहात्मकता सूचित करती है कि अब यह अन्याय-पूर्ण समाज-व्यवस्था—जिसमें बीमार जोखू को गंदा और बदबूदार पानी पीना पड़ता है, जिसमें सुखिया अपने मरणासन्न पुत्र के लिए मंदिर में जाकर प्रार्थना भी नहीं कर सकती—ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकती। गंगी जानती है कि गाँव में जितने भी बड़े आदमी हैं; सब-के-सब चोर, बेईमान, धोखेबाज, जुआरी, घी में तेल मिलाने वाले और दूसरे की स्त्रियों को बुरी निगाह से ताकने वाले हैं।[2] गंगी या सुखिया के विपरीत 'सद्गति' के दुखी चमार में अपनी वर्त्तमान अवस्था के प्रति असंतोष या विद्रोह का भाव बिल्कुल नहीं है। यह ठीक है कि स्वयं दुखी चमार में अपनी दशा के प्रति किसी प्रकार का असन्तोष नहीं है, किन्तु उसकी मृत्यु के द्वारा प्रेमचन्द अपने पाठकों के मन में वर्त्तमान समाज-व्यवस्था के प्रति एक तीव्र घृणा एवं आक्रोश का भाव उत्पन्न करने में सफल

१. समर-यात्रा, पृ० २९

२. "गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबन्दियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा—हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँच हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं! यहा तो जितने हैं एक-से-एक छटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फ़रेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें। × × × इन्हीं पंडितजी के घर में तो बारहों मास जूआ होता है। यही साहूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। × × × कभी गांव में आ जाती हूँ, तो रस-भरी आँखों से देखने लगते हैं।"

—समर-यात्रा, पृ० ६०–६१

हो सके हैं। 'सद्गति' को हम प्रेमचन्द की श्रेष्ठ यथार्थवादी कहानियों में रख सकते हैं।

प्रेमचन्द-साहित्य के अध्येता जानते हैं कि पंडे-पुजारी तथा ब्राह्मण वर्ग के हथ-कण्डों का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द की लेखनी में एक अजीब पैनापन, तीव्रता, सजीवता और व्यंग्यात्मकता—जिसमें यत्र-तत्र हास्य का पुट भी मिला रहता है—आ जाती है। प्रस्तुत कहानी के पंडितजी के चरित्र-चित्रण में भी यह बात देखी जा सकती है। 'सद्गति' के पंडित घासीराम का परिचय प्रेमचन्द इन शब्दों में देते हैं : "पंडित घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे। नींद खुलते ही ईशोपासना में लग जाते। मुंह-हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी। उसके बाद आध घण्टे तक चन्दन रगड़ते, फिर आइने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते। चन्दन की दो रेखाओं के बीच में लाल रोरी की बिन्दी होती थी। फिर छाती पर, बाहों पर चन्दन की गोल-गोल मुद्रिकाएँ बनाते। फिर ठाकुरजी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चन्दन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घंटी बजाते। दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भंग छानकर बाहर आते। तब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते! ईशोपासन का तत्काल फल मिल जाता। वही उनकी खेती थी।"[1] प्रेमचन्द की यह विशेषता उनकी अनेक कहानियों में लक्षित की जा सकती है, यथा 'मनुष्य का परम धर्म', 'गुरुमंत्र', 'सत्याग्रह' (मानसरोवर, भाग ३); 'निमन्त्रण' (मानसरोवर, भाग ५); 'सवा सेर गेहूँ' (मानसरोवर, भाग ४); 'मोटेराम की डायरी' (कफन) आदि।

कहानीकार प्रेमचन्द के यथार्थवाद का चरम विकास उनकी 'कफन' तथा 'पूस की रात' कहानियों में मिलता है। 'कफन' और 'पूस की रात' में प्रेमचन्द की कहानी-कला का भी चरम विकास दिखाई देता है। इन कहानियों की विशेषता यह है कि इनमें कहानीकार सामाजिक यथार्थ को किसी उपदेश या आदर्श के माध्यम से नहीं, वरन् विशुद्ध व्यंजना के माध्यम से प्रस्तुत करने में सफल हो सका है। वर्त्तमान समाज-व्यवस्था पर जितना चुभता हुआ व्यंग्य प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी में मिलता है, वह संभवतः उनके पूरे साहित्य में नहीं मिलेगा। इस कहानी के द्वारा प्रेमचन्द दिखाते हैं कि घीसू और माधव की अकर्मण्यता, बेईमानी, निठल्लेपन और हैवानियत की जिम्मेदारी पूरी समाज-व्यवस्था पर है; व्यक्तिगत रूप से घीसू और माधव पर नहीं। कहानी का स्वर विषादात्मक होते हुए भी उसका अंतिम प्रभाव विषादात्मक नहीं पड़ता।

'कफन' और 'पूस की रात' की महत्ता इस बात में है कि इन कहानियों में प्रेमचन्द ने सामाजिक यथार्थ के ऊपर किसी वादगत सिद्धान्त को प्रमुखता देने का प्रयास नहीं किया है। प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें किसी विशिष्ट वाद को कहानी का जामा पहनाने का अथवा सिद्धान्त को साहित्य के ऊपर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। कहना न होगा कि इस प्रकार की कहानियाँ प्रेमचन्द की सर्वाधिक असफल और

---

१. मानसरोवर, भाग ४ पृ० १६

कमजोर कहानियों में से हैं। इस प्रकार की कहानियों में 'यही मेरी मातृभूमि है', 'पशु से मनुष्य' आदि का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहाँ हम इस संबंध में 'डामुल का कैदी' (मानसरोवर, भाग २) का उल्लेख करना चाहेंगे। 'डामुल का कैदी' में प्रेमचन्द ने मजदूर-आंदोलन का गांधीवादी रूप प्रस्तुत किया है। कहानी का आरंभ यथार्थवादी स्तर पर होता है, किन्तु शीघ्र ही वह गांधीवादी हृदय-परिवर्तन और भगवद्भक्ति की भूलभुलैयां में खो जाती है।

कहानीकार प्रेमचन्द और गांधीवाद के प्रस्तुत अध्ययन के अंत में हम इस तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक समझते हैं कि कहानीकार की अपेक्षा उपन्यासकार प्रेमचन्द में गांधीवादी सिद्धान्तों की अधिक सशक्त और सविस्तार अभिव्यक्ति मिलती है। यही कारण है कि एक-दो अपवादों को छोड़कर कहानीकार प्रेमचन्द उपन्यासकार प्रेमचन्द की भाँति सूरदास, विनय, चक्रधर, अमरकांत या प्रेमशंकर जैसे गांधीवादी पात्रों की सृष्टि नहीं कर सका है।

○

परिशिष्ट—१

डॉ० रामविलास शर्मा का एक पत्र

मदीया कटरा
आगरा
१२—७—५६

प्रिय रामदीनजी,

आपका १०-७ का पत्र मिला। आपके पास समय थोड़ा है, विषय आपने व्यापक लिया है। प्रेमचन्द की कृतियों में प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रंगभूमि और गोदान पर विशेष ध्यान दें। गांधीवाद के बारे में पुस्तकें जानते ही होंगे। गांधीजी के विचार जानने के लिये उन्हीं की रचनाएँ पढ़ना सबसे अच्छा है।

कुछ मूल समस्याएँ—जिन पर आपको लिखना चाहिये—ये हैं—

१. सन् '२० से पहले अंग्रेजी राज के प्रति गांधीजी की नीति और उस संबंध में प्रेमचन्द के विचार।

२. सन् '२० के बाद गांधीजी के विचारों में परिवर्तन; प्रेमचन्द पर असहयोग आंदोलन का प्रभाव; प्रेमाश्रम में असहयोग की आलोचना।

३. किसान-जमींदार संघर्ष। गांधीजी की निर्धारित सीमाएँ—प्रेमचन्द द्वारा उनका अतिक्रमण। यह किसान-समस्या ही प्रेमचन्द के साहित्य की धुरी है। उसी पर ध्यान केन्द्रित करके गांधीवाद का प्रभाव परखना चाहिये।

४. विधवा-विवाह, अछूत-आंदोलन, हिन्दू-मुस्लिम एकता, जाति-प्रथा आदि के बारे में गांधीजी और प्रेमचन्द के विचारों में साम्य और वैषम्य।

५. प्रेमचन्द द्वारा धर्म की आलोचना।

सूरदास उत्तर प्रदेश के गरीब किसानों का प्रतिनिधि है। जब वह अपनी जमीन के लिये लड़ता है, तब वह सभी किसानों का प्रतिनिधित्व करता है। रूस और चीन की क्रांतियों में भी किसान भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के लिये लड़े थे। इससे उन क्रांतियों का जनवादी महत्त्व कम नहीं होता।

प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन उनके पात्रों और घटना-क्रम के चित्रण में देखना चाहिये। अवश्य ही प्रेमचन्द के लिये स्वाधीनता-संग्राम खेल न था—देश के जीवन-मरण का प्रश्न था। सामाजिक विकास में विश्वास करने वाले के लिये रंगभूमि कर्मभूमि भी

है। 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' से आपको कोई सहायता न मिलेगी। बंबई से प्रकाशित Indian Literature के एक अंक में मेरा निबंध Premchand and Gandhism है, मिले तो देख लें।

आपका
रामविलास शर्मा

परिशिष्ट–२

प्रेमचन्द-साहित्य

वरदान	(सरस्वती प्रेस, चतुर्थ संस्करण, १९५५)
प्रतिज्ञा	(हंस प्रकाशन, संस्करण नहीं दिया हुआ)
सेवासदन	(सरस्वती प्रेस, संस्करण नहीं दिया हुआ)
प्रेमाश्रम	(सरस्वती प्रेस, संस्करण नहीं दिया हुआ)
रंगभूमि, दो भागों में	(गंगा ग्रन्थागार, बारहवाँ संस्करण, १९५५)
कायाकल्प	(सरस्वती प्रेस, नवाँ संस्करण, १९५३)
गबन	(हंस प्रकाशन, संस्करण नहीं दिया हुआ)
निर्मला	(सरस्वती प्रेस, ग्यारहवाँ संस्करण, १९५५)
कर्मभूमि	(हंस प्रकाशन, संस्करण नहीं दिया हुआ)
गोदान	(सरस्वती प्रेस, पन्द्रहवाँ संस्करण, १९५८)
मंगलसूत्र	(हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण)
मानसरोवर, भाग १	(हंस प्रकाशन, नवाँ संस्करण)
मानसरोवर, भाग २	(सरस्वती प्रेस, सातवाँ संस्करण, १९५७)
मानसरोवर, भाग ३	(हंस प्रकाशन, छठा संस्करण, १९५६)
मानसरोवर, भाग ४	(हंस प्रकाशन, आठवाँ संस्करण, १९५८)
मानसरोवर, भाग ५	(हंस प्रकाशन, संस्करण नहीं दिया हुआ)
मानसरोवर, भाग ६	(हंस प्रकाशन, संस्करण नहीं दिया हुआ)
मानसरोवर, भाग ७	(हंस प्रकाशन, संस्करण नहीं दिया हुआ)
मानसरोवर, भाग ८	(हंस प्रकाशन, संस्करण नहीं दिया हुआ)
सप्त सरोज	(सरस्वती प्रेस, संस्करण नहीं दिया हुआ)
नवनिधि	(सरस्वती प्रेस, १९६०)
प्रेम-पूर्णिमा	(हिंदी पुस्तक एजेन्सी, दसवाँ संस्करण, संवत् २०११)
प्रेम-पचीसी	(सरस्वती प्रेस, १९५८)
प्रेम-प्रसून	(सरस्वती प्रेस, १९५६)
प्रेम-द्वादशी	(सरस्वती प्रेस, संस्करण नहीं दिया हुआ)
प्रेम-तीर्थ	(सरस्वती प्रेस, आठवाँ संस्करण, १९५८)

४६. हिन्दी के सात युगान्तरकारी उपन्यास : रामप्रकाश कपूर (१९५८)
५०. हिन्दी साहित्य : कुछ विचार : डॉ० प्रेमनारायण टंडन (प्रथम संस्करण, १९५७)
५१. हिन्दी कलाकार : डॉ० इन्द्रनाथ मदान (तीसरा संस्करण, १९४६)
५२. लोक-दृष्टि और हिन्दी साहित्य : चन्द्रबलीसिंह (प्रथम संस्करण, १९५६)
५३. साहित्य-समीक्षा : कालिदास कपूर (१९२९)
५४. साहित्य-चिन्ता : डॉ० देवराज उपाध्याय (प्रथम संस्करण, १९५०)
५५. हिन्दी का सामयिक साहित्य : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
५६. साहित्य की समस्याएँ : शिवदानसिंह चौहान (प्रथम संस्करण, १९५९)
५७. युग और साहित्य : शांतिप्रिय द्विवेदी
५८. साकल्य : शांतिप्रिय द्विवेदी (प्रथम संस्करण, १९५५)
५९. साहित्यिका : हंसकुमार तिवारी (दूसरा संस्करण)
६०. हिन्दी साहित्य में विविध वाद : डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल (प्रथम संस्करण, २०१० वि०)
६१. त्रिशंकु : स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' (१९४५)
६२. प्रगतिवाद : शिवदानसिंह चौहान (प्रथम संस्करण, १९४६)
६३. दर्शन साहित्य और आलोचना : बेलिंस्की, हर्जन, चर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव अनु० नरोत्तम नागर (१९५८)
६४. मार्क्सवाद और साहित्य : महेन्द्रचन्द्र राय (प्रथम संस्करण, १९५७)
६५. चिंतन और साहित्य : देवेन्द्र इस्सर (१९५८)
६६. मंथन : जैनेन्द्रकुमार (प्रथम संस्करण, १९५३)
६७. पूर्वोदय : जैनेन्द्रकुमार (प्रथम संस्करण, १९५०)
६८. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : डॉ० रामविलास शर्मा (१९५३)
६९. राष्ट्रीयता और समाजवाद : आचार्य नरेन्द्रदेव (प्रथमावृत्ति, २००६ वि०)
७०. कला क्या है : तालस्ताय; रूपान्तरकार इन्दुकान्त शुक्ल (प्रथम जन-संस्करण, १९५५)
७१. साहित्य और जीवन : बनारसीदास चतुर्वेदी (दूसरी बार, १९५९)
७२. मानव मूल्य और साहित्य : धर्मवीर भारती (प्रथम संस्करण, १९६०)
७३. हंस : साहित्य संकलन १ : सं०-बालकृष्ण राव, अमृतराय (१९५७)
७४. गांधीवाद की शव-परीक्षा : यशपाल (१९५२)
७५. रामराज्य की कथा : यशपाल (१९५६)
७६. मार्क्सवाद : यशपाल (१९५४)
७७. भारत संबंधी लेख : कार्ल मार्क्स, अनु० ओमप्रकाश संगल (प्रथम संस्करण, १९५४)

२३. प्रेमचन्द : घर में : शिवरानी देवी (१९५६)
२४. हिन्दी उपन्यास : शिवनारायण श्रीवास्तव (सं० २०१६)
२५. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : त्रिभुवनसिंह (द्वितीय संस्करण, सं० २०१४)
२६. हिन्दी उपन्यास में वर्ग-भावना (प्रेमचन्द-युग)
: प्रतापनारायण टंडन (प्रथम संस्करण, १९५६)
२७. आधुनिक कथा-साहित्य तथा मनोविज्ञान
: डॉ० देवराज उपाध्याय (प्रथम संस्करण, १९५६)
२८. हिन्दी उपन्यास-साहित्य : ब्रजरत्नदास (प्रथम संस्करण, सं० २०१३)
२९. हिन्दी कथा-साहित्य : पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (प्रथम संस्करण, १९५४)
३०. हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास : डॉ० प्रतापनारायण टंडन
(प्रथम संस्करण, १९५९)
३१. हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल
(प्रथम संस्करण, १९५३)
३२. हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक इतिहास : डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा (१९५८)
३३. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : नन्ददुलारे वाजपेयी (इलाहाबाद, १९५८)
३४. नया साहित्य : नये प्रश्न : नन्ददुलारे वाजपेयी (विद्यामन्दिर, वाराणसी)
३५. समाज और साहित्य : रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (संस्करण नहीं दिया हुआ)
३६. नयी समीक्षा : अमृतराय (प्रथम संस्करण, १९५०)
३७. प्रगतिवाद की रूपरेखा : मन्मथनाथ गुप्त (दिल्ली, १९५२)
३८. साहित्य कला-समीक्षा : मन्मथनाथ गुप्त (दिल्ली, १९५४)
३९. शिलीमुखी : पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', सं०-प्रो० विजयेन्द्र स्नातक
(प्रथम संस्करण, १९५१)
४०. विचार और विवेचन : डॉ० नगेन्द्र (दिल्ली, १९५३)
४१. विचार और अनुभूति : डॉ० नगेन्द्र (नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
संस्करण नहीं दिया हुआ)
४२. विचार और विश्लेपण : डॉ० नगेन्द्र (दिल्ली १९५५)
४३. सियारामशरण गुप्त : सं०-डॉ० नगेन्द्र (प्रथम संस्करण, १९५०)
४४. विवेचना : इलाचन्द्र जोशी (द्वितीय संस्करण, सं० २००७)
४५. विश्लेपण : इलाचन्द्र जोशी (प्रथम संस्करण, १९५४)
४६. आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि : प्रकाशचन्द्र गुप्त
(संस्करण नहीं दिया हुआ)
४७. नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका : प्रकाशचन्द्र गुप्त (चतुर्थ संस्करण, १९५३)
४८. साहित्य-धारा : प्रकाशचन्द्र गुप्त (प्रथम संस्करण, १९५६)

४६. हिन्दी के सात युगान्तरकारी उपन्यास : रामप्रकाश कपूर (१६५८)
५०. हिन्दी साहित्य : कुछ विचार : डॉ० प्रेमनारायण टंडन (प्रथम संस्करण, १६५७)
५१. हिन्दी कलाकार : डॉ० इन्द्रनाथ मदान (तीसरा संस्करण, १६४६)
५२. लोक-दृष्टि और हिन्दी साहित्य : चन्द्रबलीसिंह (प्रथम संस्करण, १६५६)
५३. साहित्य-समीक्षा : कालिदास कपूर (१६२६)
५४. साहित्य-चिन्ता : डॉ० देवराज उपाध्याय (प्रथम संस्करण, १६५०)
५५. हिन्दी का सामयिक साहित्य : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
५६. साहित्य की समस्याएँ : शिवदानसिंह चौहान (प्रथम संस्करण, १६५६)
५७. युग और साहित्य : शांतिप्रिय द्विवेदी
५८. साकल्य : शांतिप्रिय द्विवेदी (प्रथम संस्करण, १६५५)
५६. साहित्यिका : हंसकुमार तिवारी (दूसरा संस्करण)
६०. हिन्दी साहित्य में विविध वाद : डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल (प्रथम संस्करण, २०१० वि०)
६१. त्रिशंकु : स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' (१६४५)
६२. प्रगतिवाद : शिवदानसिंह चौहान (प्रथम संस्करण, १६४६)
६३. दर्शन साहित्य और आलोचना : वेलिंस्की, हर्जन, चर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव अनु० नरोत्तम नागर (१६५८)
६४. मार्क्सवाद और साहित्य : महेन्द्रचन्द्र राय (प्रथम संस्करण, १६५७)
६५. चिंतन और साहित्य : देवेन्द्र इस्सर (१६५८)
६६. मंथन : जैनेन्द्रकुमार (प्रथम संस्करण, १६५३)
६७. पूर्वोदय : जैनेन्द्रकुमार (प्रथम संस्करण, १६५०)
६८. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : डॉ० रामविलास शर्मा (१६५३)
६६. राष्ट्रीयता और समाजवाद : आचार्य नरेन्द्रदेव (प्रथमावृत्ति, २००६ वि०)
७०. कला क्या है : ताल्स्ताय; रूपान्तरकार इन्दुकान्त शुक्ल (प्रथम जन-संस्करण, १६५५)
७१. साहित्य और जीवन : बनारसीदास चतुर्वेदी (दूसरी बार, १६५६)
७२. मानव मूल्य और साहित्य : धर्मवीर भारती (प्रथम संस्करण, १६६०)
७३. हंस : साहित्य संकलन १ : सं०-बालकृष्ण राव, अमृतराय (१६५७)
७४. गांधीवाद की शव-परीक्षा : यशपाल (१६५२)
७५. रामराज्य की कथा : यशपाल (१६५६)
७६. मार्क्सवाद : यशपाल (१६५४)
७७. भारत संबंधी लेख : कार्ल मार्क्स, अनु० ओमप्रकाश संगल (प्रथम संस्करण, १६५४)

3. Illusion and Reality—A Study of the Sources of Poetry : Christopher Caudwell (Delhi, 1956)
4. Studies in a Dying Culture : Christopher Caudwell (London, 1957)
5. Further Studies in a Dying Culture : Christopher Caudwell (London, 1950)
6. The Novel and The People : Ralph Fox (Moscow, 1956)
7. Literature and Reality : Howard Fast (Delhi, 1955)
8. Literature and Marxism—A Controversy by Soviet Critics : Edited by Angel Flores (Allahabad, 1945)
9. Literature and Art : Karl Marx and Frederick Engeles (Bombay, 1956)
10. Culture in a Changing World : A Marxist Approach : V. J. Jerome (New York, 1947)
11. Literature and Life—A Selection from the Writings of Maxim Gorki : Translated by Edith Bone (London, 1946)
12. On Literature : Maxim Gorky (Moscow)
13. Articles and Pamphlets : Maxim Gorky (Moscow, 1951)
14. Revolutionary Art—A Symposium (Progressive Forum, Culcutta)
15. Unaddressed Letters—Art and Social Life : G. Plekhanov (Moscow, 1957)
16. Talks at the Yenan Forum on Art and Literature : Mao Tse-Tung (Peking, 1956)
17. Marxism and Poetry : George Thomson (New Delhi, 1954)
18. Do Ends Justify Means ? : Howard Selsam (New Delhi, 1957)
19. Sarvodaya and Communism : B. T. Ranadive (New Delhi, 1958)
20. Class Struggle : J. B. Kripalani (1958)
21. Sarvodaya : Its Principles and Programme : M. K. Gandhi (Ahmedabad, 1954)
22. Gandhi and Marx : K. G. Mashruwala (Ahmedabad, 1954)
23. Gandhian Ethics : Benoy Gopal Ray (Ahmedabad, 1950)
24. Gandhian Techniques in the Modern World : Pyarelal (Ahmedabad, 1953)
25. Tolstoy and Gandhi : Dr. Kalidas Nag (Patna, 1950)
26. Gandhism Will Survive : Y. G. Krishnamurti (Patna, 1949)

४७. [illegible]
४८. साहित्य-धारा : प्रकाशचन्द्र गुप्त (प्रथम संस्करण, १६५६)

27. Which Way Lies Hope ? : Richard B. Gregg (Ahmedabad, 1952)
28. Non-Violence in Politics : V. V. Ramana Murthi (Delhi, 1958)
29. The Way of Gandhi and Nehru : S. Abid Husain (Bombay, 1959)
30. The Mahatma and the Ism : E. M. S. Namboodiripad (New Delhi, 1958)
31. The Gandhian Way of Life : J. C. Kumarappa (Wardha, 1952)
32. An Autobiography : Jawaharlal Nehru (London, 1953)
33. Gandhian Technique and Tradition in Industrial Relations : R. N. Bose.
34. Selections from Gandhi : Nirmal Kumar Bose (Ahmedabad, 1948)
35. Constructive Programme Its Meaning and Place : M. K. Gandhi (Ahmedabad, 1948)
36. Constructive Programme—Some Suggestions : Rajendra Prasad (Ahmedabad, 1958)
37. Towards Non-Violent Socialism : M. K. Gandhi (Ahmedabad, 1951)
38. Hind Swaraj or Indian Home Rule : M. K. Gandhi (Ahmedabad, 1946)
39. Gandhiji : A Study : Hiren Mukerjee (Calcutta, 1958)
40. India Today : R. Palme Dutt (Bom , 1949)
41. A Century of Social Reform in India : S. Natarajan (Bom., 1959)
42. The Arya Samaj : Lajpat Rai (Lah., 1932)
43. The Great Short Stories of Guy de Maupassant (Bombay, 1951)
44. The Structure of the Novel : Edwin Muir (Lon., 1957)
45. Social Background of Indian Nationalism; A. R. Desai (Bom., 1954)
46. Ends and Means : Aldous Huxley (Lon., 1957)
47. Women and Social Injustice : M. K. Gandhi (Ahmedabad, 1954)
48. The Life of Mahatma Gandhi : L. Fischer (Lon., 1951)
49. Marxist Glossary : L. Harry Gould (Sydney, 1960)
50. The Depressed Classes : Their Economic and Social Condition : Mohinder Singh (Bom., Ist edition, 1947)

51. Mahatma Gandhi : Edited by S. Radhakrishnan (London, Second enlarged edition, 1949)
52. The Gandhi Reader : A Source Book of His Life and Writings : Edited by Homer A. Jack (Lon., 1958)
53. Gandhi as a Political Thinker : Bishan Sarup Sharma (Allahabad, 1956)
54. Social Philosophy of Mahatma Gandhi : Mahadeva Prasad (Gorakhpur, 1958)
55. Gandhi and Free India : A Socio-Economic Study : Dr. T. K. N. Unnithan (Netherlands, 1956)
56. Gandhian Outlook and Techniques (Ministry of Education, Govt. of India, 1953)
57. Mahatma Gandhiji's Ideas—Including Selections from His Writings : C. F. Andrews (Lon., 1949)
58. Art and Society : Herbert Read (Lon., 1937)
59. Encyclopaedia Britannica, Vol. 22
60. The Oxford English Dictionary, Vol. XI
61. Comprehensive English-Hindi Dictionary : Dr. Raghuvira
62. A Practical Sanskrit Dictionary : Arthur Anthony Macdanold
63. The New Century Dictionary

पत्र-पत्रिकाएँ

हंस
साहित्य-संदेश
आलोचना
सरस्वती
विशाल भारत

Harijan
Young India
Indian Literature (Second issue, 1952)
Thought (26-1-57)
Gandhi Marg